

**"JHARKHAND PAR AADHARIT HINDI UPANYASON MEIN
ADIVASI JEEVAN SANGHARSH"**

A Thesis submitted to the University of Hyderabad in partial fulfillment
of the requirement for the award

of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI

submitted by

SUNIL KERKETTA



**DEPARTMENT OF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD-500046
TELANGANA, INDIA**

JUNE, 2016

DECLARATION

I, SUNIL KERKETTA, hereby declare that this thesis entitled **"JHARKHAND PAR AADHARIT HINDI UPANYASON MEIN AADIVASI JEEVAN SANGHARSH"** (झारखण्ड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष) submitted by me under the guidance and supervision of **Dr. M. Shyam Rao** is a bonafide research work. Which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in any University or Institution for the award of degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET

Date :

Name : **SUNIL KERKETTA**

(Signature of the Student)

Regd. No. 10HHPH11

Signature of Supervisor



CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**JHARKHAND PAR AADHARIT HINDI UPANYASON MEIN ADIVASI JEEVAN SANGHARSH**" (झारखण्ड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष) submitted by SUNIL KERKETTA Bearing Reg. No. 10HHPH11 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Head of the Department

Signature of the Supervisor

Dean of the School of Humanities

अनुक्रमणिका

	पृ.सं.
भूमिका	i-v
प्रथम अध्याय : झारखंड : समाज, संस्कृति और इतिहास	1-44
1.1 झारखंड शब्द का अर्थ विस्तार और विविध आयाम	
1.1.1 झारखंड शब्द का आर्थिक संदर्भ	
1.1.2 झारखंड शब्द का सामाजिक संदर्भ	
1.1.3 झारखंड शब्द का ऐतिहासिक संदर्भ	
1.1.4 झारखंड शब्द का सांस्कृतिक संदर्भ	
1.2 झारखंड की समाज संरचना	
1.2.1 आदिवासी शब्द का अर्थ, परिभाषा	
1.2.2 झारखंड में अनुसूचित जनजातियों की वर्तमान सूची	
1.2.3 प्रमुख आदिवासी : इतिहास और वर्तमान	
1.2.3.1 संताल	
1.2.3.2 उराँव	
1.2.3.3 मुण्डा	
1.2.3.4 हो	
1.2.3.5 खड़िया	
1.3 आदिम आदिवासी : संक्षिप्त परिचय	
1.3.1 बिरजिया	
1.3.2 कोरवा	
1.3.3 माल महाड़िया	
1.3.4 सौरिया पहाड़िया	

1.3.5 बिरहोर

1.3.6 सावर

1.3.7 परहिया

1.3.8 असुर

1.4 अन्य आदिवासी : संक्षिप्त परिचय

1.4.1 बैगा

1.4.2 बथुडी

1.4.3 बेदिया

1.4.4 भूमिज

1.4.5 बिड़िया

1.4.6 गोंड

1.4.7 चैरो

1.4.8 चीक-बड़ईक

1.4.9 गोड़ाइत

1.4.10 करमाली

1.4.11 खरवार

1.4.12 खोंड

1.4.13 किसान

1.4.14 कोरा

1.4.15 लोहरा

1.4.16 महली

1.4.17 बंजारा

1.4.18 कंवर

1.4.19 कोल

1.5 सदान

1.5.1 गैर-आदिवासी

द्वितीय अध्याय : झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों की अंतर्वस्तु एवं समस्याएँ : यथार्थ

बनाम आदर्श का द्वंद्व

45-102

2.1 झारखंड के हिन्दी उपन्यासों की प्रगति-यात्रा

2.1.1 उपन्यासों की विषय-वस्तु और समस्याएँ

2.2 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' - महुआ माजी

2.2.1 'हो' समुदाय में गोनोंग परंपरा की समस्या

2.2.2 मिट्टी, जल और वायु-प्रदूषण

2.2.3 डायन प्रथा

2.2.4 माता-पिता और भावी संतान पर विकिरण का प्रभाव

2.2.5 विस्थापन

2.2.6 विकिरण

2.2.7 मनुष्य की जनन शक्ति पर विकिरण का प्रभाव

2.3 'ग्लोबल गाँव के देवता' - रणेन्द्र

2.3.1 निर्धनता

2.3.2 आया काम के नाम पर दलाली

3.3.3 असुरों का स्वास्थ्य

2.3.4 नेतरहाट आवासीय विद्यालय के पीछे का सच

2.3.5 असुरों की जमीन की लूट

2.3.6 मीडिया और असुर आदिवासी

2.3.7 असुर अस्तित्व का संकट

2.4 'लौटते हुए' - वाल्टर भेंगरा 'तरूण'

2.4.1 मालिक-मालकिन की नजर में आया

2.4.2 हवस की शिकार

2.4.3 गर्भपात का सेहत पर प्रभाव

2.4.4 दूसरी बार हवस की शिकार सलोमी

2.4.5 आदिवासी लड़कियों के दिल्ली (महानगर) पलायन के कारण

2.5 'समर शेष है' - विनोद कुमार

2.5.1 बेगारी और वेश्यावृत्ति की समस्या

2.5.2 ईंट भट्ठा में मजदूरों का शोषण

2.5.3 हवस की शिकार मजीत

2.5.4 रामेश्वरी का यौन-शोषण

2.6 'पाँव तले की दूब' - संजीव

2.6.1 विस्थापन की समस्या

2.6.2 धनी राज्य के गरीब आदिवासी

2.6.3 वनों की अवैध कटाई

2.6.4 प्रदूषण के कारक और घातक प्रभाव

2.6.5 आंदोलन का बिखराव, उसकी प्रासंगिकता

2.7 'रेड जोन' - विनोद कुमार

2.7.1 नक्सलवाद की समस्या

2.7.2 मानवाधिकार का हनन

2.8 सामाजिक यथार्थ और प्रस्तुतीकरण

2.8.1 सामंजस्य संदर्भ - वर्णन

2.8.2 ईसाई मिशनरी के प्रति पूर्वाग्रह

- 2.8.3 प्रतिबद्धता : मुख्य समाचार
- 2.8.4 स्त्री पात्रों का अश्लील चित्रण
- 2.8.5 प्रवृत्ति विरोधी वर्णन
- 2.9 कल्पना, आदर्श, प्रेम और यथार्थ का निषेध
 - 2.9.1 स्त्री - आदर्श
 - 2.9.2 पुरुष - आदर्श
 - 2.9.3 प्रेम
 - 2.9.4 अंतर्जातीय प्रेम
 - 2.9.5 आदिवासी विजातीय प्रेम
 - 2.9.6 निःस्वार्थ प्रेम
 - 2.9.7 आदर्श प्रेम
 - 2.9.8 मिथकीय प्रेम

तृतीय अध्याय : झारखंड के विभिन्न आंदोलनों का चित्रण

103-154

- 3.1 झारखंड आंदोलन के पुरखा अगुवा व जीवित महानुभव
- 3.2 झारखंड मुक्ति आंदोलन 'समर शेष है' के संदर्भ में
 - 3.2.1 पहाड़िया आंदोलन
 - 3.2.2 संताल आंदोलन (हूल)
 - 3.2.2.1 संताल आंदोलन का स्वरूप व क्षेत्र
- 3.3 बिरसा मुण्डा का 'उलगुलान' (आंदोलन)
 - 3.3.1 गया मुण्डा
- 3.4 कोल विद्रोह
- 3.5 अहिंसावादी आदिवासी आंदोलन
- 3.6 तेलंगा खड़िया

3.7 सामाजिक यथार्थ और कल्पना का समावेश

3.7.1 काल्पनिक और आदिवासी विरोधी संदर्भ

3.8 सन् 1970 ई. से अब तक के दस महत्वपूर्ण जनांदोलन

3.8.1 कोयलकारो जल विद्युत परियोजना

3.8.2 नेतरहाट पायलट प्रोजेक्ट फील्ड फायरिंग रेंज

3.8.3 ओरंगा जलाशय परियोजना

3.8.4 चिरोकुकुद बॉक्साइट माइन्स

3.8.5 उत्तरी कोयल जलाशय परियोजना

3.8.6 काठी कुंड थर्मल पावर प्रोजेक्ट

3.8.7 इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट

3.8.8 पोटका इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट

3.8.9 नगड़ी आंदोलन

3.8.10 पचुवाड़ा कोयला परियोजना

चतुर्थ अध्याय : झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष 155-262

4.1 आर्थिक जीवन-संघर्ष

4.1.1 अर्द्ध-कृषि

4.1.2 आदिवासी और वन अधिनियम

4.2 ऋणग्रस्तता

4.2.1 साहूकार

4.2.2 ठेकेदार

4.2.3 बनिया

4.2.4 जमींदार और बंधुवा मजदूरी

4.2.5 संस्थागत ऋण

4.2.6 आदिवासी क्षेत्रों में विपणन संबंधी-संघर्ष

4.3 झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक संदर्भ

4.3.1 पंचायत

4.3.2 सामूहिकता

4.3.3 युवागृह

4.3.4 विवाह

4.3.4.1 परिभाषा

4.3.4.1.1 विवाह के प्रकार या स्वरूप

4.3.4.1.2 एक-विवाह

4.3.4.1.3 क्रय-विवाह

4.3.4.1.4 इटूट बापला (अपहरण विवाह)

4.3.4.1.5 पलायन विवाह

4.3.4.1.6 अगोत्रीय विवाह

4.3.4.1.7 विधवा विवाह

4.4 राजनीतिक जीवन संघर्ष

4.4.1 क्षेत्रीय दल

4.4.1.1 झारखंड पार्टी

4.4.1.2 झारखंड मुक्ति मोर्चा

4.4.1.3 आजसू

4.4.1.4 झारखंड विकास मोर्चा

4.4.2 उपन्यासों में चित्रित राजनीति

4.4.2.1 मतदाताओं में अंतर्विरोध

4.4.2.2 नवनिर्वाचित विधायकों का अपहरण

4.4.2.3 वामपंथियों का प्रभाव

4.4.2.4 साहूकार की दृष्टि में कम्युनिस्ट

4.4.2.5 पुलिस की दृष्टि में वामपंथी

4.4.2.6 वामपंथियों में अंतर्विरोध

4.4.2.7 मजदूर आंदोलन और राजनीतिक चेतना

4.4.2.8 'सीता' की सक्रिय भूमिका

4.5 सांस्कृतिक जीवन संघर्ष

4.5.1 आदिवासी लोक कथाएँ

4.5.1.1 औषधीय पहाड़ की चमत्कारिक कथा

4.5.1.2 असुरों के विनाश की लोक-कथा

4.5.1.3 गोत्र निर्धारण की लोक-कथा

4.5.1.4 संताल जाति की उत्पत्ति की लोक-कथा

4.5.1.5 पशु-पक्षियों की लोक-कथा

4.5.1.6 आग से बारिश होने की कथा

4.5.1.7 दो रानियों की लोक-कथा

4.5.1.8 परियों की लोक-कथा

4.5.1.9 पृथ्वी की उत्पत्ति की लोक-कथा

4.5.1.10 सामूहिकता के उल्लंघन की लोक-कथा

4.5.1.11 गाय के भूल की सजा संबंधी लोक-कथा

4.5.2 आदिवासी लोक-गीत

4.5.2.1 आदिवासी लोक गीतों का वर्गीकरण

4.5.2.1.1 संस्कार संबंधी लोक-गीत

4.5.2.1.2 कृषि एवं श्रम संबंधी लोक-गीत

4.5.2.1.3 ऋतु और अवसरिक लोक-गीत

4.5.2.1.4 ऐतिहासिक युद्ध लोक-गीत

4.5.2.1.5 विविध लोक-गीत

4.5.3 शगुन-अपशगुन

4.5.4 पर्व-त्यौहार

4.5.4.1 सरहुल

4.5.4.2 करमा

4.5.5 आदिवासी लोक-नृत्य

4.5.5.1 आदिवासियों के नृत्यों का सामान्य वर्गीकरण

4.5.5.2 आदिवासी लोक नृत्यों की विशेषताएँ

4.5.5.3 आदिवासी नृत्यों का नामकरण

4.5.5.4 छऊ नृत्य

पंचम अध्याय : झारखंड केन्द्रित उपन्यासों की उपन्यास-कला

263-301

5.1 उपन्यासों का वर्गीकरण आकार की दृष्टि से -

1. प्रदीर्घ

2. मध्य

3. लघु

5.2 कथावस्तु स्रोत के आधार पर

5.2.1 पौराणिक

5.2.2 ऐतिहासिक

5.2.3 समसामयिक

5.2.4 प्रजातीय

5.2.5 खनन-संबंधी

5.2.6 अंचल-विशेष संबंधी

5.3 कथावस्तु के तत्व

5.3.1 आख्यान परकता

5.3.2 लोक कथाएँ और गीत-रंग का रचनात्मक उपयोग

5.3.3 मिथकों का समस्यामूलक उपयोग

5.4 कथावस्तु का विन्यास

5.4.1 चरित्र-चित्रण

5.4.2 मुख्य पात्र या नायक

5.4.3 देशकाल अथवा वातावरण

5.4.4 उद्देश्य प्रधान

5.4.5 सोद्देश्य परक

5.4.6 समस्या प्रधान

5.4.7 मिथक

5.5 कथोपकथन अथवा संवाद

5.5.1 छोटे संक्षिप्त

5.5.2 लम्बे वर्णनात्मक

5.6 भाषा शैली

5.6.1 क्षेत्रीय, आदिवासी शब्दों का प्रयोग

5.6.2 बिम्ब-विधान

5.6.3 प्रतीक-योजना

5.6.4 कहावत, लोकोक्ति

5.6.5 विचलन

5.6.6 व्यंग्यात्मकता

5.6.7 शिल्प-विधान

उपसंहार	302-310
संदर्भ ग्रंथ सूची	311-317

भूमिका

झारखण्ड आज भी आदिवासी बहुल क्षेत्र के नाम से ख्यात है, लेकिन वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। एक समय था, जब 'आदिवासी' और 'सदान' यहाँ के शासक हुआ करते थे। शासक का तात्पर्य उन राजा, महाराजाओं की तरह नहीं जो जनता पर शासन करते थे। आदिवासी-सदानों का शासक या राजा निरंकुश, अत्याचारी नहीं हुआ करता था। यह सिर्फ पदवी थी। यहाँ राजा और प्रजा दोनों समान थे। ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुसार परिस्थितियाँ बदलती हैं। 'आदिवासी' और 'सदानों' का अनुपात कभी 50-50 प्रतिशत हुआ करता था। वह कालांतर में परिवर्तित होकर ठीक उल्टा हो गया जिसके संदर्भ में विसेश्वर प्रसाद केशरी लिखते हैं- “फिलहाल झारखंड में आदिवासी 28 प्रतिशत, सदान 57 प्रतिशत और नवागंतुक 15 प्रतिशत के करीब हैं। हालाँकि 'आदिवासी' और 'सदान' कुल मिलाकर अभी भी 85 प्रतिशत हैं, नवागंतुक मात्र 15 प्रतिशत, लेकिन झारखंड पर वर्चस्व आज इन्हीं 15 प्रतिशत नवागंतुकों के हाथ में है क्योंकि शासन, सत्ता और सारे महत्वपूर्ण कार्य-व्यापार इन्हीं के कब्जे में है।”

ध्यातव्य है सदानों के प्रतिशत में तो वृद्धि हुई है, लेकिन आदिवासियों का प्रतिशत घटकर आधा से थोड़ा ज्यादा है। आखिर क्या कारण है कि एक समुदाय का प्रतिशत बढ़ा है और दूसरे का घटा है। जाहिर है सदान स्वयं को परिस्थितिनुकूल ढालते गए और आदिवासी इसमें पीछे रह गये क्योंकि आदिवासियों में कल के प्रति चिंता की भावना नहीं थी। साथ-ही-साथ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विशेषकर 60 के दशक से तथाकथित विकास नीति के तहत बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ लागू की जाती हैं, जिससे आदिवासियों का अत्यधिक विस्थापन व पलायन होता है। वैसे यह पलायन कार्य अंग्रेजों के समय प्रारंभ होता है, जब इन्हें असम, बंगाल के चाय बागानों में काम करने वाले मजदूर के रूप में लिया जाता था। वर्षों, संघर्ष, आंदोलन और बलिदान के फलस्वरूप झारखंड भारत का 28वाँ राज्य के रूप में 15 नवम्बर, 2000 ई. को विधिवत् अस्तित्व में आया। जिनके पूर्वजों के बलिदान, संघर्ष और रक्त के छींटों से रंगा यह भूखंड, जिनके नाम पर बना, क्या उसका वास्तविक लाभ इन्हें मिला? उनकी वर्तमान स्थिति क्या है? ये विचारणीय बिन्दु हैं।

उपर्युक्त चीजों का वर्णन उपन्यासों में किन रूपों में हुआ है। साथ-ही-साथ आदिवासियों के संस्कृति, इतिहास व आंदोलनों को इतिहास की पुस्तकों में पर्याप्त एवं सम्मानजनक स्थान नहीं मिला, जिसके वो हकदार थे, उन्हें उपन्यासों में धीरे-धीरे स्थान दिया जाने लगा है। भूले-बिसरे प्रसंग, विस्तार पाने की संभावित संदर्भों और उपेक्षित वीर नायक व शहीदों को उनके तत्कालीन योगदान को नये सिरे से विश्लेषण व मूल्यांकन करने की सख्त जरूरत है। झारखंड ही नहीं, देश का पहला आदिवासी उपन्यासकार मेन्नस ओड़ेअः था, जिसने 1920 में 'मतरूअः कानी' (मतरूअ कहनी) नामक उपन्यास मुण्डारी भाषा में लिखा। मेन्नस ओड़ेया, फादर हॉफमैन जो 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ मुण्डारिका' के संकलनकर्ता के स्टेनो थे। उन्होंने फादर के कार्यों से प्रभावित और प्रेरित होकर उपन्यास-लेखन का कार्य किया।

झारखंड के आदिवासी समुदायों के विभिन्न पहलुओं पर तीन तरह के लोगों ने साहित्यिक रचना की हैं 1. गैर-आदिवासी, 2. आदिवासी, 3. महिला। इन तीनों के रचना-कर्म, रचना-दृष्टि और भाषा व शिल्प-प्रयोग में काफी अंतर दिखाई देता है। उन सभी का अध्ययन-विश्लेषण करने व समझने के लिए मैंने झारखण्ड के हिन्दी आदिवासी उपन्यासों पर कार्य करने का निर्णय लिया है। स्वयं आदिवासी होने के नाते, आदिवासी जीवन-संघर्ष को उपन्यासों में किन रूपों में प्रस्तुत किया गया है, उपन्यासों में चित्रित आदिवासी तथा यथार्थ में क्या समानता है? आदिवासी-लेखक और गैर-आदिवासी लेखकों की आदिवासी-दृष्टि में मूलभूत अंतर व समानता क्या है? इन जिज्ञासाओं का उत्तर पाने के लिए 'झारखण्ड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष' शीर्षक का चयन किया गया है। इस क्षेत्र में कार्य करने की तीव्र इच्छा एम.फिल. में शोध करने के दरम्यान ही पनपी थी, जिसे शोध-निर्देशक डॉ. एम. श्याम राव जी के स्नेहपूर्ण सलाह ने पूर्ण कर दिया। शोध-क्षेत्र की नवीनता के साथ विविधता के बावजूद निर्देशक की सहर्ष सहमति ने मेरे अंदर के आत्मविश्वास को और अधिक मजबूत किया। मेरे शोध-निर्देशक सैद्धांतिक रूप में ही नहीं, बल्कि व्यावहारिकता में भी बेहद सहज व सरल हैं। इसलिए उनका आभार व्यक्त करना उनके साथ ढिठाई के साथ पेश होने के सदृश्य होगा। शोध कार्य को अध्ययन व विश्लेषण के लिए भूमिका व उपसंहार के अतिरिक्त इसे पांच अध्यायों में विभक्त किया है और इस

शोध कार्य के लिए मैंने ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय और लोकतात्विक शोध प्रविधि का व्यवहार किया है तथा इनकी व्याख्या के लिए आलोचनात्मक-मूल्यांकन पर बल दिया है।

प्रथम अध्याय 'झारखंड : समाज, संस्कृति और इतिहास' में झारखंड की अर्थ व्याप्ति को परिभाषित करते हुए झारखंड को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है तथा झारखंड की समाज-संरचना को तीन घटकों- 'आदिवासी', 'सदान' और 'गैर-आदिवासी' में विभाजित करके, क्रमशः तीनों का एक-एक कर विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों की अंतर्वस्तु एवं समस्याएँ : यथार्थ बनाम आदर्श का द्वंद्व' में आदिवासी जीवन पर आधारित हिन्दी उपन्यासों के विकास क्रम को क्रमानुसार रखते हुए, प्रमुख उपन्यासों में चित्रित समस्याओं को उद्घाटित किया गया है। साथ-ही-साथ उपन्यासों में चित्रित-यथार्थ, कल्पना, प्रेम, आदर्श का समावेश तथा आदिवासी व स्त्री-विरोधी संदर्भों को रेखांकित करते हुए विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय 'झारखंड के विभिन्न आंदोलनों का चित्रण' में झारखंड आंदोलन के लिए किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से योगदान दिए ईसाई कार्यकर्ता, नेता, बौद्धिक विचारक, पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रमुख नामों का परिचय देते हुए उपन्यासों में चित्रित आंदोलनों का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही सत्तर के दशक से अब तक के दस जन विरोधी बड़ी परियोजनाओं का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष' को उपन्यासों के विविध कथानक के आधार पर आदिवासियों के संघर्ष को बहुआयामी संदर्भों आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक उप-शीर्षकों के माध्यम से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया गया है।

पंचम अध्याय 'झारखंड केन्द्रित उपन्यासों की उपन्यास-कला' में उपन्यासकारों की उपन्यास कला, भाषा शैली और शिल्प विधान का विश्लेषण विविध उप-शीर्षकों के द्वारा किया गया है।

आदरणीय पिताजी श्री जोहन केरकेट्टा, मानसिक बीमारी से पीड़ित माँ-समान प्यारी दीदी जयंती और मित्रवत अर्धांगिनी सुमन का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर हरसंभव मेरी सहायता करने की कोशिश की। यही नहीं विपरीत परिस्थितियों में न केवल साथ दिया, बल्कि मेरा संबल भी बने रहे, अन्यथा घर से इतना दूर रहकर यह शोध कार्य पूर्ण करना असंभव नहीं, पर मुश्किल अवश्य था। वृद्धावस्था को बचपन की दूसरी अवस्था कहा जाता है। ऐसी उम्र (पड़ाव) में भी हमारे पिताजी घर में अकेले रहकर भी मेरे हौसले को कभी कम होने नहीं दिया, उनका मैं आजीवन ऋणी बना रहूँगा।

स्वर्गीय डॉ. रामदयाल मुण्डा, विद्याभूषण, रोज केरकेट्टा, विसेश्वर प्रसाद केशरी, मनमोहन पाठक, मंगल सिंह मुण्डा, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', राकेश कुमार सिंह और वंदना टेटे जैसे लेखकों ने न केवल सामग्री संकलन में मेरी मदद की, बल्कि समय-समय पर आवश्यक व महत्वपूर्ण सुझाव और मार्गदर्शन करके मेरे शोध कार्य को दुरुस्त करने के साथ-साथ दिशाहीन होने से बचाये रखा, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं विभाग के सभी गुरुजनों का आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरे शोध कार्य के लिए प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मेरी सहायता की है। वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो. आर.एस. सराजू और उत्साहवर्धक प्राध्यापक डॉ. भीम सिंह का विशेष आभारी हूँ क्योंकि इन्होंने मेरे शोध विषय के अध्यायीकरण को नये सिरे से दुरुस्त करके एक नयी दिशा प्रदान की है।

सामग्री-संकलन के लिए मेरे आत्मीय अग्रज डॉ. सुरेश जगन्नाथम और डॉ. प्रणव कुमार ठाकुर ने विशेष रूप से मेरी सहायता की, जिनके प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। साथी नवीन, जयपाल, अनिल राज, मोबिन, विजय, राजीव, सुमन, उषा और रोशन का भी आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अग्रजों की भाँति हर तरह की, हरसंभव मेरी मदद की।

प्रिय अनुज अरूण, रवि, भानु प्रताप, अमरनाथ और गोमांगो का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रुफ रीडिंग करके छोटी-छोटी त्रुटियों (अशुद्धियों) को दुरुस्त किया। विशेषकर अरूण जो पाँच वर्ष हैदराबाद प्रवास के दरम्यान स्टेशन आगमन-प्रस्थान के वक्त (रात्रि-समय) घर से स्टेशन और स्टेशन से घर तक लेने-लाने का कार्य बेहद आत्मीय ढंग से किया जिसको मैं कभी नहीं भूल सकता हूँ। चंदन भारती के

मार्गदर्शन के बिना केन्द्रीय विश्वविद्यालय हैदराबाद में उच्च शिक्षा के लिए कदम रख पाना लगभग मुश्किल था। इसलिए उनका भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ।

अंत में उन सभी आत्मीय जन और महानुभावों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनका नाम इस आभार सूची में शामिल नहीं है।

सुनील केरकेट्टा

प्रथम अध्याय

झारखण्ड : समाज, संस्कृति और इतिहास

1.1 झारखण्ड शब्द का अर्थ, विस्तार और विविध आयाम

‘झारखण्ड की समरगाथा’ के लेखक, पूर्व सांसद शैलेन्द्र महतो ने लिखा है “झाड़खण्ड का अर्थ है- वन, पर्वत का क्षेत्र। झाड़खण्ड सिर्फ छोटानागपुर-संथाल परगना ही नहीं है, बल्कि उसके पार्श्ववर्ती जिले, जैसे पश्चिम बंगाल राज्य के (1) पुरुलिया (2) बांकुड़ा (3) मेदिनीपुर, ओड़िसा राज्य के (1) मयूरभंज (2) क्योँझर (3) सुंदरगढ़ (4) संबलपुर और छत्तीसगढ़ राज्य के (1) सरगुजा (2) रायगढ़ जिला तक फैला हुआ क्षेत्र है, जिसकी ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक रस्म रिवाज की समरूपता एक विरासत के रूप में मौजूद है। ब्रिटिश शासन काल में झाड़खण्ड को अंग्रेजी में Jharkhand झारखण्ड लिखना प्रारंभ किया गया, (चूँकि अंग्रेजी में ‘ड़’ की जगह ‘R’ का व्यवहार होता है।) तब से हिंदी में भी झारखण्ड का प्रयोग होने लगा।”¹

उक्त नामकरण की प्रक्रिया सटीक एवं तर्कसंगत प्रतीत होती है। साथ-ही-साथ बृहत् झारखण्ड की संकल्पना को स्पष्ट करती है। झारखण्ड यानी जंगल, झाड़, पर्वत वाला क्षेत्र। जिसे विभिन्न कालों में अलग-अलग नामों से पुकारा गया “कीकट प्रदेश, मगध, ब्रात्य प्रदेश, पुण्ड्र, पौण्ड्र या पौड़िक, अर्क खण्ड या कर्क खण्ड, नागपुर, झारखण्ड, कोकराह या खुखरा, चुटिया नागपुर, छोटानागपुर आदि मुख्य हैं। मुगलकाल में हीरा के कारण इसकी प्रसिद्धि थी, अतः इसे हीरा नागपुर भी कहा जाता था।”²

“ऋग्वेद काल में मगध का क्षेत्र कीकट कहलाता था।”³ डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी की माने तो मुसलमानों के शासन काल में यह क्षेत्र झारखण्ड के नाम से प्रख्यात हुआ।

¹ झारखण्ड की समरगाथा- शैलेन्द्र महतो, भूमिका से

² छोटानागपुर का इतिहास: कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.5

³ वही, पृष्ठ सं. 5, उद्धृत

शासकों की राजधानी जैसे-जैसे बदले इस क्षेत्र का नाम भी परिवर्तित होते गया “नागवंशियों ने इसे नागखंड, नागपुर, हीरा नागपुर आदि नामों से प्रसिद्धि दी। चौथी शताब्दी में नागवंशियों की राजधानी चुटिया में थी, तब इसे चुटिया नागपुर कहा जाने लगा। 10वीं शताब्दी में नागवंशियों ने अपनी राजधानी खुखरा में स्थापित की। अतः मुगलों ने इसे खोखरा, कोकरा और झारखण्ड के नाम से जाना। अंग्रेजों के जमाने में चुटिया नागपुर छोटानागपुर कहा जाने लगा।”¹

नागवंशी शासक अपनी सुविधा और सुरक्षा की दृष्टि से झारखण्ड की राजधानी को समय-समय पर बदलते रहते थे। डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी के अनुसार “छोटानागपुर का पुराना नाम झारखण्ड है।”² झारखण्ड शब्द की प्राचीनता, हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथ मनु संहिता के एक श्लोक में द्रष्टव्य है-

“अयस्कः पात्रे पयः पानाम

शाल पत्रे च भोजनम्

शयनम् खर्जूरी पात्रे

झारखंडे विधिवतो।

झारखण्ड में रहने वाले धातु के बर्तन में पानी पीते हैं। शाल के पत्ते पर भोजन करते हैं। खजूर की चटाई पर सोते हैं”³ इस श्लोक से झारखंडियों की प्राचीनता एवं उनकी सांस्कृतिक पहचान की झलक मिलती है।

मध्यकाल का इतिहास पलटने पर स्पष्ट होता है कि “छोटानागपुर-संथाल परगना से लेकर उड़ीसा-मध्यप्रदेश तक फैले जनजातीय क्षेत्र के लिए झारखण्ड शब्द का प्रयोग संभवतः मध्यकाल से ही शुरू हुआ। उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रियों में 13वीं शताब्दी के एक ताम्रपत्र में इस क्षेत्र के लिए झारखण्ड शब्द का पहली बार प्रयोग मिलता है।”⁴

¹ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी , पृष्ठ सं. 23-24

² छोटानागपुर का इतिहास: कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं. 1

³ झारखण्ड- हेमंत, पृष्ठ सं.122

⁴ वही, पृष्ठ सं.128

विभिन्न स्रोतों एवं कालों में उपलब्ध झारखण्ड नाम से एक विशेष क्षेत्र के, विशिष्ट समुदाय के लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक अस्मिता की झलक दृष्टिगोचर होती है। “प्राचीनतम गोंडवाना-लैंड का उत्तरा पूर्वी भाग झारखण्ड के नाम से विख्यात रहा है। प्रागैतिहासिक उपकरणों की लब्धि से प्रमाणित होता है कि यह क्षेत्र प्राचीन प्रस्तर युग से ताम्र युग तक आदिमानव का निवास स्थल था।”¹ कहना नहीं होगा प्राचीन काल में सभी मानव समुदाय आदिम अवस्था में थे। इसलिए उनमें किसी तरह का सटीक भेद कर पाना, मुश्किल एवं चुनौतीपूर्ण कार्य था। झारखण्ड का क्षेत्र-विस्तार समय-समय पर घटता-बढ़ता रहा, उसके ऐतिहासिक कारण थे। “बुकानन के मत में काशी से लेकर बीरभूम तक सारे पहाड़ी प्रदेश को झारखण्ड कहते थे। दक्षिण में वैतरणी नदी इसकी सीमा थी। अकबरनामा के अनुसार छोटानागपुर खास तथा उड़ीशा के ट्रिब्युटरी स्टेट झारखण्ड कहलाते थे।”² कहना नहीं होगा बुकानन झारखण्ड के विस्तार में एक तथ्य (स्थान) और जोड़ देते हैं।

15 नवम्बर, सन् 2000 में झारखण्ड एक नये राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। उस समय केंद्र में भाजपा शासित सरकार थी, भाजपा के अधिकतर नेताओं ने इस नये राज्य का नाम वनांचल रखने पर जोर दिया। सिर्फ शैलेन्द्र महतो को छोड़कर। शैलेन्द्र महतो ने बिहार की तात्कालीन मुख्यमंत्री राबड़ी देवी को पत्र लिख था जो उल्लेखनीय है- “झारखण्ड व ‘वनांचल’ दो नाम हैं। वनांचल इस क्षेत्र का राजनीतिक नाम है, जबकि झारखण्ड इस क्षेत्र में शोषण मुक्त, सामाजिक समानता, सरल प्रवृत्ति, भौगोलिक संतुलन, धार्मिक ढांचा और ऐतिहासिक परम्परा है जो सदियों से मौजूद है, इसकी ऐतिहासिक व धार्मिक पृष्ठभूमि है।”³

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि कौन सा नाम संकुचित तथा राजनीति से प्रेरित था। उसकी सीमा स्पष्ट है और कौन से नाम के पीछे ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उर्जा व समरसता विद्यमान थी।

¹ झारखंड इन्साइक्लोपीडिया (खंड-1), संपा.- रणेन्द्र, सुधीर पाल, पृष्ठ सं.173, उद्धृत

² छोटानागपुर का इतिहास: कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.6

³ झारखण्ड की समरगाथा- शैलेन्द्र महतो, पृष्ठ सं.462

1.1.1 झारखण्ड शब्द का आर्थिक संदर्भ

झारखण्ड शब्द एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई और आर्थिक पक्ष को इंगित करता है। आदिवासियों के लिए जल-जंगल-जमीन मातृस्वरूपा है, इन तीनों के बिना आदिवासियों की कल्पना करना बेईमानी होगी। जब-जब आदिवासियों के इन तीन चीजों पर बाहर के लोगों (मराठा, मुगल और अंग्रेजों) ने कब्जा या आधिपत्य करने को प्रयास किया तब-तब इन्होंने उसका तीव्र विरोध किया है। यही वजह है कि देश के अन्य राज्यों में अपेक्षाकृत उतना आन्दोलन नहीं हुआ है जितना कि झारखण्ड में। जैसे-पहाड़िया आन्दोलन, तिलका मांझी का आन्दोलन, कोल विद्रोह (1831-32), भूमिज विद्रोह, संताल हूल (आन्दोलन) ((1855-56), तेलंगा खड़िया का आन्दोलन, बिरसा मुंडा का उलगुलान (1895-1900), टाना भगत आन्दोलन आदि।

अंग्रेजों को छोड़कर किसी भी बाह्य शक्तियों का झारखण्ड पर पूर्ण आधिपत्य नहीं रहा। जिसके सन्दर्भ में डॉ. बी. वीरोत्तम लिखते हैं “औरंगजेब के शासन काल में बिहार का वर्तमान धनबाद जिला तथा पश्चिम बंगाल का पुरुलिया जिला मुगलों के प्रभाव-क्षेत्रों से प्रायः बाहर ही रहे। सम्पूर्ण झारखण्ड में यही दो ऐसे क्षेत्र थे जो मुस्लिम आक्रमणों से पूरी तरह बचे रहे।”¹

कहना नहीं होगा वन की सघनता एवं भौगोलिक बनावट की अज्ञानता के कारण बाहरी शक्तियों को इस क्षेत्र को समझने में वर्षों लग गए। सन् 1765 ई. को ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल-बिहार-उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो जाती है। इसके साथ ही झारखण्ड के आदिवासी और सदान (मूलनिवासी) भी स्वतः कर-दाता की श्रेणी में आ जाते हैं, क्योंकि डॉ. बी. वीरोत्तम के मतानुसार “झारखण्ड में अंग्रेजों का प्रवेश 1767 ई. में प्रारंभ हुआ और इस प्रक्रिया को पूर्ण होने में सात दशक लगे जब 1837 ई. में सिंहभूम के कोल्हान क्षेत्र पर कम्पनी सरकार की सत्ता निश्चित रूप से स्थापित हुई। किन्तु छोटानागपुर-खास, पलामू, हाजारीबाग, मानभूम तथा संताल परगना में भी जहाँ अंग्रेजी सत्ता की स्थापना जल्दी ही हो गई थी, स्थिति सामान्य नहीं थी। प्रारम्भ से ही वहाँ कभी व्यापक तो कभी छिट-फुट

¹ झारखण्ड: इतिहास एवं संस्कृति- डॉ. बी. वीरोत्तम, पृष्ठ सं.77

रूप से कम्पनी शासन के विरुद्ध गड़बड़ी होती रही। वस्तुतः सम्पूर्ण झारखण्ड में अभी भी अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की एक क्षीण आशा बनी हुई थी। कम्पनी शासन के विरुद्ध व्याप्त असंतोष के कई कारण थे।¹

सन् 1793 ई. में स्थायी बन्दोबस्ती यानी जमींदारी प्रथा प्रारंभ की जाती है, इससे आदिवासियों की भूमि-व्यवस्था बुरी तरह प्रभावित होती है, क्योंकि समय पर लगान नहीं चुकाने पर, लोगों को अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ता है। दूसरी ओर दिनों-दिन जमींदारों-हाकिमों का जुर्म और शोषण बढ़ते जाता है। इससे न केवल उनकी भूमि-व्यवस्था चरमराती है, बल्कि आदिवासियों की स्वायत्त शासन व्यवस्था की जड़ें भी हिल जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में आन्दोलन होना स्वाभाविक है।

1.1.2 झारखण्ड शब्द का सामाजिक संदर्भ

काल खण्ड के अनुरूप झारखण्ड का क्षेत्र घटते-बढ़ते रहा और यहाँ की सामाजिक संरचना सरलता-सहजता से जटिलता की ओर अग्रसरित होती गयी। डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी के कथन से यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है “झारखण्ड और इसके परिपार्श्व की सामाजिक-आर्थिक संरचना को समझने के लिए यहां की प्राकृतिक पृष्ठभूमि, निवासियों की वर्ग-रचना और प्रकृति तथा मुख्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक घटनाओं का आकलन अपेक्षित है।”²

वन-पहाड़ों से आच्छादित अभेद प्रदेश पर अपना आधिपत्य को मजबूत करने के लिए बाह्य आक्रमणकारी (अंग्रेज) यहां की सामाजिक-सांस्कृतिक एकता को धीरे-धीरे तोड़ने का प्रयास करते हैं, जिसके संदर्भ में लेख का अगला अंश द्रष्टव्य है- “यहाँ के लोग शांतिप्रिय थे। वे सुख से कमाते-खाते थे। पड़हा-पंचायत की मुंडा-व्यवस्था परम्परागत रूप से सबको स्वीकृत थी। यहाँ की जाति-विज्ञान (एथनोलौजी) के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि आदिवासी और सदानों का सांस्कृतिक समन्वय और सामंजस्य एक ठोस रूप ले चुका था। एक-दूसरे के जीवन-मरण, सुख-दुःख, भाषा, साहित्य, संगीत, पर्व-त्यौहार से लोग जीवन्त तत्त्व ग्रहण करने लगे थे। अतः दोनों ने मिलकर सदैव ही बाह्य व्याघातों का

¹ झारखण्ड: इतिहास एवं संस्कृति- डॉ. बी. वीरोत्तम, पृष्ठ सं.131

² झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.134

वीरतापूर्वक सामना किया था। मगर, इस क्रूर कर-व्यवस्था ने यहां के लोगों की आर्थिक रीढ़ तोड़ दी। पारस्परिक वैर-भाव का विष-वमन हुआ प्रशासन हमेशा फूट डालो और राज करो की नीति को प्रश्रय देता रहा। इसके कारण यह वर्ग-वैषम्य पैदा हुआ और सामंती रीति-नीति की बुनियाद खड़ी होती गयी।”¹

उक्त स्थितियां दोनों कालों में (स्वतंत्रता पूर्व और पाश्चात्य भी) पैदा की गईं ताकि इनकी सामाजिक एकता खण्डित होते रहे और वे कभी आपस में एकजुट न हो पायें, लेकिन इन खाइयों को पाटने के लिए आदिवासी-सदनों के बीच चेतना का प्रस्फुटन होता है- “भारत की आजादी के करीब 19 साल पहले 1928 ई. में झारखण्ड क्षेत्र में ‘छोटानागपुर उन्नति समाज’ का गठन हुआ। उसका उद्देश्य था- जनजातीय समाज के उत्थान के लिए उसे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना से लैस करना, वैसे उसके गठन की कोशिशें 1920 ई. से ही शुरू हुई थी।”²

कालांतर में जयपाल सिंह मुण्डा के नेतृत्व में 1939 ई. में ‘छोटानागपुर उन्नति समाज’ का नाम बदलकर ‘आदिवासी महासभा’, फिर बाद में ‘झारखण्ड पार्टी’ रखा जाता है। यह विकास क्रम उनके सामाजिक-राजनीतिक उत्थान का द्योतक है, लेकिन नेताओं की अदूरदर्शी-नीति एवं सत्तालोलुपता के कारण आन्दोलन बिखरता गया और सामाजिक एकता टूटती गयी, जिसके सन्दर्भ में हेमंत ने ठीक लिखा है “आजादी से पहले और बाद में झारखण्ड में ‘सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए राजनीतिक स्वायत्तता’ की मांग होती रही। उसके लिए कई जनांदोलन हुए। उन जनांदोलनों में जनता हारती रही और नेता जीतते रहे। जीतने के क्रम में वे बंटते-बिकते रहे। उस बीच झारखण्ड क्षेत्र के भूगोल के साथ सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था बदलती रही और आदिवासी सांस्कृतिक अस्मिता अपनी पहचान खोती रही।”³

आदिवासी नेतृत्व प्रलोभन या तो स्वार्थ के चंगुल में फंसकर कैसे दिशाहीन होकर अपने लीक से भटकते जाता है और जनता संगठित होकर बारंबार बिखरती रही, जनता का सहज विश्वास अपने प्रतिनिधियों से उठता गया, उसका सटीक उदहारण है उक्त अंश।

¹ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.136

² झारखण्ड- हेमंत, पृष्ठ सं.92

³ वही, पृष्ठ सं. 61

1.1.3 झारखण्ड शब्द का ऐतिहासिक संदर्भ

झारखण्ड शब्द के ऐतिहासिक संदर्भ की सार्थकता कई रूपों में बिखरी पड़ी हैं, उनमें बहुत सी जानकारीयाँ धार्मिक ग्रंथों में (ऋग्वेद, महाभारत, पुराण, मनु संहिता) दृष्टिगोचर होती हैं जिसकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। यहाँ का इतिहास इतना व्यापक और सारगर्भित है कि एक पहलू की पड़ताल करने पर अनेक सूत्र जुड़ते चले जाते हैं “झारखंड एक ऐतिहासिक भूखण्ड है। और इसका अपना अनोखा इतिहास है। प्रागैतिहासिक काल में झारखण्ड घनघोर वनों से अच्छादित था और प्रागैतिहासिक मानवों का निवास स्थल रहा। इसके प्रमाण अनेक प्राचीन गुफाओं के चित्रों या भित्ति चित्रों में अंकित हैं। प्राचीन प्रस्तर युग तथा नव पाषाण काल के अवशेष यहां प्राप्त हुए हैं जो बहुत प्राचीन काल में कोई सभ्य जाति के रहने के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।”¹

डॉ. बिमला चरण शर्मा इस प्रदेश की भौगोलिक विस्तार, बनावट और प्राचीनता पर लिखते हैं “झारखण्ड क्षेत्र अति प्राचीन गोंडवानालैंड का उत्तरी-पूर्वी उपांग है जहाँ विभिन्न भूगर्भीय युगों में विशेष चट्टानों एवं खनिजों का निक्षेप हुआ है। आर्कियन युग की प्राचीनतम चट्टानें यहां की आधारशिला है।”²

डॉ. सिकरादास तिकी झारखण्ड के पहले आदिवासी इतिहास लेखक हैं, जिन्होंने पहली बार आदिवासी दृष्टि से ‘झारखण्ड का इतिहास’ नामक किताब लिखी है। उन्होंने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है “झारखण्ड का इतिहास विश्व इतिहास या भारतीय इतिहास का अभिन्न अंग है। झारखण्ड का इतिहास यहाँ की भौगोलिक, सभ्यता-संस्कृति के अन्तर्गत आदिवासियों के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक एवं अन्य घटनाओं का इतिहास है। जो विभिन्न काल खण्डों की परिधि में पसरा हुआ है और इनका अध्ययन एवं प्रस्तुतिकरण ही ‘झारखण्ड का इतिहास’ है।”³

उक्त दृष्टि से न केवल झारखण्ड के इतिहास की विविधता का पता चलता है, बल्कि उसके व्यापक फलक एवं महत्त्व का भी रेखांकन हुआ है। डॉ. सिकरादास तिकी ने झारखण्ड के इतिहास को

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.11

² वही, पृष्ठ सं.13

³ झारखण्ड का इतिहास- डॉ. सिकरादास तिकी, पृष्ठ सं.- प्रस्तावना से

चार भागों में विभाजित कर विश्लेषित करने का प्रयास किया है- प्रागैतिहासिक जीवन, प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। प्रागैतिहासिक जीवन के बारे में वे लिखते हैं “प्राक् इतिहास युग में झारखण्ड प्रदेश का औद्योगिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विस्तार वृहत रूप में था। कालक्रम में इसका हिस्सा खंडित होते-होते अन्य राज्यों जैसे बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, ओड़िसा आदि का अंग बनता गया। अतः झारखण्ड का प्रागैतिहासिक काल का तात्पर्य वृहत झारखण्ड प्रदेश के आदिवासी जीवन का ऐतिहासिक दर्शन से है बल्कि इसका पुनर्गठन से नहीं।”¹

उक्त दृष्टि से और अन्य साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि झारखण्ड की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का फलक व्यापक था जो खण्डित होते-होते संथाल परगना और छोटानागपुर में सिमट गया।

पूर्व सांसद शैलेन्द्र महतो ने अपनी पुस्तक ‘झारखण्ड की समरगाथा’ में झारखण्ड शब्द की ऐतिहासिकता के प्रमाण को विभिन्न संदर्भों के माध्यम से पुष्ट किया है “श्री चैतन्य महाप्रभु 15 वीं सदी के द्वितीय दशक में मथुरा जाते हुए झारखण्ड से गुजरे और आदिवासियों में धर्म परिवर्तन के कार्य किये। भविष्य पुराण के नवें परिच्छेद के सर्ग सात में भी झारखण्ड का उल्लेख हुआ है। शिव पुराण के आठवें परिच्छेद में झारखण्ड महादेव की चर्चा है। बांग्ला भाषा के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ कृतिवास रामायण में झारखण्ड का उल्लेख है- “मांदार पृथ्वी जाईबो झारखण्ड देशे, झारखंडी रा आछे अब्दूत रूपे”। वृन्दावन दास के उड़िया चैतन्य भागवत के आदिखंड में कहा है- “प्रथमे चालीला प्रभु तीर्थेश्वर, तबे वैद्यनाथ झारखंड गेला एकेश्वर।” मध्यकालीन मुगल साहित्य बाबरनामा के “वकायते अलवकायत” में झारखण्ड की चर्चा है।”² उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाणों से कहीं ज्यादा प्रमाण, अन्यत्र दृष्टिगोचर होते हैं, उनका उल्लेख करना यहां संभव नहीं है, लेकिन हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के निर्गुण धारा के दो कवियों के पदों में जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उसका उल्लेख करना आवश्यक है-

“कब से छोड़ी मथुरा नगरी,

¹ झारखण्ड का इतिहास- डॉ. सिकरादास तिर्की, पृष्ठ सं.12

² झारखण्ड की समरगाथा- शैलेन्द्र महतो, पृष्ठ सं.463

कब से छोड़ी कासी ।

झारखण्ड में आय बिराजे,

वृन्दावन के वासी ।”¹

उक्त पद कबीरदास का है, जिसमें मथुरा, नगरी और काशी को त्यागने एवं झारखण्ड में पधारने की बात कही गई है। इसी प्रकार हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के प्रेमाख्यान काव्य परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि मल्लिक मुहम्मद जायसी ने भी अपने प्रसिद्ध महाकाव्य ‘पद्मावत’ में झारखण्ड का नामोल्लेख किया है-

“दक्खिन दहिने रहै तिलंगा

उतर मांझ होय करह कटंगा,

मांझ रतनपुर सोह दुआरा

झारखण्ड में बायं पहारा”²

उपर्युक्त पदों में ‘झारखण्ड’ शब्द के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि इस नाम की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है।

1.1.4 झारखण्ड शब्द का सांस्कृतिक संदर्भ

बृहत झारखण्ड का विस्तार पड़ोसी राज्यों- बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश तक था। क्योंकि आदिवासियों की बड़ी आबादी आज भी इन राज्यों के सीमावर्ती जिलों में निवास करती हैं, जो खण्डित होकर भी सांस्कृतिक रूप में एक ईकाई है। झारखण्ड शब्द आदिवासी सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। जो बिरसा मुंडा का दर्शन ‘अबुआ देश रे अबुआ राज’ को ध्वनित करता है। यह सच है कि आदिवासियों को वर्षों से बाँटने का प्रयास किया जाता रहा है, जिसके संदर्भ में ‘संस्कृति पुरुष’ स्वर्गीय डॉ. रामदयाल मुण्डा के विचार उल्लेखनीय है “1955-56 ई. में भाषाओं के आधार पर जब केन्द्र में राज्य गठन की बात होने लगी तो झारखण्ड में आग्नेय भाषा बोलने वालों की संख्या करोड़ों में थी। इसी के आधार पर अलग नए राज्य के गठन की बात होने लगी और यही आगे चलकर झारखण्ड आन्दोलन

¹ झारखण्ड: इतिहास एवं संस्कृति- डॉ. बी. वीरोत्तम, पृष्ठ सं.9, उद्धृत

² वही, पृष्ठ सं.9, उद्धृत

के सांस्कृतिक आधार बने। राजनीतिक रूप में जो आर्थिक लाभ झारखंडियों को मिलना चाहिए था वो मिल नहीं पा रहा था जबकि खनिज संसाधन इसी क्षेत्र में थे। रिटर्न में बहुत अल्पांश ही मिलता था। यही सब कारण झारखण्ड अलग राज्य की मांग का आधार बना। झारखण्ड जब बिहार में था, उस समय धनबाद केवल शहर के रूप में जाना जाता था। राष्ट्रीय राजनीति के तहत यहाँ के इन करोड़ों लोगों को नियोजित ढंग से बाँट दिया गया ताकि ये भविष्य में एकजुट होकर विरोध न कर सकें। धीरे-धीरे लोग राष्ट्रीय राजनीति को समझने लगे और संगठित भी होने लगे। प्लानिंग के तहत भीड़ वाले इलाके को चार भागों में बाँट दिया गया ताकि चारों ओर से चार राज्यों का डंडा पड़ते रहे। गोंड इलाके को भी कई भागों में बाँट दिया और हम लोगों को पांच भागों में बाँटा गया। जबकि सांस्कृतिक रूप से इनको एक जगह पर जोड़ना चाहिए था।”¹

झारखण्ड ही नहीं, पूरे भारतीय संदर्भ में आदिवासियों के साथ ऐसा बर्ताव किया गया। क्योंकि सांस्कृतिक-सामाजिक रूप से खण्डित करने के पश्चात् उनकी अन्य शक्तियाँ स्वतः क्षीण हो जाएंगी। आज भी झारखण्ड में आदिवासियों को धर्म और संस्कृति के नाम पर बाँटा जा रहा है, जो बेहद खतरनाक है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में आदिवासियों का योगदान अमूल्य है, जिसे रेखांकित करते हुए डॉ. बी. वीरोत्तम ने अपनी पुस्तक में लिखा है- “भारतीय राष्ट्रीयता की आत्मा जिन विभिन्न सामाजिक तत्त्वों पर आधारित है उनमें से सर्व-देशीय प्रमुख तत्त्वों के अतिरिक्त झारखण्ड में एक विशिष्ट तत्व है- जनजातीय। अतः यह अति आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय नागरिक इस क्षेत्र की सांस्कृतिक विकास की रूप-रेखा से परिचित हो, ताकि वह यहां की वर्तमान समस्याओं, प्रयासों तथा ध्येयों की पूर्वगामी अनुभवों, परंपराओं और प्रयासों के प्रकाश में माप-तौल कर समीक्षा कर सके। जिस मात्रा में हम झारखंडी सभ्यता एवं संस्कृति का वास्तविक रहस्य जान सकेंगे उसी मात्रा में वह ज्ञान वहाँ की

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा- वन्दना टेटे, अंक-2, जून-अगस्त 2013, पृष्ठ सं.10

समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकेगा। यह बात निर्मूल मानी जाती है कि जनजातियाँ ही झारखंडी सभ्यता एवं संस्कृति की एकमात्र संस्थापक थीं।”¹

आदिवासियों की सामूहिक, विशाल, सांस्कृतिक क्षेत्र की स्वायत्तता को सैद्धांतिक रूप में, उसका खूब गुण-गान किया गया, किन्तु व्यावहारिकता में स्थिति कुछ और है। जिसके संदर्भ में डॉ. बी. वीरोत्तम लिखते हैं- “ब्रिटिशकाल में झारखण्ड के आदिवासियों की विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक पार्थक्य, पिछड़ापन और आदिम स्वरूप में स्पष्ट रूपांतरण हुआ। उनकी वितरण-सीमा विस्तृत हुई और एकलन क्षेत्र सीमित हुए। इस रूपांतरण का राजनीतिक प्रभाव यह हुआ कि झारखण्ड के आदिवासी जाति के आधार पर अपना कोई पूर्ण विकसित राज्य अथवा स्वशासित क्षेत्र नहीं बना सके।”²

आदिवासी समुदायों के उपेक्षित, शोषित, पीड़ित और विस्थापित होने की बहुत लम्बी, अंतहीन गाथा है। सांस्कृतिक-संघर्ष उनके अस्मिता की लड़ाई है। यही वजह है कि भाषा और संस्कृति के नाम पर प्रारम्भ हुआ आन्दोलन, बाद में अलग झारखण्ड राज्य के रूप में तब्दील हो गया। जिसके संदर्भ में रामदयाल मुण्डा ने लिखा है- “देश में भाषाई एवं सांस्कृतिक आधार पर पुनर्गठित करने के पीछे उद्देश्य था उक्त सांस्कृतिकता को सुरक्षित एवं संपोषित करना। दुर्योग से राज्य पुनर्गठन की प्रारम्भिक प्रक्रिया इतनी राजनीतिक दुराग्रहपूर्ण रही कि देश के कई बड़े सांस्कृतिक क्षेत्र राज्य के रूप में मान्यता पाने से वंचित हो गए। उल्टे ऐसे क्षेत्रों को विखंडित-विघटित करने पर ही जोर दिया गया। झारखण्ड सांस्कृतिक क्षेत्र भी उन्हीं में से एक है, जो अपनी सांस्कृतिकता की मान्यता के लिए पिछले 50 वर्षों से प्रयत्नशील है एक राज्य के रूप में पूर्ण स्वायत्तता की मान्यता अब तक नहीं प्राप्त होने के बावजूद यह सांस्कृतिक क्षेत्र अपने अन्दर एक पहचान संजोए हुए है, जो उसे उसकी जीवनी शक्ति के रूप में अनुप्राणित करती रही है।”³

¹ झारखण्ड: इतिहास और संस्कृति- डॉ. बी. वीरोत्तम, पृष्ठ सं.445

² वही, पृष्ठ सं.451

³ आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल- डॉ. रामदयाल मुण्डा, पृष्ठ सं.29

15 नवम्बर सन् 2000 को झारखण्ड राज्य आदिवासियों के नाम पर अस्तित्व में आया। किन्तु उनकी आकांक्षाएं तथा सपनें पूरे नहीं हुए। इस संदर्भ में झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा के महासम्मेलन में वन्दना टेटे ने कहा कि “ढाई सौ वर्षों से चल रहा झारखण्ड आन्दोलन मूलतः सांस्कृतिक आन्दोलन है। लूट और शोषण के खिलाफ जारी इस संघर्ष में आर्थिक व राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ भाषायी स्वतंत्रता का सवाल भी प्रमुख है। औपनिवेशिक शासन से लेकर स्वतंत्र भारत में आदिवासी व झारखंडी भाषाओं की उपेक्षा की गई है।”¹

कहना नहीं होगा आदिवासी व झारखंडी भाषाओं की सरकारी उपेक्षा हमारे लिए एक चुनौती का विषय है। इसलिए अश्विनी कुमार ‘पंकज’ राज्य स्थापना दिवस को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं “15 नवम्बर का दिन मुख्यधारा के लिए महज झारखंड राज्य स्थापना दिवस है। परंतु ऐतिहासिक रूप से यह झारखंडी अस्मिता और अधिकार के संघर्ष का दिन है। मुख्यधारा बनाम झारखंडी स्वशासन के संघर्ष का दिन। यह समतामूलक झारखंडी चेतना को आत्मालोचन एवं राजनीतिक विश्लेषण से समृद्ध करने का महत्वपूर्ण दिवस है।”² सांस्कृतिक संघर्ष अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। नई पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी के आन्दोलन से उर्जा व प्रेरणा ग्रहण करती है।

2. झारखण्ड की समाज-संरचना

सदियों से झारखण्ड का भौगोलिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक ढांचा परिवर्तनशील रहा है। चाहे वह औपनिवेशिक काल हो या नागवंशियों का काल या फिर स्वतंत्रता के बाद का काल हो, काल के इन अंतरालों ने निश्चित रूप से यहां की समाज-संरचना को प्रभावित किया होगा। समाज-संरचना प्रत्येक राज्य की एक पहचान होती है। समाज-संरचना के माध्यम से किसी राज्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक पहलुओं को जानने- समझने में सहायक साबित होती हैं।

वर्तमान झारखण्ड, संताल परगना और छोटानागपुर के योग से निर्मित है। इन क्षेत्रों की एक विशिष्ट ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक पहचान रही है। यहां की समाज-संरचना के

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा- वन्दना टेटे, अंक-6, दिसंबर 2006, पृष्ठ सं.75

² वही, अंक-3-4, सित. 09-फरवरी-2010, पृष्ठ सं.6

संदर्भ में विद्याभूषण लिखते हैं- “झारखण्ड की समाज-संरचना के तीनों मान्य घटक आदिवासी, सदान और गैरआदिवासी समुदाय-समूहों के लिए प्रयुक्त होने वाले नाम हैं।”¹

बृहत झारखण्ड की जो परिकल्पना की गई थी वो आदिवासियों की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनात्मक ईकाई पर केन्द्रित थी, वह मांग अधूरी रह गई। जिसके अनेक कारण हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। नवगठित झारखण्ड राज्य का भौगोलिक विस्तार “1 लाख 90 हजार 50 वर्ग किलोमीटर है जो वर्तमान में तीन प्रमंडलों और 24 जिलों में विभाजित है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र की कुल जनसंख्या एक करोड़ अस्सी लाख थी जो राज्य गठन के समय सन् 2000 में बढ़कर दो करोड़ सत्तर लाख हो गयी। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इस राज्य की कुल आबादी तीन करोड़ उन्नीस लाख है जो उपर्युक्त तीनों घटकों की मिली-जुली जनसंख्या का जोड़ है- आदिवासी, सदान और गैर-आदिवासी। इन तीनों घटकों का स्थूल अनुपात क्रमशः 27 प्रतिशत, 40 प्रतिशत और 33 प्रतिशत बताया जाता है।”²

आदिवासी अनुपात घटते जा रहा है जिसके संदर्भ में विसेश्वर प्रसाद केशरी लिखते हैं “पिछली जनगणना के अनुसार झारखण्ड की जन-बुनावट में इन तीनों समुदायों का अनुपात लगभग इस प्रकार है- आदिवासी 28 प्रतिशत, सदान 60 प्रतिशत और नवागंतुक 12 प्रतिशत। नवागंतुकों के उत्तरोत्तर दबाव और कई अन्य कारणों से यहाँ आदिवासियों का अनुपात तेजी से घटता जा रहा है। अन्यथा, 1930-31 तक यहाँ आदिवासी और सदानों की आबादी लगभग 50-50 प्रतिशत थी।”³

उक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि आदिवासियों का अनुपात प्रत्येक जनगणना में घटते जा रहा है और नवागंतुकों (गैर-आदिवासियों) का अनुपात बढ़ते जा रहा है, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। जिसके तरफ इशारा करते हुए डॉ. रामदयाल मुण्डा लिखते हैं- “जनगणना में जान-बुझकर आदिवासियों के धर्म (आदि धर्म) को एक निश्चित जगह न देकर और मात्र ‘अन्य’ का विकल्प देकर उन्हें परोक्ष रूप से

¹ इतिहास के मोड़ पर झारखण्ड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.55-56

² वही, पृष्ठ सं. 70

³ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं. 35

स्वयं को हिन्दू या अन्य घोषित करने को प्रोत्साहित किया गया। 1991 की जनगणना में उत्तरित ‘अन्य धर्म’ के विकल्प में मात्र 22 लाख लोगों की पहचान आदि धर्मावलम्बियों के रूप में की जा सकती है। देश की ईसाई आबादी के अधिकांश को भी अगर आदिवासी गिन लें, तब भी करीब सात करोड़ आदिवासियों के धार्मिक हिसाब इस परोक्ष रूप से हिन्दू ही बनता है। इसे धार्मिक पहचान को थोपना ही कहा जाएगा।”¹

उक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आदिवासियों की जनसंख्या को राष्ट्रीय राजनीति के तहत कानूनी रूप से घटाने का अप्रत्यक्ष प्रयास, बेहद चिंता का विषय है, जिसे उच्च स्तर के चिंतक एवं बुद्धिजीवी ही समझ सकते हैं। आगे वे पुनः लिखते हैं- “भारतीय संविधान में आदिवासियों को सांस्कृतिक रूप से एक विशिष्ट समुदाय माना गया है, किन्तु उनकी कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर प्रति 10 वर्ष में होनेवाली जनगणना में उनकी धार्मिक पहचान दर्ज करने के लिए मात्र ‘अन्य’ का विकल्प है, इसके परिणाम स्वरूप, जो आदिवासी स्पष्ट रूप से अपने को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे ‘हिन्दू’ के अन्तर्गत ही चिन्हित होने को विवश हैं।”² लेकिन अब झारखण्ड के आदिवासी इस प्रायोजित साजिश को समझकर इसका विरोध करने लगे हैं और अपने लिए अलग आदिवासी धर्म कोड की मांग कर रहे हैं, जो उनके राजनीतिक चेतना का प्रतिफलन है।

1.2.1 आदिवासी शब्द का अर्थ और परिभाषा

विद्याभूषण के अनुसार “आदिवासी शब्द मानव विज्ञान का नहीं है, लोकप्रचलन में रहने वाला शब्द है। आदिवासी यानी मूलवासी, वनवासी, गिरिजन, आदिमजन, जंगल-पहाड़ में रहने वाला आधुनिक सभ्यता से अलग-थलग रहा मानव समुदाय। ऐसे अनेक बिखरे हुए समुदायों के लिए प्रयुक्त होने वाला एक शब्द है आदिवासी।”³

¹ आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल- डॉ. रामदयाल मुण्डा, पृष्ठ सं.45

² वही, पृष्ठ सं.48

³ इतिहास के मोड़ पर झारखंड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.56

“भारत के लोग अधिकतर अनुसूचित जनजातियों (एस.टी.) को आदिवासी कहते हैं और इस रिपोर्ट में इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। संस्कृत में आदिवासी शब्द का अर्थ है, किसी क्षेत्र के मूल निवासी जो आदिकाल से किसी स्थान विशेष में रहते चले आ रहे हैं। माना जाता है कि आदिवासी भारतीय प्रायद्वीप के सबसे प्राचीन बाशिन्दे या मूल निवासी हैं।”¹

अधिकतर विद्वानों ने ‘जनजाति’ शब्द से आदिवासियों को परिभाषित करने का प्रयास किया है। जनजाति या अनुसूचित जनजाति शब्द, संवैधानिक शब्द है। जिसकी चर्चा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के पाचवीं सूची में किया गया है। जार्ज पीटर मर्डॉक के मतानुसार “यह एक सामाजिक समूह होता है जिसकी एक अलग भाषा होती है तथा भिन्न संस्कृति व एक स्वतंत्र राजनैतिक संगठन होता है।”²

गिलिन और गिलिन के अनुसार “जनजाति किसी भी ऐसे स्थानीय समुदायों के समूह को कहा जाता है जो एक सामान्य भू-भाग पर निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो, और एक सामान्य संस्कृति का व्यवहार करता हो।”³

डी.एन. मजूमदार ने “जनजाति” को “परिवारों” का संकलन कहा है जिसका अपना एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं, विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा एक सुनियोजित आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।”⁴

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया के अनुसार “एक जनजाति समान नाम धारण करने वाले परिवारों का संकलन है, जो समान बोली बोलते हैं, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हैं अथवा दखल रखते हों तथा जो साधारणतया अन्तर्विवाही न हो यद्यपि मूल रूप से चाहे वैसे रह रहे हों।”⁵

¹आदिवासी कौन- संपादक- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ सं.29

²भारत की जनजातीय संस्कृति- विजय शंकर उपाध्याय, विजय प्रकाश शर्मा, पृष्ठ सं.1, उद्धृत

³वही, पृष्ठ सं.2, उद्धृत

⁴वही, पृष्ठ सं.2, उद्धृत

⁵जनजातीय भारत- नदीम हसनैन, पृष्ठ सं.11, उद्धृत

आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार “एक जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हो तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।”¹ लूसी मेयर के अनुसार “एक जनजाति समान संस्कृति वाली जनसंख्या का स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन है।”²

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि किसी में उनकी भाषा, बोली को, किसी में भू-भाग, सामान्य समुदाय को, किसी में राजनीतिक संगठन, व्यवसाय और संस्कृति को, तो किसी में उनके विवाह सम्बन्धी नियमों पर प्रकाश डाला गया है। अतः कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो पूर्ण और मान्य हो।

‘आदिवासी’ शब्द की महत्ता और ऐतिहासिकता एवं ‘अनुसूचित जनजाति’ शब्द की संकुचितता के संदर्भ में डॉ. रामदयाल मुण्डा लिखते हैं- “महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू एवं देश के दूसरे बड़े नेताओं ने देश के आदिवासियों को स्वतंत्रता की लड़ाई के जमाने से ही इस नाम से संबोधित कर गौरवान्वित किया है, इस शब्द को संवैधानिक मान्यता नहीं है। संवैधानिक शब्द है, अनुसूचित जनजाति (शिड्यूल्ड ट्राइब)। इससे ऐसा लगता है कि देश आदिवासियों के आदिवासी (प्रथम निवासी) होने को गंभीरता से नहीं ले रहा है। दूसरी ओर ‘अनुसूचित-जनजाति’ में यह इशारा साफ है कि यह ‘अनुसूचित’ होना एक अस्थायी स्थिति है और शेष बचे ‘जनजाति’ के रूप में भी आदिवासी, भारतीय जाति व्यवस्था का ही एक अंग है।”³

जबकि आदिवासी समुदाय प्राचीन काल से जाति-व्यवस्था के बाहर रहा और अभी भी है। आगे मुण्डा जी लिखते हैं- “जहाँ तक आदिवासी शब्द का सवाल है, वह आदिवासियों की भावनाओं के अनुरूप है और सम्मानपूर्वक शिरोधार्य है।”⁴

¹जनजातीय भारत- नदीम हसनैन, पृष्ठ सं.11, उद्धृत

²वही, पृष्ठ सं.11, उद्धृत

³आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल- डॉ. रामदयाल मुण्डा, पृष्ठ सं.41-42

⁴वही, पृष्ठ सं.42

भारतीय संविधान में 'आदिवासी' शब्द के स्थान पर अनुसूचित जनजाति शब्द का प्रावधान (चयन) किया गया है। जिसके उद्देश्य या नाम परिवर्तन की बाध्यता क्या थी, उसे स्पष्ट नहीं किया गया। और न ही उसे परिभाषित किया गया है।

डॉ. बिमला चरण शर्मा के अनुसार “8 जून 2003 को ‘कंवर’ और ‘कोल’ को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में सूचीबद्ध कर लेने के बाद झारखण्ड में इनकी संख्या 32 हो गयी।”¹

1.2.2 झारखण्ड में अनुसूचित जनजातियों की वर्तमान सूची

शैलेन्द्र महतो के अनुसार झारखण्ड में अनुसूचित जनजातियों की सूची इस प्रकार है- “(1) असुर (2) बैगा (3) बंजारा (4) बाथुडी (5) बेदिया (6) बिंझिया (7) बिरहोड़ (8) बिरजिया (9) चेरो (10) चीक-बड़ाईक (11) गोंड (12) गोराइत (13) हो (14) करमाली (15) खड़िया (16) खरवार (17) खोंड (18) किसान (19) कोड़ा (20) कोरवा (21) लोहरा (22) माहली (23) माल-पहाड़िया (24) मुण्डा (25) उराँव (26) पहाड़िया (27) संताल (28) सौरिया-पहाड़िया (29) सबर (30) भूमिज (31) कोल (32) कवर।”²

1.2.3 प्रमुख आदिवासी : इतिहास और वर्तमान

विद्याभूषण के अनुसार झारखण्ड की पांच प्रमुख आदिवासी हैं- संताल, उराँव, मुण्डा, हो और खड़िया। संभवतः इनके सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हैसियत को आधार बनाकर इन्हें प्रमुख माना गया है। झारखण्ड तीन भाषा परिवारों का संगम स्थल रहा है- आस्ट्रो-एशियाटिक, आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार।

1.2.3.1 संताल

आबादी की दृष्टि से संताल झारखण्ड की सबसे बड़ी आदिवासी समुदाय है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या झारखण्ड में 27,54,723 है। विद्याभूषण के अनुसार “संताल समाज की घनी आबादी संताल परगना के पांच जिलों- साहेबगंज, देवघर, गोड्डा, दुमका और पाकुड़ में

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.34

² झारखण्ड की समरगाथा- शैलेन्द्र महतो, पृष्ठ सं.59

निवास करती है, किन्तु बिहार राज्य के पूर्णिया, भागलपुर, सहरसा और मुंगेर के अलावा छोटानागपुर प्रमण्डल के हजारीबाग, सिंहभूम और धनबाद में भी उनकी आबादी फैली-बिखरी है।”¹

संताल समाज के प्रमुख को ‘मांझी’ कहते हैं। इनकी अर्थव्यवस्था कृषि पर केन्द्रित है तथा वंश प्रजाति आस्ट्रो एशियाटिक है।

विपिन कुमार ठाकुर के अनुसार “संतालों का परिवार पितृसत्तात्मक होता है। इनमें विवाह बहिगोत्रीय तथा अन्तर-विवाह प्रचलित है। इनमें 12 गोत्र होते हैं। मरांडी, सोरेन, हांसदा, मुरमू, वेदिया, टुडू, हेम्बरोम, वास्की, किस्कू, चौड़े, बेसरा एवं पोरिया। विवाह के अनेक रूप देखने को मिलते हैं जैसे- सदाई बापला, गोलाईटी बापला, घरदी जवाँय बापला, राजा-राजी बापला, बहादुर बापला इत्यादि।”²

समगोत्रीय विवाह वर्जित है। विवाह के समय वर पक्ष को वधू-मूल्य (पोन) देना अनिवार्य होता है। संताली भाषा और साहित्य समृद्ध एवं विकसित है। संताली की लिपि ‘ओलचिकि’ है, जिसे समृद्ध और विकसित करने के प्रयास हो रहे हैं। कमल के अनुसार “लगभग सवा सौ साल (सन् 1880) पहले प्रकाशित कवि रामदास टुडू का महाकाव्य ‘खेरवाड़ बोशा धोरोम पुथी’ एक महत्वपूर्ण रचना है। इससे ही प्रकाशित संताली साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। यह बंगला लिपि में प्रकाशित हुई थी।”³

संताली स्त्री-पुरुष आभूषण प्रिय होते हैं। गोदना स्त्रियों का मुख्य श्रृंगार है। विपिन कुमार ठाकुर उनके धार्मिक और सामाजिक जीवन के संदर्भ में लिखते हैं “संताल बहुदेववादी होते हैं। ‘प्रेत’ तथा ‘डायन’ में इनका विश्वास है। संतालों का बड़ा देवता “सिंग-बोंगा” होता है। इन्हें प्रसन्न करने के लिए “सूरर” तथा “बकरे” की बलि दी जाती है। गृह देवता को “ओड़ाक-बोंगा” तथा परिवार के देवता को “अबगे-बोंगा” कहा जाता है। संताल जनजाति के लोग शव को जलाते हैं तथा दफन भी करते हैं। मुंडन प्रथा भी विराजमान है। श्राद्ध के समय खस्सी तथा मुर्गे की बलि दी जाती है। संताल का सबसे बड़ा

¹ इतिहास के मोड़ पर झारखण्ड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.63

² आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून-2015, पृष्ठ सं.10

³ इस्पातिका- अविनाश कुमार सिंह, अंक-1, जनवरी-जून 2012, पृष्ठ सं.106

त्योहार “सोहराई” है, जो फसल काटने के बाद मनाया जाता है। अन्य पर्वों में बाहा, सकरात आदि प्रमुख हैं।”¹

प्रसिद्ध कवयित्री निर्मला पुतुल इसी समुदाय से आती है। इनके काव्य संग्रह हैं- ‘अपने घर की तलाश में’ (2004), ‘नगाड़े की तरह बजते शब्द’ (2005), ‘बेघर सपने’ (2009) और ‘ओनोंड़हें’। वन्दना टेटे के अनुसार- “कथा-साहित्य में आर.आर.के. रपाज का पहला उपन्यास 1946 ई. ‘हाड़मावाक आतो’ (हाड़मा का गांव) के नाम से प्रकाशित हुआ। यह वास्तव में आर. कास्टेयर्स के अंग्रेजी उपन्यास ‘हाड़माज भिलेज’ का अनुवाद है। दूसरा उपन्यास नुनकू सोरेन ने 1952 ई. में लिखा ‘मुहिला चैवेत दाई’ (अध्यापिका महिला)। संताली का पहला कहानी संग्रह ‘कुक्कम्’ (स्वप्न) देवनागरी लिपि में 1952 में प्रकाशित हुआ, जिसके लेखक हैं बाल किशोर बासुकि।”² संतालियों का साहित्य सब आदिवासियों से आगे और समृद्ध है।

1.2.3.2 उराँव

उराँव आबादी की दृष्टि से झारखण्ड का दूसरा बड़ा आदिवासी समुदाय है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 17,16,618 है। उराँव आदिवासी की प्रजाति द्रविड़ है तथा इनकी भाषा ‘कुडुख’ कहलाती है। विपिन कुमार ठाकुर के अनुसार “प्रारंभ में ये मातृसत्तात्मक थे किन्तु कालांतर में पितृसत्तात्मक हो गए हैं। वर्तमान में इनका निवास स्थान राँची, गुमला, सिमडेगा, पलामू, सिंहभूम आदि में है। झारखण्ड के बाहर ये बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश एवं पश्चिम बंगाल में भी पाए जाते हैं।”³ विद्याभूषण के अनुसार उराँवों को कई नामों से संबोधित किया जाता है जैसे कुदा, धांगर और कुडुख आदि। हेमंत ने अपनी पुस्तक ‘झारखण्ड’ में उराँवों के गोत्र के संदर्भ में लिखा है- “उराँव में भी करीब 14 प्रमुख गोत्र पाये जाते हैं- लकड़ा, रुंडा, गाड़ी, बांडी, किसपोट्टा, तिकी, टोप्पो, एक्का, खलखो, लिंडा, मिंज, कुजूर, बेक और केरकेट्टा।”⁴

¹ आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून-2015, पृष्ठ सं.11

² आदिवासी साहित्य परम्परा और प्रयोजन- वन्दना टेटे, पृष्ठ सं.39

³ आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून-2015, पृष्ठ सं.11

⁴ झारखण्ड- हेमंत, पृष्ठ सं.193

उराँव समुदाय में ग्राम प्रमुख को ‘पहान’ कहा जाता है। पहान का पद वंशानुगत होता है। और वह गाँव के समस्त धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करता है। ‘हड़िया’ इनका प्रमुख पेय है। इसका सेवन विशेष अवसरों में देवताओं को चढ़ाने के पश्चात् किया जाता है। ‘घुमकुड़िया’ उराँव युवाओं के लिए मनोरंजन एवं सामाजिक प्रशिक्षण का केन्द्र होता है। घुमकुड़िया की परंपरा अब धीरे-धीरे विलुप्त होते जा रही है।

उराँवों की अर्थव्यवस्था मूलतः खेती और पशुपालन पर आधारित है। ‘अखरा’ इनका सांस्कृतिक स्थल है। जहाँ तरह-तरह के नृत्य-गान संपन्न किये जाते हैं। विपिन कुमार ठाकुर के मतानुसार “इनका मुख्य त्यौहार “सरहुल” है। ये सरना धर्म मानते हैं। इनका लोकप्रिय नृत्य “जदुरा” कहलाता है। उराँव में ही कुछ भगत का रूप धारण करते हैं। वे अपने को माँस-मदिरा के सेवन से दूर रखते हैं। विशेष अवसरों पर ही ये इनका सेवन करते हैं। ये भगत महादेव के उपासक होते हैं।”¹

जो उराँव एक बार भगत का रूप धारण कर लेते हैं वे आजीवन माँस-मदिरा का सेवन नहीं करते हैं। उपर्युक्त अंश विशेष-अवसरों में माँस-मदिरा का सेवन करते हैं सरासर गलत है।

ठाकुर जी अपने लेख में आगे लिखते हैं- “उराँव जनजाति में मृत्यु उपरांत अग्नि संस्कार होता है, पर कई बार शवों को दफनाया भी जाता है। अस्थियों को दफनाने के समारोह को “हाड़बोरा” कहा जाता है। अस्थि कलश को एक स्थान पर गाड़ते हैं तथा स्मृति के लिए एक पत्थर लगा देते हैं।”²

1.2.3.3 मुण्डा

जनसंख्या की दृष्टि से मुण्डा, संताल और उराँव के बाद, तीसरा बड़ा आदिवासी समुदाय है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 12,29,221 है।

मुण्डा आदिवासी पर गहन शोध करने वाले विद्वान शरत चन्द्र राय का मत है कि “ मुण्डा जाति छोटानागपुर में पश्चिम दिशा से 600 ई. पूर्व प्रविष्ट हुई है।”³ इसके आधार पर यह कह सकते हैं कि ये झारखण्ड के प्राचीनतम निवासियों में एक है। मुंडाओं की वंश प्रजाति आस्ट्रो-एशियाटिक है तथा इनकी

¹ आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून-2015, पृष्ठ सं.11

² वही

³ छोटानागपुर का इतिहास: कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.10 उद्धृत

भाषा मुंडारी कहलाती है। मुंडाओं की आबादी मुख्य रूप से जिन जिलों में निवास करती हैं ये हैं- राँची, खूंटी, सिमडेगा और गुमला। इसके अलावा ये लोग असम के चाय बगानों से लेकर अंडमान-निकोबार तक फैले हुए हैं।

मुण्डाओं को दो शाखाओं में बांटा गया है- (1) महली मुण्डा और (2) कोम्पट मुण्डा। महली मुण्डा का निवास क्षेत्र तमाड़ है, जिन्हें 'पातर' नाम से जाना जाता है। मुण्डाओं में गोत्रों (किली) की संख्या 22 हैं जो निम्नवत हैं- तोपनो, बागे, केरकेट्टा, गुड़िया, पूर्ति, होरो, डांग, डोडराय, रुडा, देमता, कंडुलना, ओरेया, भेंगरा, नाग, जोजो, सांगा, लुगुन, बारला, मुंड, धान, कोंगाड़ी। ये गोत्र टोटेम पर आधारित हैं।

मुण्डाओं के बीच भी घुमकुड़िया (गितिओरा) और अखड़ा पाया जाता है जो उनके सामाजिक और सांस्कृतिक स्थल हैं। विपिन कुमार ठाकुर उनके स्वायत्त शासन प्रणाली के बारे में लिखते हैं "मुण्डाओं का प्रथम शासकीय केंद्र "सुतियाम्बे" में था मुण्डा जनजाति के ही कुछ लोग सिंहभूम में जा बसे, वे ही "हो" जनजाति के रूप में जाने जाते हैं।"¹

मुण्डाओं में सहगोत्रीय विवाह वर्जित है। तथा शवों को दफनाने का प्रचलन है। मृतक के स्मृति के लिए पत्थर गाड़ा जाता है। जिसे 'ससनदिरि' कहा जाता है।

इनके ग्राम प्रमुख को 'पहान' और पूजा स्थल को 'सरना' कहा जाता है। मुण्डाओं के सर्वोच्च देवता 'सिंगबोंगा' हैं।

1.2.3.4 'हो'

आबादी की दृष्टि से 'हो' आदिवासी का झारखण्ड में चौथा स्थान है। सन् 2011 ई. जनगणना के अनुसार 'हो' आदिवासियों की जनसंख्या 9,28,289 है। 'हो' भाषा की गणना आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार के अन्तर्गत होती है। विद्याभूषण इनके निवास स्थान के संदर्भ में लिखते हैं " 'हो' जनजाति

¹ आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून-2015, पृष्ठ सं.11

छोटानागपुर के सिंहभूम जिले में बसी हुई है। नोआमुंडी, ईचा गाँव और सरायकेला जैसे कस्बे भी प्रसिद्ध हो चुके हैं। हो क्षेत्र में ही एशिया का सबसे घना जंगल सारंडा है।”¹

‘हो’ आदिवासियों का छऊ नृत्य झारखण्ड का राजकीय नृत्य है। फादर अलबिनस मिंज ने अपनी पुस्तक में इनके प्रशासनिक व्यवस्था का जिक्र किया है “पूरे हो क्षेत्र को 20 गाँवों से पाँच समुदायों में बांटा गया है जो एक मानकी अथवा क्षेत्रीय प्रधान के अधिकार में पीहड़ के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक गाँव का अपना प्रधान होता है जो मुण्डा कहलाता है। मुण्डा लोग मानकियों के अधिकार में रहते हैं।”² इनकी सहायता के लिए मानकी द्वारा सिपाही नियुक्त होते हैं, लेकिन वर्तमान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। समय बदलने के कारण चीजों में परिवर्तन हुआ है। फादर अलबिनस ने किली (गोत्र) और हातू जो ऊपरी तौर पर समान लगते हैं, उनकी भिन्नता को रेखांकित करते हुए किली को सामाजिक ईकाई और हातू को राजनीतिक ईकाई माना है।

यह आदिवासी समुदाय की अर्थव्यवस्था कृषि और वन पर केन्द्रित है। इसके साथ-ही-साथ ये कुटीर उद्योग भी चलाते हैं जो इनके अतिरिक्त आमदनी का स्रोत है।

‘हो’ समुदाय में भी वधू-मूल्य (गोनोंग) चुकाने की परंपरा है। ‘हो’ लोगों में विवाह के अनेक प्रकार हैं। उनमें प्रमुख निम्नांकित हैं- “(1) अण्डी (2) टिकु अण्डी (3) अपोरतिपि (4) राजी-खुशी और (5) अनादेरा। पहले दो में सांस्कारिक, धार्मिक प्रथा अत्यधिक महत्वपूर्ण है जो दूसरे में प्रायः नहीं है।”³

‘हो’ समाज के इतिहास पुरुष कोल गुरु लको बोदरा के बारे में डॉ. सरस्वती गागराई ने लिखा है “जिनके तन में सूर्य सा देदीप्यमान प्रकाश था, मन में गंगा सी स्वच्छ धारा प्रवाहित होती थी, कुशाग्र बुद्धि, कर्मयोगी, प्रभावशाली, परिश्रमी एवं अनुपम गुणों से मंडित व्यक्तित्व का नाम है- लको बोदरा। कोल गुरु लको बोदरा ‘वरांगचिति’ के पुरोधा अन्वेषक और प्रवर्तक थे। उनका जन्म 19 सितम्बर 1919

¹ इतिहास के मोड़ पर झारखण्ड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.60

² झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.107

³ वही, पृष्ठ सं.110

ई. को खूंटपानी प्रखण्ड के पासेया गाँव में हुआ था।”¹ ‘हो’ लोगों का प्रमुख पेय डीयांग (इली) है, जिसे चावल में जड़ी-बूटियों को मिलकर तैयार किया जाता है।

1.2.3.5 खड़िया

झारखंड के प्रमुख आदिवासी समुदायों में ‘खड़िया’ जनजाति भी एक है, जो आस्ट्रीक भाषा परिवार की आस्ट्रोएशियाटिक भाषा के अंतर्गत आती है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार झारखंड में इनकी जनसंख्या 1,96,135 है।

खड़िया जाति के भारत आगमन के संदर्भ में श्री देवनिस सोरेंग का मत है कि “खड़िया जाति और अन्य जनजाति का भारत आगमन 4000 वर्ष ईसा पूर्व, द्रविड़ जाति का आगमन 3000 वर्ष ईसा पूर्व और आर्य जाति का भारत आगमन 2500 वर्ष ईसा पूर्व माना गया है।”²

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि खड़िया जाति का प्रवेश भारत में सबसे पहले हुआ। खड़िया जनजाति की शाखाओं के विभाजन में विद्वानों की मतभेद है “खड़िया समुदाय को मानवशास्त्री रिज्ले ने छह शाखाओं में बांटा है, किन्तु शरतचन्द्र राय ने सिर्फ तीन शाखाओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। राय के अनुसार ये तीन शाखाएं हैं- हिल खड़िया, ढेलकी खड़िया और दूध खड़िया। बरगा खड़ियाओं को उन्होंने अन्य कबीलों और जातियों का मिश्रण माना है। इसी प्रकार मुण्डा खड़िया और उराँव खड़िया मुण्डा और उराँव मिश्रण के वर्ग हैं। निवास की दृष्टि से हिल खड़िया सिंहभूम जिले के दालभूम अनुमंडल में केन्द्रित हैं। ढेलकी खड़िया मुख्यतः राँची जिले में पाए जाते हैं। दूध खड़िया लोगों का निवास भी मुख्यतः इसी क्षेत्र में है।”³

दूध खड़िया का प्रमुख निवास स्थान छोटानागपुर के साथ-साथ छत्तीसगढ़ के रायगढ़ और सरगुजा तथा उड़ीसा के सुंदरगढ़ और सम्बलपुर जिलों तक फैले हुए हैं।

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा- संपा. वन्दना टेटे, अंक-3-4, सितम्बर 09-फरवरी 2010, पृष्ठ सं.11

² खड़िया जीवन और परम्पराएं- फा. जोवाकिम डुंगडुंग, पृष्ठ सं.7, उद्धृत

³ इतिहास के मोड़ पर झारखंड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.62

ढेलकी खड़िया को डेलकी खड़िया भी कहते हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध में अनेक दंतकथाएं प्रचलित हैं। फा. जोवाकिम डुंगडुंग के मतानुसार “जब बच्चे का जन्म हुआ तो (लाडा लेबु) हँसी रिश्ता-वाला व्यक्ति ने कंधे पर ढेला रखा। इस घटना के कारण बच्चे की संताने ढेलकी खड़िया कहलायी।”¹ ढेलकी खड़िया झारखण्ड के गुमला और सिमडेगा जिले में निवास करते हैं। इसके अलावा छत्तीसगढ़ के जशपुर, उदयपुर, सेवनी, रायगढ़, शक्ति, छिन्दतारा, सारंगढ़, बिलासपुर, रायपुर और दुर्ग तक फैले हुए हैं।

दूध खड़िया को अन्य खड़िया शाखाओं से श्रेष्ठ माना जाता है। उनकी सभ्यता उन्नतशील जातियों की सभ्यता के बराबर है। इनके संदर्भ में जोवाकिम डुंगडुंग लिखते हैं “शिक्षा के क्षेत्र में अन्य खड़िया समुदायों में सबसे आगे हैं। इनकी भाषा, संस्कृति और आर्थिक जीवन-स्तर उन्नतशील है।”²

स्पष्ट है जो शिक्षा के महत्त्व को समझेगा, वह समुदाय अपनी भाषा-संस्कृति के प्रति जागरूक तो होगा ही, साथ ही विकास भी करेगा।

खड़िया समुदाय में गोत्रों की संख्या 8 (आठ) है जो टोटम पर आधारित है। ये गोत्र हैं- सोरेंग, कुल्लू, केरकेट्टा, किड़ो, बिलुंग, बा, इन्दवार, टोप्पो।

इस समुदाय में दहन क्रिया को अब बिलकुल छोड़ दिया गया है और शवों को दफनाया जाने लगा है।

1.3 आदिम आदिवासी : संक्षिप्त परिचय

आदिवासी समुदायों में आदिम यानी अति पिछड़ी अवस्था। जो आज भी पूर्ववर्ती जीवन जीने को मजबूर हैं अर्थात् पूरी तरह वनों पर आश्रित है, उन्हें आदिम जनजाति की श्रेणी में रखा गया है। इनके संदर्भ में विपिन कुमार ठाकुर ने लिखा है “कुल 32 जनजातियों में 8 आदिम जनजाति के रूप में चिन्हित किये गये हैं, जिनमे बिरजिया, कोरवा, माल पहाड़िया, सौरिया पहाड़िया, बिरहोर, सावर, परहिया, एवं असुर सूचीबद्ध है।”³

¹ खड़िया जीवन और परम्पराएं- फा. जोवाकिम डुंगडुंग, पृष्ठ सं.36

² वही, पृष्ठ सं.38

³ आदिवासी- संपा. स्नेहलता एक्का, अंक-6, जून 2015, पृष्ठ सं.10

उपर्युक्त 8 आदिम जनजातियों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः इस प्रकार है-

1.3.1 बिरजिया

बिरजिया असुर जनजाति का ही एक उपभाग माना जाता है। इनकी जीवन-शैली असुर के करीब मालूम पड़ती है। बिरजिया का शब्दिक अर्थ है -जंगल निवासी। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड में इनकी जनसंख्या 6,276 है। ये जंगल और पाट क्षेत्रों में बसना पसंद करते हैं। बिरजिया मुख्य रूप से तीन जिलों- पलामू, गुमला और लोहरदगा के कुछ खास क्षेत्रों में निवास करते हैं।

बिरजिया समुदाय में बहु विवाह की छूट है। तथा तलाक और विधवा विवाह का भी प्रचलन है। अखड़ा इनका सांस्कृतिक स्थल है। डॉ. बिमला चरण शर्मा ने बिरजिया को दो भागों में बांटकर देखा है- “सिन्दूरिया और तेलिया। फिर तेलिया के दो उपभाग है- दूध बिरजिया और रश-बिरजिया। इन सबों में खान-पान, शादी-विवाह सभी चलता है। इनमें मूल अन्तर है कि सिंदूरिया सिंदूर का प्रयोग करते हैं किन्तु तेलिया महिलायें अपने माथे में कभी सिंदूर नहीं लगातीं। उसी तरह दूध बिरजिया दूध तो पीते हैं, पर मांस नहीं खाते, जबकि रश बिरजिया दूध भी पीते हैं और मांस भी खाते हैं। बिरजिया में कई टोटेमिक गोत्र होते हैं।”¹

इनके गोत्र कितने और कौन-कौन से हैं उसका जिक्र नहीं मिलता है। बिरजिया समाज की पंचायत न केवल हर तरह के विवादों को निपटाती है, बल्कि परंपरागत रीति-रिवाज और क्रिया-कर्मों को संपन्न करती हैं। डॉ. बिमला चरण शर्मा इनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में लिखते हैं “ये बड़े धर्म भीरु हैं। सरना धर्म का बहुत महत्त्व है। इनका पुजारी बैगा होता है। सरहुल, कर्मा और पूर्वज पूजा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। बलि देते हैं, हड़िया चढ़ाते हैं। देवी-देवता को मानते हैं। जादू-टोना-डायन-ओझा में विश्वास करते हैं। करम, सोहराई फगुवा, सरहुल इनके मुख्य पर्व हैं।”²

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.132-133

² वही, पृष्ठ सं.133

1.3.2 कोरवा

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार कोरवा समुदाय की जनसंख्या 35,606 है। फादर अलबिनस मिंज के मतानुसार “कोरवा लोग कोलेरियन जनजाति के हैं जो सुरगुजा, जशपुर और पलामू में पाये जाते हैं।”¹

डॉ. बिमला चरण शर्मा ने कोरवा समुदाय के बारे में लिखा है कि “ सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान अच्छा है। परिवार पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय होता है। ये कई किली (गोत्र) में बंटे हुए हैं। गोत्र चिन्ह का प्रयोग नाम के साथ नहीं करते।”²

क्या ऐसा संभव है कि कोई समुदाय बिना गोत्र (जाति) के कैसे अपनी अस्मिता बनाए रख सकता है? उक्त अंतिम वाक्य संदिग्ध है जो हमें सोचने को विवश करता है। इस समुदाय में शव को दफनाने की प्रथा अधिक प्रचलित है। इनके पुजारी को बैगा कहते हैं।

1.3.3 माल-पहाड़िया

पहाड़िया समुदाय अपनी लड़ाकू प्रवृत्ति एवं स्वतंत्रता प्रेमी होने के कारण प्रसिद्ध रहा है। माल-पहाड़िया, पहाड़िया की दो शाखाओं में एक है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 1,35,797 है।

माल-पहाड़िया पर विचार करने वाले विद्वान अनेक हैं उनमें- “रिजले ने माल-पहाड़िया को द्रविड़ वंश का माना है। इनकी भाषा ‘माल्तो’ है जो द्रविड़ भाषा परिवार की मानी जाती है।”³

माल-पहाड़िया मुख्य रूप से संताल परगना के सभी जिलों में निवास करते हैं। इसके अतिरिक्त वे झारखण्ड के गढ़वा-पलामू-लातेहार जिलों में निवास करते हैं, लेकिन इस क्षेत्र में उनकी संख्या बहुत कम है। राजमहल की पहाड़ी, पहाड़िया समुदायों की वजह से ही प्रसिद्ध है। इनका घर प्रायः पहाड़ की तराइयों में झोपड़ीनुमा होता है, जो लकड़ी, बांस व घास-फूस के बने होते हैं। पहाड़िया लकड़ी के सामान जैसे-

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.133

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.101

³ वही, पृष्ठ सं.142

खटिया, मंचिया, चटाई व रस्सी बनाने में माहिर हैं। डॉ. बिमला चरण शर्मा के मतानुसार “इनका मुख्य भोजन मकई, बाजरा और बरबटी है। महुआ, इमली केंदू कटहल आदि भी इनके भोजन में शामिल हैं। खरहा, सूअर, बकरा, मुर्गा एवं पक्षियों का मांस खाते हैं। प्रिय पेय पोचाई या माड़ी है।”¹

यह समुदाय वर्तमान में लकड़ी बेचकर अपना गुजरा करने को मजबूर है। इनके बीच भूत-प्रेत, जादू-टोना, डायन-विषाही जैसे अन्धविश्वास व्याप्त हैं। इस समुदाय में शिक्षा का सख्त अभाव है। इनका ग्राम प्रमुख ‘मांझी’ कहलाता है इनके ऊपर बहुत सी जिम्मेदारियां होती हैं।

1.3.4 सौरिया-पहाड़िया

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 46,222 है। सौरिया-पहाड़िया, पहाड़िया समुदाय की दूसरी शाखा है। इनकी आर्थिक-व्यवस्था मूलतः कृषि और वन पर आश्रित है। ये शिकार प्रेमी हैं। अनेक प्रमाणों के आधार पर “संताल परगना गजेटियर सौरिया को सब से पुराना बाशिंदा मानता है। औ’ मेलि के अनुसार इनका मूल स्थान कर्नाटक माना जाता है जहाँ से राजमहल की पहाड़ियों में आ बसे। इनकी भाषा ‘माल्तो’ द्रविड़ भाषा परिवार से सम्बंधित है। ये बंगला भाषा का प्रयोग करते हैं। ये अपने को मलेर कहते हैं।”²

सौरिया में वधू मूल्य (पौन) चुकाना अनिवार्य है तथा अन्य आदिवासी समुदायों की तरह विधवा विवाह की छूट है। तलाक विशेष परिस्थितियों में होता है। इनकी स्वायत्त शासन व्यवस्था के संदर्भ में शर्मा जी लिखते हैं “गाँव का प्रबंधन मांझी करता है। ग्राम पंचायत ही सारे विवादों का निपटारा करती हैं। 15-20 गाँवों पर एक ‘नायक’ और 70-80 गाँवों पर एक ‘सरदार’ होता है।”³

1.3..5 बिरहोर

बिरहोर झारखण्ड की विलुप्त होती जा रही आदिम जनजातियों में से एक है। यह समुदाय खानाबदोशी जीवन जीता है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 10,726 है। डॉ.

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.143

² वही, पृष्ठ सं.152

³ वही, पृष्ठ सं.153

बिमला चरण शर्मा ने इस समुदाय को दो वर्गों में बांटा है- जांघी बिरहोर और उथलू बिरहोर। जांघी बिरहोर स्थायी रूप से बसे होते हैं एवं खेती करते हैं। उथलू बिरहोर घुमंतू जीवन जीते हैं।

फोरबिस के मतानुसार “बिरहोर निःसंदेह मुण्डा की एक शाखा है और इनकी बोली बिरहोरी मुंडारी से मिलती-जुलती है।”¹

डॉ. बिमला चरण शर्मा ने इनका निवास क्षेत्र “मुख्यतः हजारीबाग, चतरा, कोडरमा, राँची, सिमडेगा, पश्चिमी सिंहभूम, बोकारो, गिरिडीह और गढ़वा आदि जिलों में पाए जाते हैं।”²

1.3.6 सावर

इस आदिम जनजाति के नाम को लेकर लेखकों में मतभेद है। शैलेन्द्र महतो ने इसे ‘सबर’, फादर अलबिनस मिंज ने इसे ‘साबर’, तो डॉ. बिमला चरण शर्मा ने इसे ‘शबर’ और विपिन कुमार ठाकुर ने ‘सावर’ लिखा। क्या कारण है कि इस आदिम जनजाति के नाम को लेकर लेखकों की अलग-अलग मत है ऐसी स्थिति में किसे सटीक तथा सही माना जाय, एक चुनौती है।

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 9,688 है। फादर अलबिनस मिंज ने इनके बारे में लिखा है कि “साबर जनजाति बिहार राज्य की एक छोटी जनजाति है जो मूलतः सिंहभूम, राँची और हजारीबाग जिलों में वास करती है।”³

डॉ. बिमला चरण शर्मा शबरों के संस्कारों के संदर्भ में लिखते हैं “विवाह में वधू-मूल्य दिया जाता है। बाल-विवाह का प्रचलन है। एक विवाह आम है, किन्तु एक से अधिक पत्नी रखने पर रोक नहीं है। विधवा विवाह और तलाक का प्रचलन है। मृत्यु के बाद शव गाड़ने की प्रथा अधिक है। दाह-संस्कार कम होते हैं। संक्रामक रोग से मर जाने पर लाश को जंगल में फेंक दिया जाता है, उसे न दफनाते हैं, न जलाते हैं।”⁴

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.133

² वही, पृष्ठ सं.133-134

³ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.168

⁴ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.155

फादर अलबिनस मिंज के अनुसार इस समुदाय में गोत्र प्रणाली नहीं है, विवाह रिश्तेदारी के आधार पर तय होते हैं, इनके ग्राम प्रमुख को 'प्रधान' कहते हैं।

1.3.7 परहिया

विभिन्न विद्वानों ने इस समुदाय को भिन्न-भिन्न दृष्टि से रेखांकित किया है, "हंटर ने परहिया को उद्दाम-उदंड जनवर्ग के रूप में बताया है। डाल्टन ने इन्हें किसी महान घुमक्कड़ जाति का अवशेष बताया है। ओ' मेले ने डाल्टन का समर्थन किया है। संडर इसे द्रविड़ समूह की जनजाति मानते हुए कहते हैं कि ये मूल रूप से पलामू के महाराजा के 'दुआर पुजार' थे। ब्रिज टी. डब्ल्यू (1931) परहिया को उदंड जनजाति मानते हैं। रिजले ने इन्हें पलामू का लघु द्रविड़ जनजाति कहा है। परहिया लोक-कथा से यह संकेत मिलता है कि ये शिव के वंशधर हैं।"¹

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 25,525 है। इनकी अधिकतर जनसंख्या कृषि पर कम, वन पर ज्यादा आश्रित हैं। रिजले ने इनके गोत्रों की संख्या 9 बताया है, जबकि कहा जाता है कि परहिया अपने गोत्र भूल चुके हैं। डॉ. बिमला चरण शर्मा ने इनके शासन प्रणाली के बारे में लिखा है- "इनके यहाँ जाति पंचायत है जिसे 'भैयारी' या 'जाति गोठ' कहते हैं। आठ-दस गाँव पर अंतर्ग्रामिण पंचायत को 'कोरा भैयारी' कहा जाता है। पंचायत का मुखिया 'महतो' होता है और सहायक 'कहतो'।"²

1.3.8 असुर

असुर आदिम जनजाति का भारत आगमन 4000 ई. पूर्व माना जाता है। असुर आस्ट्रिक भाषा परिवार के अन्तर्गत आती है। फादर अलबिनस मिंज ने लिखा है कि "असुर परिवार के प्रमुख प्रारूप जातियां नाभिक संयुक्त और विस्तृत परिवारों के होते हैं और प्रायः सबसे सक्षम सदस्य परिवार के प्रबंधन और संरक्षण का कार्य संभालते हैं।"³ सन् 2011 की जनगणना के अनुसार असुरों की जनसंख्या 22,459 है।

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.121

² वही, पृष्ठ सं.122

³ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.72

डॉ. शर्मा जी ने उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के बारे में लिखा है “परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय होता है। ये तीन उपजातियों में –बीर असुर (जंगलों में निवास करने वाला), बिरजिया असुर (घुम-घुम कर खेती करने वाला) और आगरिया असुर(लोहा गलाने वाले) में बंटे हुए हैं। इनमें अनेक गोत्र पाए जाते हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु- तीन समारोह मनाये जाते हैं। विवाह में वधू-मूल्य की प्रथा है और कई तरह के विवाह प्रचलित हैं, जैसे- सेवा विवाह, अपहरण विवाह, गोलट आदि। विधवा विवाह और तलाक की प्रथा है। असुर शव को दफनाते हैं।...असुर सोहराई, सरहुल, फगुवा, नवाखानी आदि पर्व मनाते हैं।”¹

असुर समुदाय वर्तमान में अस्तित्व संकट के विकट दौर से गुजर रहा है, जिसका चित्रण रणेन्द्र का उपन्यास ‘ग्लोबल गांव के देवता’ में हुआ है।

1.4 अन्य आदिवासी : संक्षिप्त परिचय

झारखण्ड के कुल 32 आदिवासियों में 5 को प्रमुख आदिवासी और 8 को आदिम जनजाति के अन्तर्गत रखा गया है तथा शेष 19 आदिवासियों को अन्य जनजाति कहा गया है, इनके नामकरण के आधार की चर्चा नहीं की गई है। ये हैं- बैगा, बथुडी, बेदिया, भूमिज, बिझिया, गोंड, चैरो, चीक-बड़ाईक, गोड़ाईत, करमाली, खरवार, खोंड, किसान, कोरा, लोहरा, महली, बंजारा, कंवर, कोला।

1.4.1 बैगा

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 3,582 है। जो इनके अस्तित्व संकट का द्योतक है। बैगा समुदाय से सम्बंधित बहुत कम जानकारियाँ उपलब्ध हैं। डॉ. बिमला चरण शर्मा के अनुसार- “ये प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति वर्ग में आते हैं। इनका कोई निश्चित इतिहास नहीं मिलता ... अभी भी मध्यप्रदेश में इनकी संख्या अत्यधिक है। झारखण्ड में ये मुख्यतः पलामू, गढ़वा, राँची, हजारीबाग आदि जिलों में पाए जाते हैं।”²

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.90-91

² वही, पृष्ठ सं.136

डॉ. एल्विन, बैगा जनजातियों को समझने के लिए रिजले, रसेल और हीरालाल का सहारा लेते हैं, उनके विचार द्रष्टव्य हैं- “बैगा नाम का अर्थ है जादू-तंत्री अथवा वैद्य । जो छोटानागपुर की जनजातियाँ खैरवार के पुजारियों की गिनती में हैं। रसेल को उद्धरित करते हुए वे आगे लिखते हैं कि मध्य प्रान्तों में बैगा लोग असल में भुइया शाखा के हैं। छोटानागपुर में भुइया लोग साधारणतः पुजारी के रूप में कार्यरत हैं और इसलिए दोनों जन-जातियों की मौलिक पहचान का एक विषय है।”¹

इस समुदाय में शिक्षा का सख्त अभाव है। इनकी कोई खास बोली-भाषा नहीं है। इनमें टोटेमिक गोत्र नहीं पाया जाता है।

1.4.2 बथुडी

यह जनसंख्या की दृष्टि से झारखण्ड की लघु समुदाय है। शरतचन्द्र राय ने इन्हें उड़ीसा की जनजाति माना है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 3,464 है। डॉ. बिमला चरण शर्मा ने इनकी जनसंख्या का वितरण प्रतिशत के आधार पर किया है- “कुल आबादी का 64.7 प्रतिशत सिंहभूम जिला (पुराना) में निवास करता है। इसके बाद गुमला-सिमडेगा (9.9 प्रतिशत), हजारीबाग (पुराना),-धनबाद (8.8 प्रतिशत), संताल परगना (12 प्रतिशत), पलामू-(गढ़वा),-लातेहार (2.6 प्रतिशत) का स्थान आता है। राँची जिला में केवल 26 और लोहरदगा में मात्र एक बथुडी पाये जाते हैं।”²

सिंहभूम के बथुडियों पर हिन्दू धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। इनकी गोत्र प्रणाली टोटमिक है। तथा समगोत्रिय विवाह वर्जित है। ग्राम प्रमुख ‘देहरी’ कहलाता है, जो धर्मिक अनुष्ठान संपन्न करता है।

1.4.3 बेदिया

फादर अलबिनस मिंज के मतानुसार “बेदिया लोग अपने को वेद पंथी कहते हैं। इनका समुदाय हजारीबाग जिले के बरकाकाना क्षेत्र थाना अन्तर्गत मोहूदी नगर-गढ़ के चारों ओर बसा था। इसके मोहूदी नगर का किला सोहराई के दिन में अज्ञात लोगों द्वारा आक्रमण किया गया और सारा समुदाय में एक

¹ झारखण्ड विरासत- फा. अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.76

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा पृष्ठ सं.125

युवक और युवती को छोड़ मौत के घाट उतार दिया गया।”¹ कहना नहीं होगा उक्त घटना लोक-कथा पर आधारित प्रतीत होती है, जो उनके ऐतिहासिक पक्ष को उद्धाटित करता है। स्वयं को वेद पंथी कहना हिन्दू घोषित करने के समान है जबकि ये प्रकृति के पूजक हैं।

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 10,061 है। इस समुदाय में समगोत्रिय विवाह वर्जित है। तथा वधू-मूल्य देने की परम्परा है। इनके बीच मूलतः जन्म, विवाह और मृत्यु संस्कार संपन्न किये जाते हैं। बेदिया पर हिन्दुत्व का अत्यधिक प्रभाव है। “1991 की जनगणना में 99.6 प्रतिशत बेदिया को हिन्दू दर्शाया गया है।”² जबकि ये शुद्ध रूप में प्रकृति पूजक हैं। सोहराई, सरहुल और करमा इनके प्रमुख त्यौहार हैं।

1.4.4 भूमिज

भूमिज का सीधा-सरल अर्थ है- ‘भूमि-पुत्र’। शुरूआती काल में कृषि कार्य अपनाने के कारण यह नाम दिया गया होगा। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 2,09,448 है। भूमिजों की लड़ाकू एवं विद्रोही प्रवृत्ति इतिहास प्रसिद्ध है। इन्हें बदनाम करने के लिए ‘चुहाड़’ (चोर-लुटेरा) उपनाम से सम्बोधित किया गया। रिजले इन्हें मुण्डा समुदाय की एक शाखा मानते हैं।

डॉ. बिमला चरण शर्मा के अनुसार “भूमिजों की कुल जनसंख्या 1,55,961 है। जिसमें 52 प्रतिशत पूर्वी सिंहभूम तथा 46.8 प्रतिशत पश्चिमी सिंहभूम-सरायकेला में हैं, अर्थात् कुल जनसंख्या का 98.8 प्रतिशत भूमिज सिंहभूम (पुराना) जिला में निवास करते हैं।”³

इनका विस्तार उड़ीसा के मयूरभंज जिले तक है। इनपर हिन्दू धर्म का अत्यधिक प्रभाव है, जिससे वे अपने मूल ‘सरना धर्म’ को भूलते जा रहे हैं। और इनकी जातीय पंचायत भी कई कारणों से कमजोर होते जा रही है।

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनुस मिंज, पृष्ठ सं.79

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.129

³ वही, पृष्ठ सं.138

1.4.5 बिड़िया

यह समुदाय का स्पष्ट मानना है कि 'बिड़िया' नाम अन्य समुदायों द्वारा उन्हें थोपा गया है, जिससे वे नाखुश थे। इस संबोधन को लेकर कई बार झगड़ा भी हुआ। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 14,404 है।

फादर अलबिनस मिंज के अनुसार “बिड़िया समाज में सजातीय विवाह प्रचलित है। ये विभिन्न सम्प्रदायों में बंटे हैं और एक दूसरे को अपने सम्बन्धी मानते हैं- (1) नाग, (2) दादुल, (3) कांसी, (4) भराव, (5) कच्छप, (6) कोशिक और (7) अग्निहोत्री सात सम्प्रदाय हैं।”¹

समगोत्रिय विवाह इनमें भी अन्य समुदायों की तरह वर्जित है। गो मांस भक्षण, माँ-बाप के प्रति कठोर बर्ताव और पारगमन बिड़िया में मान्य अपराध है। यह नियम बिड़िया समुदाय को नियंत्रित और संगठित रहने की अपील करता है। इनके निवास क्षेत्र के संदर्भ में शर्माजी लिखते हैं- “ये मुख्यतः राँची, लोहरदगा, गुमला एवं सिमडेगा जिला में पाए जाते हैं। कुछ दुमका-जामताड़ा जिले में भी मिलते हैं।”²

ध्यातव्य है आदिवासियों के लिए निवास करते हैं, के बदले पाये जाते हैं, मिलते हैं, जैसे वाक्यों का प्रयोग, एक बार नहीं बारंबार हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो ये इंसान नहीं, खोये हुए जंगली जानवर हैं।

1.4.6 गोंड

गोंड जनसंख्या की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी जनजाति है। मूलतः वे गोंडवाना क्षेत्र के निवासी हैं तथा वहीं से झारखण्ड की ओर रुख किये। इतिहास से पता चलता है कि गोंडों का राज-पाट था और उसके शासन काल में राज्य की सम्पन्नता का पता चलता है। गोंड बड़े बहादुर, साहसी और लड़ाकू होते हैं। इनका सामना समय-समय पर मुगलों और मराठों से हुआ।

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.84

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र, डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.129

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या झारखण्ड में 53,676 है। फादर अलबिनस मिंज ने गोंड समाज को तीन वर्गों में विभक्त किया है- “(1) अभिजात (2) काश्तकार (3) मजदूर”¹ पहला शासक वर्ग राजगोंड कहलाते हैं। ये गाँव के जमीन मालिक होते हैं। दूसरा घूर अथवा पुस्त गोंड कहलाते हैं ये किसान वर्ग के लोग होते हैं। तीसरा मुरिया गोंड हैं। ये भूमिहीन मजदूर हैं।

डॉ. बिमला चरण शर्मा के द्वारा गोंड जनसंख्या का विवरण है- “इनका सघन बसाव गुमला-सिमडेगा (43.2 %), प. सिंहभूम-सरायकेला (25 %), पुराना पलामू जिला (8 %) तथा पुराना हजारीबाग (6.4 %) में है”² इनके पुजारी को बैगा कहते हैं। इनके प्रमुख देवता ‘ठाकुर देव’ और ‘ठाकुर देई’ है जो सूर्य और धरती के प्रतीक हैं।

1.4.7 चैरो

“चैरो लोग चैरू अथवा चरुवा नाम से भी जाने जाते हैं। पलामू में खरवार लोग जिस तरह ‘तेरह हजार’ कहलाते हैं ऐसे ही चैरो लोग ‘बारह हजार’ के नाम से भी जाने जाते हैं। समकालीन चैरो समुदाय पलामू में दो प्रमुख, दो सजातीय विवाह के विभाजनों में विभक्त हैं- (1) बारह हजारी, (2) तेरह हजारी। पहले के राजा-महाराजा के वंशज बारह हजारी चैरो लोगों के बीच स्वयं को बबुआन कहते हैं और साधारण लोगों से अपने को उच्चतर मानते हैं। तेरह हजारी लोगों का दूल्हा नाम विरडंडिया है और फोरबस के अनुसार- वे बारह हजारी लोगों की दोगली संतान है”³

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 95,575 है। चैरो जनजाति का गौरवशाली इतिहास रहा है। ये बड़े वीर और लड़ाकू थे।

1.4.8 चीक-बड़ाईक

इस समुदाय का मुख्य पेशा कपड़ा बुनना है। ये लोग लंगोटा, करया, साड़ी और पर्दा आदि बनाते हैं, लेकिन आधुनिक ‘बाजार’ ने उनके पेशे को अत्यधिक प्रभावित किया है। सन् 2011 की जनगणना

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.102

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.112

³ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.94

के अनुसार इनकी जनसंख्या 54,163 है। “हैलेट के अनुसार ये ‘बुनकर आर्यो’ के वंशज हैं जो बहुत पहले ही झारखण्ड में बस गए थे।”¹

चीक-बड़ाईक लोगों को आज भी गाँवों में सदान माना जाता है। उनके बारे में शर्मा जी लिखते हैं “इनकी स्थिति त्रिशंकु की तरह है। आदिवासी समाज सोचता है कि हिन्दू होकर भी आदिवासी का लाभ ले रहे हैं और हिन्दुओं की सोच है कि जनजातीय संस्कार से जुड़े होकर भी सम्मान पाने के लिए उनसे जुड़े हैं। यह मिश्रित या ‘सीमांत संस्कृति’ का सुन्दर उदाहरण पेश करता है।”² इनकी अपनी पंचायत नहीं होती है।

1.4.9 गोड़ाइत

“बिहार में एक जाति दुसाध है जिसे गोड़ाइत भी कहते हैं किन्तु ये झारखण्ड के गोड़ाइत से भिन्न हैं। यहाँ ये अनुसूचित जनजाति हैं और प्रोटो-आस्ट्रोलायड प्रजाति के हैं, जबकि बिहार के गोड़ाइत अनुसूचित जाति में आते हैं। दोनों में शारीरिक एवं सांस्कृतिक भेद है। गोड़ाइत की बोली मुण्डा भाषा परिवार की है किन्तु ये सदानी, हिन्दी व स्थानीय बोली का उपयोग करते हैं।”³

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या झारखण्ड में 4,973 है। यह झारखण्ड की एक अल्पसंख्यक जनजाति है। इनकी सबसे घनी आबादी राँची जिला (पुराना) में है, इसके अलावा ये सिंहभूम, हजारीबाग-धनबाद और संताल परगना के जिलों में निवास करते हैं। प्रत्येक अनुष्ठान संपन्न करने के पूर्व पूर्वजों को याद करना, इनके धर्मिक अंग है। गोड़ाइत समुदाय के कुछ रैयतिक नियम इस प्रकार हैं-

- “(1) दामभागाधिकार- पितृ प्रधान है। बेटों के बीच जायदाद का बराबर बंटवारा किया जाता है।
- (2) विवाह के बाद किसी दूसरे पुरुष के साथ अपने पति को छोड़कर यौन सम्बन्ध एक अपराध है।
- (3) विवाह के पहले यौन सम्बन्ध निषेध है।

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.116

² वही, पृष्ठ सं.118

³ वही, पृष्ठ सं.114

(4) जादू-टोना बर्दाश्त नहीं किया जाता है। डायन-विषाही लोगों को पाए जाने पर गाँव से बहिष्कृत किया जाता है।

(5) विधवा विवाह अनुमत है।

(6) तलाक, क्रूरता, बांझपन, नपुंसकता, पारगमन इत्यादि कारणों से जनजातीय पंचायत द्वारा किया जाता है।

(7) तलाक देने वाले व्यक्ति पुनः विवाह कर सकते हैं।”¹

उक्त रैयतिक नियम कुछ मामलों में अन्य आदिवासियों की अपेक्षा अधिक कठोर है।

1.4.10 करमाली

करमाली भी मुण्डा समुदाय की एक शाखा थी, किंवदंतियों के अनुसार कालांतर में ये लोग लोहा व्यवसाय अपनाने के कारण मुंडाओं से निम्न स्तर के माने जाते हैं। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 64,154 है। करमाली झारखण्ड की एक प्राचीन शिल्पकार जनजाति है। ये घरेलू सामान के साथ-साथ अन्य चीजें भी बनाते हैं। जिनके संदर्भ में शर्मा जी ने लिखा है- “कृषि उपकरणों में कोड़ी खुरपी, हँसुआ, कुदाल, टांगी, हल-फार, जुआट आदि, शिकार करने के लिए तीर-धनुष, तलवार आदि तथा मछली पकड़ने के लिए जाल, कुमनी, बंसी, घोंघी आदि रखते हैं।”²

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये लोग कृषि एवं घरेलू सामान बनाने में दक्ष हैं। इनका सर्वोच्च देवता सिंगबोगा है। अनुष्ठानों में पूर्वजों को याद करते हुए ‘हड़िया’ को तपान के रूप में चढ़ाते हैं। इनके प्रमुख त्यौहार सोहराय, करमा, नवाखानी और सरहुल हैं।

1.4.11 खरवार

खरवार नामकरण के पीछे अनेक किंवदंतियाँ हैं। डॉ. सत्य प्रकाश गुप्ता के अनुसार “ ‘खेरियार’ स्थान से यहाँ आने के कारण खरवार कहलाए।”³ दूसरी आम धारणा है- खरवारों के पूर्वजों के निवास

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.106

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.96

³ वही, पृष्ठ सं.106

क्षेत्र में काफी संख्या में 'खैर' (वृक्ष) पाये जाते थे, जिसके कारण ये 'खैवार' कहलाये। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 2,48,974 है। ये अनेक शाखाओं में बंटे हुए हैं। सुन्दर के अनुसार ये पलामू में निम्नलिखित ईकाइयों में विभक्त हैं- “(1) सूर्यवंशी (2) दौलातवंशी (3) बटवंशी (4) खेरी (5) भोगती गोझू और (6) मांझी। उसी प्रकार रांची जिले में – (1) देयवारी खरवार (2) भोगता (3) राउत और (4) मंझिया इकाइयों में विभाजित हैं।”¹

उक्त इकाइयों से किसी काल में इनके शासक होने का एहसास होता है। “रिजले खरवार का मूल स्थान रोहतास गढ़ मानते हैं तथा रोहिताश्व (राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र) से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। डाल्टन इन्हें सन्थाल से सम्बन्धित मानते हैं।”² इनके बारे में विद्वानों में मतभेद है। जनसंख्या का तीन चौथाई खरवार पलामू-गढ़वा-लातेहार जिले में निवास करते हैं।

1.4.12 खोंड

खोंड जनजाति की संख्या बहुत कम रह गई है। इनकी जनसंख्या तीव्र गति से घट रही है। 1991 ई. की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 1,595 थी जो घटकर सन् 2011 की जनगणना के अनुसार 221 रह गई है। खोंड के सामाजिक जीवन और संस्कार के संदर्भ में डॉ. बिमला चरण शर्मा लिखते हैं- “विवाह अपना गोत्र छोड़कर करते हैं। ये प्रायः एक विवाही होते हैं। विवाह के पूर्व यौन-सम्बन्ध पर विशेष कड़ाई नहीं है पर विवाहेत्तर सम्बन्ध बरदाश्त नहीं किया जाता है। वयस्क विवाह का प्रचलन है। इनके समाज में 'शयानागार' प्रथा समाप्त हो रही है। विवाह सिन्दूर-दान के साथ संपन्न होता है। मृत्यु के बाद शव को गाड़ने और जलाने की प्रथा है। मृत्यु-छूत नौ दिनों का होता है। फिर भोज दिया जाता है।”³

ग्राम-व्यवस्था का मुखिया 'गौटिया' कहलाता था। अब यह व्यवस्था कमजोर और लगभग मृतप्राय हो चुकी है, जिसका स्थान ग्राम-पंचायत ले चुकी है। उक्त आकड़ों के आधार पर यह कह सकते हैं कि यह समुदाय कुछ वर्षों में शीघ्र ही विलुप्त हो जायेगी।

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.119

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.106

³ वही, पृष्ठ सं.111

1.4.13 किसान

डाल्टन ने किसान को पांडवों का बहिष्कृत वंशज माना है। शुरूआती दौर में कृषि-कार्य में रूचि लेने और मेहनती होने की वजह से शायद ये जनजाति 'किसान' कहलाये। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 37,265 है। डॉ. बिमला चरण शर्मा के अनुसार “ये अपने को मध्यप्रदेश का मूल निवासी मानते हैं और वहीं से ये पलामू में आए। इनका मुख्य निवास स्थल (पुराना) पलामू और राँची जिला है।”¹

इनके धर्म का कोई खास स्वरूप दिखाई नहीं देता है। इनके पुजारी को बैगा कहते हैं। इस समुदाय के विश्वास और संस्कार इस प्रकार हैं- “बच्चों के जन्म को ईश्वर की कृपा मानते हैं। संतान न होना या होकर मर जाना दैवी प्रकोप माना जाता है। ये छठी-मुंहजुठी संस्कार मनाते हैं। एक विचित्र सामाजिक प्रथा यह है कि लड़की जन्म लेने पर प्रसूति के हाथ का बनाया भोजन पति पांच माह तक और लड़का होने पर छह माह तक नहीं खाता।”² संतान उत्पन्न होने पर इतनी लम्बी प्रथा अन्य आदिवासियों में दृष्टिगत नहीं होता है।

1.4.14 कोरा

“कोरा जनजाति के लोग अधिकांश जनजातियों के समान कुछ असगोत्रीय वंशों में जैसे आलू, वरदा, लू, बुटका, हंसदा, केसयाली, कासीबक, सागा, साल, सनदू, कौरी, समदवार, टोप्पोवार इत्यादि वंशों में बांटे गए हैं।”³ उक्त विभाजन से स्पष्ट है कि अन्य जनजातियों में इतनी संख्या में वंश नहीं है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 32,786 है। अन्य आदिवासी समुदायों की अपेक्षा इस समुदाय में विवाह पूर्व यौन-सम्बन्ध को अपराध माना जाता है तथा इसकी सजा सामाजिक बहिष्कार तक हो सकता है।

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.98

² वही, पृष्ठ सं.99

³ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनुस मिंज, पृष्ठ सं.131

“कोरा मुख्यतः (एकीकृत) रांची, हजारीबाग, सिंहभूम, पलामू व संथाल परगना में पाए जाते हैं। झारखण्ड के निम्न पठारी एवं राजमहल पहाड़ी भू-भाग इनका मुख्य निवास क्षेत्र है जहाँ भूमि उबड़-खाबड़ और जंगलों से भरपूर है।”¹

1.4.15 लोहरा

लोहरा का काम करने की वजह से ये समुदाय ‘लोहरा’ कहलाये। इनका अपना कोई विशेष गाँव नहीं होता है। ये लगभग प्रत्येक आदिवासी गाँवों में एक-दो परिवार करके अवश्य निवास करते हैं। इनका मुख्य पेशा कृषि कार्यों में उपयोग होने वाले उपकरणों को तैयार करना एवं उसकी मरम्मत करना है। जैसे- फाल, हसुआ, गेईंता, कुदाल, कुल्हाड़ी, सावल, हल इत्यादि। इनके सेवा के एवज में मजदूरी इन्हें वर्ष के अंत में दी जाती है।

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 2,16,226 है। इनकी कोई अपनी विशेष भाषा नहीं होती है, वे जिस क्षेत्र में रहते हैं उसी क्षेत्र की भाषा बोलते हैं। धर्मिक और सामाजिक जीवन के संदर्भ में डॉ. बिमला चरण शर्मा ने लिखा है- “इनका धर्म सिंगबोंगा, विश्वकर्मा आदि देवी-देवता से जुड़ा है। पूर्वज-पूजा में भी आस्था है। पूजा में बलि चढ़ाते हैं। इनके मुख्य पर्व सरहुल, करमा, सोहराई जीतिया आदि हैं।”² आदिवासियों में इन्हें सबसे नीच समझा जाता है।

1.4.16 महली

इनका मुख्य पेशा बांस से अनेक प्रकार के सामान तैयार करना है। जैसे- टोकरी, दउरा, सूप, झाड़ू, मोचू, कुमनी, तीर-धनुष आदि। डॉ. बिमला चरण शर्मा के अनुसार इनका निवास क्षेत्र- “राँची, लोहरदगा, गुमला, सिमडेगा, सिंहभूम, संथाल परगना, हजारीबाग, धनबाद आदि जिलों में पाए जाते हैं।”³

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 1,52,663 है। महली समुदाय की उत्पत्ति और प्रवासन के संदर्भ में रिजले ने लिखा है कि ये पांच उप-जातियों में विभक्त है-

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.102

² वही, सं.149

³ वही, पृष्ठ सं.140

- (1) बांस महली- जो टोकरी बनाते हैं और बांस के सब प्रकार के काम करते हैं।
- (2) पातोर महली – टोकरी बनाने वाले और खेतिहर।
- (3) सुलूंखी – जो खेत जोतते हैं और मजदूरी का काम करते हैं।
- (4) तांति महली – जो पालकी ढोते हैं।
- (5) महली मुण्डा – जो एक उपजाति होती है और लोहरदगा के क्षेत्रों में ही जिसका निवास स्थान सीमित है।¹

कहना नहीं होगा महली समुदाय को व्यवसाय के आधार पर उक्त विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है। महली युवकों के बायें हाथ में और युवतियों के कपाल पर विशेष प्रकार का गोदना (खोदा) चिन्ह किया जाता है जो उनके पहचान और सहनशीलता की निशानी है।

1.4.17 बंजारा

ये घुमक्कड़ होने के कारण लगभग पूरे देश में निवास करते हैं। इन्हें खानाबदोसी जीवन पसंद है। वे कहाँ, कितने दिनों तक टिकेंगे कहना मुश्किल है, लेकिन अब उनमें बदलाव आया है। शर्मा जी के अनुसार “वेद काल में बंजारे पशुओं का लेन-देन करते थे। रिजले के अनुसार वे मवेशी और अनाज का व्यापार करते थे। 1956 ई. में इन्हें अनुसूचित जनजाति की सूची में दर्ज किया गया।”²

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार झारखण्ड में इनकी जनसंख्या 487 है। जो इनके अस्तित्व-संकट की ओर इशारा करती है। अलग-अलग राज्यों में इनकी स्थिति भिन्न-भिन्न है। आंध्रप्रदेश-तेलंगाना के बंजारे समृद्ध हैं एवं कृषि कार्य करते हैं तथा इनके गाँवों को ‘तांडा’ कहते हैं।

बंजारा लोग कुत्ता अवश्य पालते हैं। कुत्ता उन्हें आत्मसुरक्षा और शिकार खेलने में मदद करता है। इनके पोशाक अनूठे हैं, विशेष कर महिलाओं के। ये घाघरा, ओढ़नी और कच्छी पहनती हैं। इनपर हिंदुत्व का बहुत अधिक प्रभाव है।

¹ झारखण्ड विरासत- फादर अलबिनस मिंज, पृष्ठ सं.137-138

² झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.123

1.4.18 कंवर

“झारखण्ड में निवास करने वाले कंवर मूलतः मध्यप्रदेश में रहने वाले कंवर के ही अंग हैं। कंवर अपनों को कौरवों के उत्तर-जीवियों के वंशज बतलाते हैं। रिजले भी इस विचार का समर्थन करते हैं। डॉ. कुमार सुरेश भी उनकी उत्पत्ति कौरवों से मानते हैं।”¹

उक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि झारखण्ड में निवास करने वाले कंवर समुदाय, मध्यप्रदेश के पलायित लोग हैं। “2001 की जनगणना के अनुसार इनकी कुल जनसंख्या 10,000 है। इनका मुख्य संकेन्द्रण डुमरी, चैनपुर और कुरडेग प्रखण्ड में है।”²

कंवर प्रकृति की पुजा करते हैं, यानी वे सरना धर्म को मानते हैं। इनके जातीय पंचायत का प्रमुख ‘सयाना’ और ग्राम पंचायत का प्रमुख ‘प्रधान’ या पटेल कहलाता है।

1.4.19 कोल

यह झारखण्ड की अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल होने वाला सबसे अंतिम समुदाय है। “सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी कुल जनसंख्या 53,584 है।”³

कोल का पुश्तैनी पेशा लोहा गलाना था जिसे लोग प्रायः छोड़ चुके हैं। इनके परम्परागत पंचायत का प्रमुख ‘मांझी’ कहलाता है। तथा सारे विवादों को निपटारा करने की जिम्मेदारी पंचायत की है।

इस समुदाय में अन्य आदिवासियों से एक भिन्नता दिखाई देती है जिसके संदर्भ में शर्मा जी लिखते हैं- “विवाह में विलक्षण बात यह है कि लड़की वाले लड़के की खोज करते हैं जबकि अन्य सभी जनजातियों में लड़के की ओर से विवाह की पहल की जाती है। दहेज की प्रथा नहीं है। कन्या-मूल्य (पोटे) दिया जाता है।”⁴

¹ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं. 94

² वही, पृष्ठ सं. 94

³ झारखण्ड का इतिहास- डॉ. सिकरादास तिर्की, पृष्ठ सं.46

⁴ झारखण्ड: भूमि और भूमिपुत्र- डॉ. बिमला चरण शर्मा, पृष्ठ सं.105

1.5 सदान

“छोटानागपुर में दो तरह के लोग रहते हैं- एक आदिवासी दूसरा गैर-आदिवासी। आदिवासी इस क्षेत्र के पुराने निवासी हैं। गैर-आदिवासियों में कुछ ऐसे हैं जो यहाँ हाल-फिलहाल आकर बसे हैं। वे जहाँ से आए हैं, वहाँ के रीति-रिवाज, बोली-भाषा अब तक बरकरार रखे हुए हैं। लेकिन छोटानागपुर में रहने वाले बहुसंख्यक गैर-आदिवासी ऐसे हैं जो यहाँ अतिप्राचीन काल से रहते आ रहे हैं। आदिवासियों के साथ चिरकाल से संपर्क के कारण उनसे मिलती-जुलती उनकी एक अपनी रीति, भाषा और संस्कृति बन गई है जो अन्यो से किंचित भिन्न हैं। ऐसे लोगों को छोटानागपुर में ‘सदान’ कहा जाता है और इनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति को सदानी भाषा, साहित्य, संस्कृति के नाम से जाना जाता है।”¹

गैर-आदिवासियों का वो तबका जो आदिवासियों की तरह एक ही ग्रामीण परिवेश में साथ रहकर सब समस्याओं का सामना करते हुए, उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में भागीदारी निभाता है वह ‘सदान’ कहलाता है। सदानों की प्राचीनता से उनके नाग जाति होने का आभास होता है। झारखण्ड में सदानों का इतिहास लगभग 2500 वर्ष पुराना है। विद्याभूषण के अनुसार-“पुराने गैर-आदिवासी, जिन्होंने अपनी पुरानी पहचान भुलाकर जनजातीय प्रभुत्व की संस्कृति को आत्मसात कर लिया है, सदान कहे जाते हैं। सदानों में भी कई मूल और स्थान के लोग परिगणित किये जाते हैं।”² लेकिन व्यावहारिकता में सदान स्वयं को आदिवासियों से श्रेष्ठ व अव्वल मानते हैं।

“सदानों का प्रारम्भिक इतिहास नाग जाति, नाग समुदाय से संपृक्त है। नाग जाति से जुड़े छोटानागपुर के नागवंशी लाल-ठाकुर, पंचेत के गोवंशी शिखर और सरगुजा के रक्सेल राजाओं में लगभग 2000 वर्षों तक झारखण्ड में अविच्छिन्न राज्य किया।”³

सदान समुदाय के शासक वर्ग का रवैइया आदिवासियों के प्रति कैसा था यह शोध का अलग विषय है। “वास्तव में वे सारे लोग जिनके पूर्वज प्राचीनकाल से यहाँ बस गए हैं, जो आदिवासियों से

¹ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.38

² इतिहास के मोड़ पर झारखण्ड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.55

³ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.27

समरस हो गए हैं, जिनकी भाषा सदानी अर्थात नागपुरी, कुरमाली, खोरठा, पंचपरगनियाँ है, जो किसी मायने में आदिवासियों से कम शोषित, पीड़ित और उपेक्षित नहीं हैं, उन्हें सदान कहा जाता है। हटुआ, मूलवासी आदि इसी के पर्याय हैं।”¹

डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी के अन्दर एक अंतर्विरोध है। वे जहाँ एक ओर सदानों को शोषक वर्ग से जोड़ कर देखते हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें किसी मायने में आदिवासियों से कम शोषित, पीड़ित और उपेक्षित बताने से भी बाज नहीं आते हैं।

1.5.1 गैर-आदिवासी

वैसे आगंतुक जो झारखण्ड निर्माण के पूर्व या बाद में आजीविका या रोजगार की खोज में यहाँ आए या व्यवसाय करने के उद्देश्य से आकर यहाँ बस गए, गैर-आदिवासी (दिकू) कहलाये। ऐसे नवागंतुक धीरे-धीरे इतनी संख्या में आए कि यहाँ के आदिवासी (मूलनिवासी) सदान (प्राचीनवासी) जो कभी बहुसंख्यक हुआ करते थे, वे अपने ही राज्य में अल्पसंख्यक हो गए इसके अनेक कारण हैं, जैसे- बेरोजगारी, विस्थापन, पलायन, गरीबी के साथ-साथ सरकारी नीतियाँ भी जिम्मेदार हैं।

दरअसल सदान भी गैर-आदिवासी ही हैं, लेकिन सदान और गैर-आदिवासी के बीच मूलभूत अन्तर है जिसे ऊपरी तौर पर पहचाना नहीं जा सकता है। उस बारीक अन्तर को रेखांकित करते हुए विद्याभूषण लिखते हैं- “सामाजिक सामंजस्य की दृष्टि से विचार करें तो यह एक वास्तविकता है कि आदिवासी और सदान सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक संबंधों की कसौटी पर एक-दूसरे से अधिक निकट हैं और गैर-आदिवासी उनसे भावनात्मक स्तर पर जुड़कर त्रिकोण बनाने में अब तक पूर्णतया सफल नहीं हुए। पिछले कुछ समय में सदानों में अपनी पहचान की एक नयी बेचैनी दिखाई पड़ रही है जो आदिवासी पहचान के आन्दोलन के प्रत्युत्तर में उभरी है।”²

आदिवासी और सदानों के बीच कुछ संस्कारों को छोड़कर बाकी चीजों में व्यावहारिकता स्पष्ट झलकता है। क्योंकि सदियों से ये एक-दूसरे के करीब रहे हैं, इनमें रोटी-बेटी का सम्बन्ध भले नहीं है, पर

¹ झारखण्ड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें- डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, पृष्ठ सं.25, उद्धृत

² इतिहास के मोड़ पर झारखण्ड- विद्याभूषण, पृष्ठ सं.70

बाकी सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों में बराबर की पारस्परिक भागीदारी दृष्टिगत होती है। जैसे एक-दूसरे के विवाह और पर्व - त्यौहारों में शामिल होना। आदिवासियों के अस्तित्व-अस्मिता के बोध ने उनको भी चेतनशील बना दिया है।

द्वितीय अध्याय

झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों की अंतर्वस्तु एवं समस्याएँ : यथार्थ बनाम

आदर्श का द्वंद्व

2.1 झारखंड के हिन्दी उपन्यासों की प्रगति यात्रा

भारतीय संदर्भ में बात की जाए तो आदिवासियों को केन्द्रित कर लिखे गये उपन्यास ऊंगलियों पर गिनाने लायक हैं। कुछ चुनिंदा लेखक हुए जिन्होंने आदिवासी जीवन-दर्शन, संस्कृति, समस्याओं और भौगोलिक परिवेश को केन्द्र में रखकर समग्र दृष्टि से आलोकित करते हुए उन्हें चित्रित करने के क्रम में न केवल उनका महिमामंडित किया, बल्कि उनके अंतर्विरोधों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनमें रांगेय राघव का ‘कब तक पुकारूँ’ मैत्रयी पुष्पा का ‘अल्मा कबूतरी’, श्रीप्रकाश मिश्र का ‘जहां बांस फूलते हैं’, भिक्खु का ‘रक्तयात्रा’, हरिराम मीणा का ‘धूणी तपे तीर’, भगवान दास मोरवाल का ‘काला पहाड़’, ‘रेत’, पुन्नी सिंह का ‘सहराना’ जोगिन्दर का ‘काला पादरी’ इत्यादि प्रमुख हैं।

हिन्दी में आदिवासियों पर आदिवासी लेखकों द्वारा रचित उपन्यास बहुत कम हैं। अन्य भारतीय एवं आदिवासी भाषाओं में कहीं-कहीं अवश्य लिखे जा रहे हैं, लेकिन जब तक ये अनूदित होकर हिन्दी या अंग्रेजी भाषा में नहीं आएंगे तो हिन्दी भाषा के शोधार्थी इससे कैसे वाकिफ हो पाएंगे और कैसे इसे अपने शोध विषय के रूप में चयनित करेंगे।

हिन्दी साहित्य जगत में आदिवासी उपन्यासों की क्या स्थिति है? कथित मुख्यधारा का क्या रवैया है इसके प्रति? यह चर्चा-परिचर्चा के केन्द्र में कितना और कैसा स्थान रखता है, इसके संदर्भ में प्रसिद्ध आदिवासी एक्टिविस्ट, चिंतक और आलोचक वीर भारत तलवार कहते हैं - “मैं हरिराम जी की किताब देख रहा था कि कितने उपन्यास आदिवासियों पर लिखे गए, तो खुद आदिवासी लेखकों के चार उपन्यास उन्होंने बताए, हो सकता है थोड़ा और खोजा जाए तो पांच-दस हो जाएं, कुछ दूसरे लोगों ने भी आदिवासियों पर उपन्यास लिखे हैं। उनमें से कुछ उपन्यास तो सच पूछिए इतने आदिवासी विरोधी हैं, कि उनको क्या कहा जाए! आदिवासियों पर जो भी उपन्यास लिखे गये हैं, वो खाली रिसर्च करने वाले लोग

उनको जानते हैं, उनको कोई पढ़ता नहीं है। कितने लोग पढ़ते हैं आदिवासियों पर लिखे गये उपन्यासों को और खुद आदिवासियों के लिखे उपन्यासों को कितने लोग पढ़ते हैं?”¹

वीर भारत तलवार का उपर्युक्त कथन आदिवासी उपन्यासों की वर्तमान दशा और दिशा को न केवल इंगित करता है, बल्कि मुख्यधारा के साहित्यकारों की उपेक्षा की ओर भी इशारा करता है। इतना ही नहीं, इससे शिक्षित आदिवासी वर्ग की उदासीनता भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

आदिवासी जीवन-मूल्य, भाषा, संस्कृति, परंपरा और उनकी समस्याओं को केन्द्रित कर सर्वप्रथम लेखनी अंग्रेज ईसाई मिशनरियों ने ही प्रारंभ की थी। इसमें कोई दो मत नहीं है। चाहे उनके लिखने का मकसद जो भी रहा हो। क्रमबद्ध या छिट-पुट लेखन की परंपरा वहीं से प्रारंभ होती है। और एक बात यह भी सच है कि आदिवासी जीवन पर सर्वप्रथम उपन्यास लिखने या आदिवासी जीवन का आंशिक चित्रण उपन्यासों में करने या उनको केन्द्रित कर उपन्यास लिखने वाले उपन्यासकार गैर-आदिवासी ही थे। यह दूसरी बात है कि उन्होंने इन्हें किस रूप में और कैसे देखने का प्रयास किया है?

भारतीय परिदृश्य में यदि आदिवासी उपन्यासों के रचनाकर्म के संदर्भ में बात की जाए तो संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक आदिवासी उपन्यास झारखंड के आदिवासी जीवन को केन्द्रित कर लिखे गये हैं। इसका कारण शायद इनकी समस्याएँ, जीवन-दर्शन, संघर्ष, औपनिवेशिक शोषण अन्य क्षेत्रों (राज्यों) की अपेक्षा अधिक हुआ है। यहां के आदिवासी आंतरिक उपनिवेश के भी शिकार रहे। यही वजह है कि यहां के या अन्य प्रांतों के रचनाकार चाहे वे आदिवासी हों या गैर आदिवासी हों, सबने इन विषयों को अपनी रचना का मुख्य विषय बनाया। इनके उपन्यासों की अंतर्वस्तु, भाषा और शिल्प पर अलग से आगे विस्तृत अध्ययन किया जाएगा।

झारखंड के आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यासों की प्रगति यात्रा का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम रचनाकाल के अनुसार उनका अध्ययन किया जाएगा, तत्पश्चात कुछ आदिवासी और गैर-आदिवासी उपन्यासकारों के उपन्यासों में चित्रित अनेक समस्याओं का विश्लेषणात्मक तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - संपा. वेदना टेटे, अंक 2, जून-अगस्त 2013, पृ.सं. 15

आदिवासियों के जीवन पर केन्द्रित उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात ऐसा प्रतीत होता है कि तीन प्रकार के लोगों ने लिखा है। पहले स्तर में वे प्रशासनिक अधिकारी जो वर्षों से उनके बीच रहकर काम किये तथा उनके जीवन दर्शन, संस्कृति, रीति-रिवाज, परंपरा अंधविश्वास और विभिन्न प्रकार की समस्याओं को उपन्यास का कथ्य बनाया, उनके जीवन को अपने नजरिये से देखा। इनमें योगेन्द्र नाथ सिन्हा के दो उपन्यास 'वनलक्ष्मी' (1956), 'वन के मन में' (1962) हैं। उड़ीसा में गोपीनाथ मोहंती ने उड़िया में 'अमृत संतान' जैसी कालजयी कृति की रचना की, जिसे 1957 ई. में साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाजा गया जिसका सटीक, सार्थक, सफल अनुवाद हिन्दी में युगजीत नवलपुरी ने किया है जो हिन्दी साहित्य जगत के लिए एक बड़ी देन है। श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते हैं' आदि। यह अलग बात है कि 'अमृत संतान' और 'जहाँ बाँस फूलते हैं' झारखंड की पृष्ठभूमि और वहाँ के आदिवासी जीवन पर केन्द्रित नहीं है। इसी प्रकार हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' उपन्यास राजस्थान के मानगढ़ क्षेत्र के भीषण आदिवासी नरसंहार पर केन्द्रित है, जिसे लेखक ने पहला 'आदिवासी जालियांवाला कांड' कहा है। दूसरे स्तर में वे अधिकारी, सरकारी कर्मचारी, प्राध्यापक और पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता हुए जिन्होंने कभी आदिवासी क्षेत्रों में रहकर जितना समझा-महसूस उसे अपनी लेखनी का विषय बनाया, इसमें उनकी दृष्टि कहीं मौलिक है तो कहीं पूर्वाग्रह की शिकार भी, उसे आगे विशेष रूप से रेखांकित कर विश्लेषित किया जाएगा। तीसरे स्तर में ऐसे लेखक हुए जो स्वयं आदिवासी समुदाय से आते हैं, उनका स्वयं का जीवन, मौलिक और प्रमाणिक अनुभव उपन्यासों में देखने को मिलता है।

हिन्दी में विशेषकर आदिवासी जीवन को लेकर लिखा गया उपन्यास 60 और 70 के दशक में पहले-पहल देखने को मिलता है। वैसे फणीश्वर नाथ रेणु के प्रथम उपन्यास 'मैला आंचल' में संताल आदिवासियों की एक झलक दिखाई देती है। क्रमबद्ध रूप में झारखंड के आदिवासियों पर आने वाले उपन्यास इस प्रकार है- 'वन विहंगिनी' (1909) - रामचीज वल्लभ सिंह और 'चलता पीटारा' (1938) - रामदीन पाण्डेय (दोनों उपन्यास अनुपलब्ध हैं), 'वनलक्ष्मी' (1956) - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, 'सांवला पानी' (1967) - भालचन्द्र ओझा, 'शाम की सुबह' (1981) - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', 'मौन घाटी'

(1982) - डॉ. पीटर पॉल एक्का, 'पलाश के फूल' (1985) - संतोष प्रीतम, 'सावधान नीगे आग है' (1986) - संजीव, 'धार' (1990) - संजीव, 'गगन घटा घहरानी' (1991) - मनमोहन पाठक, 'सीता-मौसी' (1996-97) - रमणिका गुप्ता, 'धपेल' (1998) - श्याम बिहारी 'श्यामल', 'जंगल के गीत' (1999) - पीटर पॉल एक्का, 'समर शेष है' (1999) - विनोद कुमार।

1960 से 1990 के बीच के दशक में उपन्यासों के आने में गैप नजर आता है किन्तु वही गैप 2000 के बाद कम हो जाता है। अर्थात् उपन्यास पहले की अपेक्षा ज्यादा लिखे गये हैं। 2000 ई. के बाद हिन्दी आदिवासी विषयक उपन्यास लेखन में नये-नये उपन्यासकारों का पदार्पण होने लगता है अर्थात् एक प्रकार से उपन्यासों का लोकतंत्रीकरण दृष्टिगत होता है जो निश्चित रूप से समय और परिवेश की मांग का द्योतक है- 'पठार पर कोहरा' (2003) - राकेश कुमार सिंह, 'छैला सन्दु' (2004) - मंगल सिंह मुण्डा, 'लौटते हुए' (2005) - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', 'जो इतिहास में नहीं है' (2005) - राकेश कुमार सिंह, 'मिशन झारखंड' (2006) - विनोद कुमार, 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) - रणेन्द्र, 'पाँव तले की दूब' (2009) - संजीव, 'पलास के फूल', 'सोन पहाड़ी' (2012) - डॉ. पीटर पौल एक्का, 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' (2012) - महुआ माजी, 'हुल पहाड़िया' (2012) - राकेश कुमार सिंह, 'गायब होता देश' (2014) - रणेन्द्र, 'बड़े सपनों की ऊँची उड़ान' (2014) - अजय कन्दुलना, 'रेड जोन' (2015) - विनोद कुमार।

उपर्युक्त उपन्यासों के क्रमगत सघन प्रकाशन से ज्ञात होता है कि सन् 2000 ई. के बाद से आदिवासी विषयक विभिन्न पहलुओं को केन्द्रित कर लिखे गये हिन्दी उपन्यासों की संख्या में काफी इजाफा हुआ है। जिसका मूल कारण यह है कि स्वयं आदिवासी अपने अधिकार एवं हकों के लिए संगठित एवं एकजुट होकर एक स्वर में आवाज उठा रहे हैं जो इनके जागरूक एवं चेतनशील होने का द्योतक है।

उक्त संदर्भ में आदिवासी युवा कवि अनुज लुगुन लिखते हैं- “आदिवासी विषय को भी साहित्य एवं विचार के केन्द्र में लाकर एक विमर्श चलाने की पुरजोर कोशिश की जा रही है। भारतीय समाज व्यवस्था में यह ऐसा समुदाय रहा है जिसे अब तक (जब तक कि उनसे भारतीय समाज का हित नहीं सध

रहा था) सुनियोजित तरीके से हाशिये में रखा गया था। लेकिन अपने हक एवं आत्मसम्मान के प्रति सजग आदिवासी समुदाय के लगातार प्रतिरोध एवं उठाये गये सवालोंने बौद्धिक वर्ग का ध्यान खींचा और अब उसे विचार एवं विमर्श के केन्द्र में लाया जा रहा है। बौद्धिक क्षेत्र में किया जा रहा यह लोकतांत्रिक कदम है और यह होना भी चाहिए।”¹

आदिवासी विषयक उपन्यासों के अनवरत लिखे जाने और समस्त सामाजिक कार्यकर्ताओं के अथक प्रयास ने आदिवासी मुद्दों को बौद्धिक विमर्श के केन्द्र में खड़ा कर दिया है।

2.1.1 उपन्यासों की विषय-वस्तु और समस्याएँ

झारखंड के आदिवासी जीवन की विविध पृष्ठभूमियों पर अट्ठाईस (28) उपन्यास लिखे गए हैं, उनमें कुछ चुनिंदा उपन्यास आज की जटिल समस्याओं को शिद्दत के साथ हमारे समक्ष अभिव्यक्त करता है। ये इस प्रकार हैं ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ ‘ग्लोबल गाँव के देवता’, ‘लौटते हुए’, ‘समर शेष है’, ‘पाँव तले की दूब’, ‘रेड जोन’ और ‘गायब होता देश’। इन उपन्यासों में आदिवासी जीवन, संस्कृति, संघर्ष, आंदोलन और समस्याओं पर विस्तार से चर्चा की जा सकती है-

2.2 ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ - महुआ माजी

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ महुआ माजी का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास है, जो सिंहभूम के जादूगोड़ा क्षेत्र में हो रहे यूरैनियम तथा अन्य खनन कार्य से उत्पन्न समस्याएँ, आदिवासी जीवन पर पड़ रहे दुष्प्रभाव, जंगलों की अंधाधुंध कटाई के केन्द्र में सारंडा जंगल को रखकर लोकल (क्षेत्रीय) समस्याओं को ग्लोबल (वैश्विक) रूप में देखने का एक नवीन प्रयास है।

2.2.1 ‘हो’ समुदाय में गोनोंग (वधू-मूल्य) परंपरा की समस्या

आदिवासी समुदाय में वधू-मूल्य विवाह के पूर्व चुकायी जाने वाली परंपरा है। झारखंड के अधिकतर आदिवासियों में ये परंपरा प्रचलित है। ‘हो’ आदिवासी समुदाय में इसे ‘गोनोंग’ कहते हैं। वधू मूल्य (गोनोंग) कितना लेना है यह तय करने का अधिकार लड़की के पिताजी और उसके कुटुम्ब के पास होता है। किन्तु लड़की के पिताजी और लड़के के संबंधी गोनोंग को आपसी समझौते से कम कर सकते

¹ आदिवासी साहित्य - संपा. गंगा सहाय मीणा, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015, पृ.सं. 38

हैं। मेन्जारी का विवाह अधिक गोनोंग रखने के कारण नहीं हो पा रहा था- “एक जोड़ा बैल, पाँच गाय, मेल मेय: (पन्द्रह) बकरी, गेल (दस) मुर्गी और नकद हिसि टका (बीस रुपये)।”¹

उक्त निर्धारित गोनोंग किसी भी ‘हो’ परिवार के लिए सामान्य गोनोंग की अपेक्षा कहीं अधिक है। जिसे चुका पाना मुश्किल है। जिसके संदर्भ में भूतपूर्व सामाजिक कार्यकर्ता, आदिवासी आलोचक, लेखक वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं - “गोनोंग प्रथा जो आज एक भयानक रूप धारण करके ‘हो’ समाज को बर्बादी और पतन के रास्ते पर ले जा रही है। हो आदिवासियों में शादी के समय लड़के वालों को दुल्हन की कीमत के रूप में कुछ रुपये-पैसे आदि लड़की वालों को देने पड़ते हैं, इसे ही गोनोंग कहते हैं। यह प्रथा मुंडा, संताली तथा उराँव और झारखंड के दूसरे आदिवासियों में भी है। ‘हो’ समाज की तरह यह दूसरे आदिवासी समाज में ऐसी भयानक नहीं है।”²

2.2.2 मिट्टी, जल और वायु प्रदूषण

प्रदूषण चाहे जल का, वायु का या मिट्टी का हो इसका खामियाजा अंततः मनुष्य और जगत के जीव जंतु, पशु-पक्षी और जानवर सबको किसी न किसी रूप में भुगतना पड़ता है। मनुष्य उनमें सबसे प्रमुख और चेतनशील प्राणी है। यूरेनियम के कचरे और अवशेष बारिश या नालों की पानी से मिट्टी के अंदर जाता है, उसकी उर्वरा शक्ति को न केवल प्रभावित करता है बल्कि उससे उत्पन्न (उपजी) फसल भी जहरीला हो जाता है “इस प्रकार रेडियोधर्मी पदार्थों से दूषित पानी को जब सिंचाई के लिए इस्तेमाल किया जाता है तो उससे मिट्टी प्रदूषित होती है और उस मिट्टी में उपजा अनाज उपजी फसलें भी जहरीली हो जाती हैं।”³

कहना नहीं होगा कि उक्त किस्म के अनाजों को खाने वाले लोग तमाम प्रकार की असाध्य व्याधियों (बीमारियों) के शिकार होते हैं, जो धीमी जहर सरीखा होता है। यूरेनियम खनिज का प्रोसेसिंग कई चरणों पर होता है, उसमें कितने रसायनों का प्रयोग किया जाता है उसके अवशेष निश्चित रूप से

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 28

² झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एकटीविस्ट के नोट्स - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 231

³ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 192

पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं- “मिल में पिसाई के दौरान यूरेनियम खनिज को अन्य कचरों से अलग करने के लिए गंधक आदि के तेजाब से धोया जाता है जिससे यूरेनियम के अलावा मैलिबडीनम, वैनेडियम, सैलिनियम, लोहा, सीसा, आर्सेनिक आदि के घोल भी निकलते हैं ये सभी किसी न किसी रूप में वातावरण को प्रदूषित करते हैं।”¹

लेखिका वैज्ञानिक पात्र के माध्यम से कहती हैं- “यूरेनियम खनन के दौरान निकलने वाले रेडॉन गैस ही हवा को प्रदूषित करने वाला प्रमुख कारक है। उसी से धीमा जहर फैलता जा रहा है इलाके में।”²

उक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि मिट्टी और हवा किस कदर प्रदूषक तत्वों से जहर में तब्दील होते जा रहे हैं। जल प्रदूषण के संदर्भ में लेखिका आगे लिखती हैं- “टैलिंग डैम से रिस-रिस कर अंदर ही अंदर आता है यूरेनियम के कचरे का जहरीला पानी। तालाब सूखेगा कैसे? अगर किसी के पाँव में घाव हो और पाँव टैलिंग डैम के गीले कचरे में पड़ जाए तो साल भर लग जाएगा उस घाव को सूखने में।”³

टैलिंग डैम एक ऐसा जलाशय है जहाँ यूरेनियम के सारे अपशिष्ट पदार्थ (कचरा) डाला जाता है। उसी डैम का पानी दूसरे तालाबों में रिस-रिस पहुंच रहा है जिससे स्वच्छ तालाब भी प्रदूषित हो जाता है जिसका खामियाजा जलीय जीव और उस क्षेत्र के आदिवासियों को भुगतना पड़ता है। उसे रेखांकित करते हुए लेखिका लिखती हैं- “यहां की मछलियां खाने से पेट में ऐंठन होती है, जी मिचलाता है। वैसे मछलियों की मात्रा काफी घट गयी है आजकल। जो गिनी-चुनी मछलियां हैं, उनमें ज्यादातर बड़ी अजीब सी दिखती हैं।”⁴

तालाब के मछलियों की सरीखे ही अन्य जीवों (सांप, मेंढक) का भी यही हाल है। जलीय जीवों का शारीरिक परिवर्तन एवं उनका लगातार बढ़ता मृत्यु दर जल प्रदूषण का द्योतक है।

उक्त प्रदूषण संबंधी अनेक समस्याओं को लेकर संजय कृष्ण लिखते हैं जो उल्लेखनीय है- “यह कहानी भी कोल्हान के उस क्षेत्र की है, जहां के आदिवासी पिछले कई दशकों से यूरेनियम के कचरे का

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 192

² वही, पृ.सं. 191

³ वही, पृ.सं. 184

⁴ वही, पृ.सं. 184

शिकार होकर जवानी में दम तोड़ रहे हैं। यह एक भयावह समस्या है। कई बीमारियाँ गर्भपात की समस्या और चर्म रोग से यहाँ के वाशिंगटन परेशानहाल हैं।”¹

उक्त लेख का अंश उपन्यास में चित्रित प्रदूषण तथा अनेक गंभीर समस्याओं की ओर हमारा ध्यान खींचता है जो उस क्षेत्र विशेष की सच्चाई है।

2.2.3 डायन प्रथा

डायन वाली समस्या भारतीय समाज के लिए काले धब्बे के सदृश्य है। उपन्यास में सगेन की माँ अपनी बड़ी गोतनी अर्थात् सगेन की ताई को डायन का आरोप लगाते बाज नहीं आती है- “हैरान क्यों होता है? वह एक डायन है। खुद अपने बच्चों का कलेजा खा जाती है।”²

उपर्युक्त पंक्तियाँ विश्वास करने के परे हैं क्योंकि बुरे लोग भी अपनों के प्रति विशेषकर अपने बच्चों का अहित कोई नहीं चाहेगा यह लेखिका का पूर्वाग्रह है, और कुछ नहीं।

सागेन की माँ अनपढ़ है सुनी-सुनायी बातों पर जल्द यकीन कर लेती है कारणों की तहों पर गये बगैर, इसलिए तो जोर देकर कहती है “मैंने नहीं देखा तो क्या हुआ। अमावस्या की खास रातों में बड़े वाले तालाब की बगल में बरगद के पेड़ के नीचे बैठकर काले जादू का अनुष्ठान करते देखा गया है ... बीच-बीच में वे सभी नंगी होकर नाचने लगतीं और तालाब में डुबकी भी लगा आती थीं। सुबह होने से पहले उन्होंने पूरे गाँव का चक्कर भी लगाया था। उनके हाथों में पूजा की हुई सामग्री थी जिसे वे इधर-उधर छींटती जा रही थी।”³

हेमंत अपनी पुस्तक ‘झारखंड’ में डायन होने के आरोप में कितने लोगों को मार डाला गया। इस संदर्भ में सरकारी आंकड़ों को लेकर एक जगह लिखते हैं - “पुलिस एवं प्रशासन की संचिकाओं के अनुसार 90 से 97 के बीच सात साल में सिर्फ पश्चिमी सिंहभूम में डायन बोलकर हत्या करने के 71 मामले प्रकाश में आ चुके हैं। उन 71 मामलों में 84 महिलाएं (पुरुषों सहित कुल 107) मौत के घाट

¹ आदिवासी साहित्य - गंगा सहाय मीणा, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015, पृ.सं. 74

² मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 123

³ वही, पृ.सं. 123-124

उतारी जा चुकी हैं। इसी अवधि में संताल परगना सहित उतरी एवं दक्षिणी छोटानागपुर के विभिन्न जिलों से मिली सूचनाओं को जोड़ा जाए तो ऐसे मामलों की संख्या और अधिक होगी।”¹

डायन घोषित होने वाली अधिकतर महिलाएं विधवा होती हैं या खानदान में उसका लड़का संतान न होने पर दूर के रिश्तेदारों की लालची, गिद्ध दृष्टि उसकी अचल संपत्ति पर लगी रहती है इसलिए किसी तरह उस पर डायन होने का आरोप लगातार उसकी हत्या की जाती है। या करवायी जाती है। आये दिन अखबारों में किसी न किसी पृष्ठ में डायन समस्या पर हत्या वाली खबर अवश्य देखने को मिलती है।

“हम घंटों आंदोलन के मुद्दों पर विचार करते, लेकिन इसके पहले कि कोई रणनीति तय करते, एक मनहूस खबर मिली कि मेझिया वालों ने अपने ही गाँव की एक बाँझ औरत को डायन करार देकर पीट-पीटकर बेरहमी से मार डाला था।”² इस तरह की घटनाएँ ओझा और भगतों द्वारा किसी महिला को डायन घोषित करने पर अक्सर होती है- “वह आदिवासियों के ओझा सुधीर मुरमू का पक्का चेला है और उस ओझा ने ही उस औरत को डायन कहकर उकसाया था- तीन सौ रुपये और एक बकरे की माँग कर रहा था।”³

उक्त घटनाएं अशिक्षा, जागरूकता एवं चेतना के अभाव में ओझा-भगतों के स्वार्थवश, गलत सुझाव की वजह से आये दिन गाँवों में अक्सर देखने को मिलती हैं।

2.2.4 माता-पिता और होने वाले भावी संतान पर विकिरण का प्रभाव

गरीब, किसान, मजदूर और आदिवासी ही अक्सर विकिरण की चपेट में आते हैं। कारणों को बताने की आवश्यकता नहीं है। उपन्यास का पात्र सगेन विकिरण के दुष्प्रभावों का विस्तार से वर्णन करते हुए बताते हैं- “प्रत्येक सेल में जो लगभग तीस हजार जीन पाये जाते हैं, उनका निर्माण इन्हीं डी.एन.ए. के जोड़ों से होता है। जहाँ एक खास सेल के मात्र दो जीन पर प्रभाव पड़ने पर ही कैंसर होने का खतरा रहता

¹ झारखंड - हेमंत, पृ.सं. 206

² पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 25

³ वही, पृ.सं. 28

है। वहीं विकिरण किसी सेल के ढेर सारे जीन को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार जेनेटिक इन्सलेबिलिटी पैदा करता है। गर्भधारण के पहले यदि माता-पिता के अंडा तथा वीर्य का एक जीन भी प्रभावित हो जाए तो भावी बच्चे पर इसका असर यानी जेनेटिक इफेक्ट होता है। बच्चों का मंद बुद्धि होना या उनमें पाई जाने वाली कई तरह की जन्मजात विकृतियाँ इसी वजह से होती हैं। इतना ही नहीं, गर्भ में पलने के दौरान या जन्म लेने के बाद भी अगर विकिरण का प्रभाव पड़े तो विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बड़ों की तुलना में बच्चे विकिरण से ज्यादा प्रभावित होते हैं।¹ कहना नहीं होगा कि विकिरण का शीघ्र एवं घातक दुष्प्रभाव किन पर और क्यों होता है?

विकिरण का दुष्प्रभाव वैसे तो जीवित सभी प्राणियों पर पड़ता है किन्तु इसका सबसे ज्यादा, और खतरनाक, शीघ्र प्रभाव गर्भवती महिलाओं और संतान पर पड़ता है- “जिन्हें बार-बार गर्भपात होता, उनसे भी ज्यादा वे औरतें दुःखी दिखतीं जिनके बच्चे जन्म लेने के चौबीस घंटे, तीन या सात दिन तक जिंदा रहने के बाद मर जाया करते थे। शारीरिक विकृतियों के साथ जन्मे बच्चों की माताओं का दर्द तो उनसे भी ज्यादा चुभा कैमरे के साथ-साथ फिल्मकार की आंखों में। बच्चा न होने की वजह से छोड़ दी गई मरंग गोड़ा की उन लड़कियों ने भी एक महिला डॉक्टर को अपनी पीड़ा बताई जो मरंग गोड़ा से बाहर ब्याही गयी थी।”²

विडम्बना यह है कि उक्त बीमारियों को खनन प्रबंधन के अधिकारियों द्वारा अंधविश्वास के मार्फत ढकने का असफल प्रयास किया जाता है। मजदूरों एवं कर्मचारियों की चिकित्सा के लिए न कोई अच्छा अस्पताल है न ही डॉक्टरों की व्यवस्था। दरअसल अधिकतर खनन कार्य अवैध, असुरक्षित एवं खनन नियमों का सरासर उल्लंघन है। उपन्यास की समीक्षा करते हुए अमरीक सिंह दीप खनन का ब्यौरा देते हुए लिखते हैं कि- “अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी ये झारखंड के आदिवासी क्षेत्र मरंग गोड़ा में स्थापित हैं। जहां पर यूरेनियम की सात खदानें, एक मिल और तीन टेलिंग डैम हैं विकिरण, प्रदूषण और विस्थान की पीड़ा ने इस इलाके को जर्जर बना डाला है। यह कैसी विडम्बना है कि हमारी औरतें बांझ हो

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 160

² वही, पृ.सं. 182

रही हैं, हमारे बच्चे विकलांग पैदा हो रहे हैं हमारे लोग जवानी में ही कैंसर और टी.बी. से मर रहे हैं और हम इसके विरोध में कोई आवाज... कोई कदम उठाते हैं तो देशद्रोही करार दिये जाते हैं।”¹

लेख का यह कथन सत्ता तंत्र और व्यवस्था के वास्तविक चरित्र को अभिव्यक्त करता है और यह आज का कटु यथार्थ है। ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में खनन से उत्पन्न समस्याएँ, खनन कार्य से मोटे तौर पर तीन चीजें प्रभावित होती हैं क्षेत्र की आबादी, प्रकृति और जंगली जानवर विशेषकर यूरेनियम के खनन से मानव, प्रकृति, जीवन जन्तु, पानी, जंगली जानवर, फसल पृथ्वी की कोई सजीव चीज उसके चपेट से बाहर नहीं जा सकती है।

यूरेनियम के खनन से उत्पन्न विकिरण, उसके प्रासोसिंग से उत्पन्न रेडन गैस और यूरेनियम का कचरा या अवशेष मानव जगत और पर्यावरण के लिए कितना खतरनाक एवं विनाशकारी और घातक हैं, आगे क्रमवार उसका अध्ययन किया जाना है।

2.2.5 विस्थापन

खनन कार्य के शुरू होते ही विस्थापन की प्रक्रिया अवश्यंभावी रूप से किसी-न-किसी आदिवासी समुदाय के लिए एक अभिशाप है। कैसे जबर्दस्ती और क्रूरता से विस्थापित किया जाता है, उसे उपन्यासकार रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “नई खदान कंपनी के लोग कई पुलिसकर्मियों के साथ खड़े होकर उसकी झोपड़ी को उस गाड़ी से तुड़वा रहे हैं। कांडे के घर के लोग ... उनके पड़ोसी हाथ तौबा मचा रहे हैं मगर वे किसी की बात नहीं सुन रहे। देखते-देखते करीब बाईस झोपड़ियां उजाड़ दी गईं। सगेन की आंखों के सामने चित्रकारी की हुई रंगीन दीवारें भड़भड़ाकर गिर पड़ी।”²

खनन कार्य से विस्थापित होने वालों के लिए पुनर्वास और मुआवजे के कई नियम होते हैं किन्तु आज तक कहीं भी इसे अक्षरशः पालन नहीं किया गया। विस्थापितों का जीवन आगे क्या होता है? लेखिका लिखती हैं?

¹ दैनिक जागरण - अश्विनी सिंह, सस्ती परमाणु ऊर्जा का सच - अमरीक सिंह दीप, जुलाई, 2012, पृ.सं. 2

² मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 89

“उन झोपड़ियों तथा झोपड़ियों के आसपास के तमाम खेतों को समेटकर वहां एक बड़ा सा डैम बना दिया गया। कहा गया कि खदान कंपनी की मिल से निकले कचरे को गिराने के लिए बनाया गया है वहां मुआवजे के थोड़े बहुत पैसे देकर पल्ला झाड़ लिया कंपनी वालों ने और कांडे सहित सगेन के ढेर सारे दोस्त अपने परिवार वालों के साथ वहां से दूर न जाने कहां चले गये ...।”¹

उपन्यास का एक जागरूक, चेतनशील पात्र सगेन तथाकथित सभ्य लोगों और देश के रहनुमाओं को तिलमिला देने वाला एक व्यवहारिक सवाल पूछता है- “ठीक है, हम यह लड़ाई नहीं लड़ते, देश के लिए जरूरी है - सस्ती बिजली, बेहतर चिकित्सा, सुरक्षा। अच्छे नागरिक की तरह हम आदिवासी देशहित में त्याग करते रहेंगे। लेकिन एक सवाल- यदि परमाणु कचरों को फेंकने के लिए किसी नये टेलिंग डैम की खुदाई आदिवासी इलाके में न करके जागरूक, सभ्य, सत्ताधारी लोगों की बस्ती में ... दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई या चेन्नई में की जाए तो। वहां के पढ़े-लिखे, पैसे वाले या सत्ताधारी लोग इसे होने देंगे? क्या वे देशहित में हमारी तरह अपना घरबार, शहर छोड़ कहीं और चले जाना पसंद करेंगे? इसका विरोध न करके चुपचाप सब कुछ सहन करेंगे? यदि नहीं, तो फिर हम आदिवासियों से ही क्यों ये अपेक्षा की जाती है कि हम ही हमेशा त्याग करें?”²

उपर्युक्त सवाल, सभी आदिवासियों का है जिसका उत्तर देश के पास न पहले था, न अभी है।

2.2.6 विकिरण

यूरेनियम खनन से और मिल में प्रोसेसिंग के दरम्यान ये विकिरण पैदा होता है और सामने वाले व्यक्ति को सबसे अधिक क्षति पहुँचाता है- “विकिरण के बारे में अत्यंत बारीक अध्ययन करने के बाद सगेन को यह भी पता चला था कि अल्फा और बीटा कणों की तुलना में गामा किरणों की भेदन शक्ति ज्यादा होती है। गामा किरणें न सिर्फ हमारे शरीर को बल्कि 30 सें.मी. की कंकरीट की दीवार को भी भेद सकती हैं। बीटा कण मुलायम उत्तकों के भीतर करीब 2 सें.मी. तक प्रवेश कर सकता है जबकि अल्फा कण मुलायम उत्तकों के अंदर मात्र कुछ कोशिकाओं तक ही जा पाता है पर यदि यह सांस की नली से,

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 89

² वही, पृ.सं. 347-348

पीने के पानी तथा खाद्य पदार्थों के माध्यम से या फिर किसी खुली चोट से शरीर में चला आए तो गामा तथा बीटा किरणों से बीस गुना ज्यादा घातक हो सकता है क्योंकि शरीर के अंदर जाने के बाद भी ये जब तक जिंदा रहते हैं, तब तक निरंतर विस्फोट करते ही रहते हैं और आसपास के उत्तकों, कोशिकाओं पर अपना दुष्प्रभाव डालते रहते हैं। यूरेनियम तथा उसके ज्यादातर तत्व प्रोसेसिंग के क्रम में अल्फा कण ही ज्यादा छोड़ते हैं जो आज तक पाये जाने वाले सबसे विषैले तत्वों में से एक हैं ...।”¹ कहना नहीं होगा जो उसके करीब होगा या उसके चपेट में आयेगा, उसे कौन-कौन से असाध्य बीमारियों का शिकार होना पड़ेगा।

2.2.7 मनुष्य के जनन शक्ति पर विकिरण का प्रभाव

यह रंगहीन, गंधहीन विकिरण जीवित प्राणी के शरीर के आंतरिक भागों के लिए कितना खतरनाक है, सगेन आगे कहता है- “विकिरण जीवित प्राणी के जीन के साथ तो छेड़छाड़ करता ही है, यह स्त्री पुरुष की जनन क्षमता को भी प्रभावित करके उन्हें बांझ बना देने की ताकत रखता है। जो प्राणी विकिरण या रेडियो धर्मिता या रेडिएशन के जितना निकट संपर्क में आता है, वह उतना अधिक प्रभावित होता है। विकिरण एक ही सेल में लाखों म्यूटेशन पैदा कर सकता है। मनुष्य के सेल में करीब 3.5 खरब (बिलियन) डी.एन.ए. के जोड़े होते हैं।”² उक्त अध्ययन से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि विकिरण न केवल भावी संतान को विकलांग पैदा करता है बल्कि स्त्री-पुरुष के जनन शक्ति को भी हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर सकता है।

2.3 ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ - रणेन्द्र

आदिवासियों में आदिम, असुर अभी भी अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए सबसे अधिक संघर्षमय जीवन व्यतीत कर रहा है। रणेन्द्र ने अपने पहले उपन्यास ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ में असुर आदिवासियों के जीवन-संघर्ष, इतिहास, मिथक अंतर्विरोध और तमाम समस्याओं को क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर तक सीमित न करके अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य के रूप में दिखाने की कोशिश की है।

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 160-161

² वही, पृ.सं. 160

दूसरी ओर असुर समुदाय की स्थिति पहले से ठीक नहीं थी वहीं ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ सरीखे वेदांता और टाटा कंपनी उनके समक्ष अनेकानेक समस्याएँ लेकर आई जो उनके अस्तित्व संकट का प्रमुख कारण बन गया है-

2.3.1 निर्धनता

अथक परिश्रमी एवं मेहनती होने के बावजूद असुर गरीबी का जीवन व्यतीत करते हैं। उनका निवास स्थान पाट में होता है, जैसे भौरापाट और कन्दापाट। पाट एक ऐसा क्षेत्र जो जंगल पहाड़ों के ऊपर सपाट क्षेत्र जहां जल की तो विकट समस्या है ही, खेतों का भी सख्त अभाव है। असुरों के बारे में लेखक लिखते हैं- “अपने देवता सिंगबोंगा की तरह असुर आदिम जाति भी कभी थकती नहीं। आग से उत्पन्न, कभी लोहा पिघलाने और पिघला लोहा खाने वाले लोग खुद भी लोहा थे। केवल मक्का या कंदा खाकर लोग इतना खट सकते हैं, यह विश्वास नहीं होता। पाट की खेतिहर भूमि भी पानी के अभाव में बंजर पत्थर-सी दीखती है। बरसात के पहले उसी पथरीली भूमि को कोड़-जोतकर तैयार करने में वे रात-दिन लगे रहते।”¹ असुरों की गरीबी, बेबसी के संदर्भ में डॉ. सियाराम मीणा एक लेख में लिखते हैं- “बेरोजगारी, पलायन और भुखमरी उनके जीवन का हिस्सा बन गई है।”² असुर लालचन कहता है कि “मक्का की एक बरसाती फसल के भरोसे जिंदगी कितनी कठिन हो जाती है। मजूरी और जंगल का सहारा जो नहीं हो तो लोग फिर आसाम-भूटान निकल जाएं।”³ कहना नहीं होगा असुर खेती के अभाव में, ग्लोबल गाँव के देवताओं के दबाव ने उन्हें अपना पारंपरिक धंधा छोड़कर पलायन के लिए मजबूर कर दिया है।

2.3.2 आया काम के पर नाम दलाली

आया के नाम पर लोग असुर और अन्य गरीब सयानी लड़कियों को महानगरों एवं आसपास खान के मेठ-मुंशियों के यहां काम में लगाते हैं। आया के नाम पर लड़कियों को किन धंधों में धकेला जाता है,

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 28

² अरावली उद्घोष - डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 100, जुलाई 2013, पृ.सं. 62,

³ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 13

उसे लेखक रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “खरीफ कटनी के बाद का हाट ऐसेने दलालों से भरा रहता। यों तो नीचे लोधमा की पांच लड़कियों में से एक आठवीं पास थी। उसने जैसे-तैसे पोस्टकार्ड भेजा हाट के दिन डाकिये ने डॉक्टर साहब के हाथों में वह पोस्टकार्ड थमाया, तो पता चला क्या-क्या अत्याचार सहती हैं हमारी बेटियाँ। न जाने दिल्ली के कौन-से मुहल्ले की मालिशवाली दुकानदारिन के हाथों बेची गयी थी।”¹

आया या दायी का काम करने दिल्ली गई कितनी लड़कियाँ तो कभी घर वापस भी नहीं आती हैं, उनका क्या होता है किसी को पता नहीं होता सिवाय एजेंट के। खान का ठेकेदार अंसारी रामरति को रखैल बनाकर रखता है। इसी संदर्भ में सियाराम मीणा अपने लेख में एक जगह लिखते हैं-“सभ्य समाज आदिवासी स्त्रियों के प्रति शोषण का नजरिया रखता है।”² पाट के दो दर्जन से ज्यादा खदानों में मेठ-मुंशी सब बाहर वाले थे। किसी ने अपना परिवार नहीं रख रखा था सबको डेरा में काम के लिए असुर लड़कियाँ ही चाहिए थी क्यों चाहिए यह बताने की जरूरत नहीं है। बड़ी आसानी से एक डेरा में दो-दो तीन तीन लड़कियाँ खड़ी दिख जाती फिर उन्हें रामरति बनने में देर नहीं लगती।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्त्रियों को रखैल बनने की प्रक्रिया घरेलु नौकरानी के साथ प्रारंभ हो जाती है। और यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

2.3.3 असुरों का स्वास्थ्य

जबरन बॉक्साइट खनन करके उनके खेतों को नष्ट किया जाता है। दूसरी तरफ खनिज निकालने के बाद गड्ढा यों ही छोड़ दिया जाता है। ऐसा ग्लोबल गाँव के देवताओं का चरित्र है। एग्रीमेंट सिर्फ एक दिलासा मात्र है। सरकार की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है, इसके पीछे लेखक हमारा ध्यानाकर्षित करते हुए लिखता है- “अब एग्रीमेंट की पहली शर्त है कि बॉक्साइट निकालकर गड्ढा भरना है, तो बीसों साल से क्यों नहीं हो रहा यह काम? हमें तो लगता है कि जानबूझकर सरकार भी मटिया रही है। चाहती है, पाट पर आबादी जितना जल्दी खत्म हो बॉक्साइट निकालने में उतनी ही आसानी होगी।”³

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 31

² अरावली उद्घोष - डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 100, जुलाई 2013, पृ.सं. 63

³ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 14

सरकार और ग्लोबल गाँव के देवता असुरों को येन-केन-प्रकारेण समाप्त करने की पुरजोर कोशिश में है- “लेकिन एक तरफ इन खानों ने मजूरी दी तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरंजाम भी खड़े किये। पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी।”¹

बाहर से आकर बसने वाले घासी टोली में इस कदर हावी हुए कि पूरा नस्ल ही बदल डाले- “घासी टोले के लड़के-लड़कियों की नाक-नकश, रूप-रंग सब बाबुओं से मिलने लगे। अब तो हालत यह है कि घासी टोले की बेटियाँ ढंग से कपड़ा-लता पहन-ओढ़ लें तो बबुआनी की लड़कियों पर भारी पड़ती हैं। यह खूबसूरती उनके लिए काल बन गयी। अब तो बबुआनी के लौंडे-लपाड़े उनकी शादी होने नहीं देते। मुश्किल से शादी हो भी गयी तो दो-चार साल में न जाने क्या उपाय करते हैं कि घासी टोले में परित्यक्ता और विधवा बेटियों की बाढ़-सी आ गयी है। कसाइयों के हाथ में पड़ी गाय-सी ये बेटियाँ बार-बार पेट गिराने से असमय ही बुढ़ा जाती हैं। ये नवयुवती-वृद्धाएँ दुख-विषाद से स्याह चेहरा-देह लिए जहाँ से गुजरती हैं, एक उदासी-सी छा जाती है।”²

उपर्युक्त त्रासदी से ऐसा प्रतीत होता है कि घासी टोला की सब बहू-बेटियाँ आगंतुकों (बाहर से आये दिक्कतों) की पैतृक संपत्ति है औद्योगिक संस्कृति अपने साथ कई विकृतियाँ लेकर आती हैं। उक्त शोषण व विकृति, इसका अन्यतम उदाहरण है।

2.3.4 नेतरहाट आवासीय विद्यालय के पीछे का सच

उपन्यास में चित्रित शिक्षित पात्रों का नाम जो असुर हैं उंगलियों में गिनने लायक है- रूमझूम, रामचन, सुनिल और ललिता। जिसमें रामचन असामाजिक तत्वों के साथ मिल जाता है। उसका होना भी नहीं के सदृश्य है।

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 13

² वही, पृ.सं. 49-50

नेतरहाट आवासीय विद्यालय की ख्याति राज्य की सीमा को पार कर दिल्ली तक है, के बारे में मास्टर कहता है- “इन्हीं विशालकाय भवनों में राज्य के सबसे मेधावी लड़के पढ़ते, उन्हें सबसे ज्यादा वेतन पाने वाले सुयोग्य शिक्षक पढ़ाया करते। आखिर इन्हें ही शासक बनना था।”¹

इस आवासीय विद्यालय के पीछे और अंदर का सच क्या है सिर्फ रूमझूम जानता है, आगे वह कहता है- “असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बना था यह स्कूल। अभी भी आसपास असुर आबादी है। ज्यादा दूर नहीं, बीस-बाईस किलोमीटर के दायरे में लगभग सारी की सारी असुर बिरजिया, कोरबा आबादी बसती है। पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो। मैंने खुद कितनी कोशिश की थी। पिछले दो-तीन वर्षों से कैजुअल शिक्षक के रूप में काम करने की इच्छा है। लेकिन वहाँ भी दाल नहीं गलती।”²

असुरों के सौ घर विस्थापन के पश्चात कहाँ गए? इसका कोई ब्यौरा नहीं मिलता। बात यहीं समाप्त नहीं होती है। रूमझूम का उपर्युक्त आक्रोश व्यवहारिक है और उसका आगे का कथन आज के स्कूलों में मध्याह्न भोजन का सच खोलता है- “माड़-भात खिलाकर अधपढ़-अनपढ़ शिक्षकों के भरोसे, फुसलावन स्कूल के हमारे बच्चे ज्यादा से ज्यादा स्किल्ड लेबर, पिऊन क्लर्क बनेंगे और क्या? यही हमारी औकात है। हमारी ही छाती पर ताजमहल जैसा स्कूल खड़ा कर हमारी हैसियत समझाना चाहते हैं लोग।”³ उक्त पंक्तियों में उपन्यास का पात्र रूमझूम भारतीय शिक्षा पद्धति की विभेदपूर्ण नीति को बेनकाब करता है जो आज का कटु यथार्थ है।

2.3.5 असुरों की जमीन की लूट

आज के यथार्थ के संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय एक जगह लिखते हैं- “जब राष्ट्र-राज्य का ग्लोबल गाँव के देवताओं से गठजोड़ होता है तब वे दोनों अधिक लालची होते हैं उतने ही अधिक खतरनाक भी।”⁴

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 19

² वही, पृ.सं. 19

³ वही, पृ.सं. 19

⁴ नया ज्ञानोदय - संपा. रविन्द्र कालिया, अंक 85, मार्च 2010, पृ.सं. 15

राष्ट्र-राज्य और ग्लोबल गाँव के देवताओं के इस गठजोड़ ने असुरों को कहीं का रहने नहीं दिया। इसमें नौकरशाह, ठेकेदार और क्षेत्रीय गुंडे अपने छल-बल से लूटने में सहायता करते हैं- “गोनू के बाप ने डकैती की कमाई से तीन एकड़ टाँड़ को तीस एकड़ दोन में बदल दिया। अब गोनू की बारी थी उसने डकैती का रंग-रूप बदल दिया। हाई स्कूल तक की पढ़ाई काम आयी। विधायक के संग ब्लॉक-थाना, जिला-कचहरी, घूमने फिरने के अपने फायदे थे। उसने बाजू के बदले दिमाग का इस्तेमाल किया।”¹

आदिवासी जमीन हस्तांतरण को रोकने के लिए ‘छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट’ (1908) बना है, लेकिन इसके कई कमजोर पहलू हैं जिनकी हमेशा से अवहेलना की जाती रही है। आज वस्तुस्थिति यह है कि सरकार स्वयं आदिवासी के लिए आतंक का माहौल तैयार की हुई है, इसे लेकर हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- “आज आदिवासी जिस विकराल संकट का सामना कर रहे हैं उसका मूल कारण है राष्ट्र-राज्य की अपार ताकत और आतंककारी हिंसक प्रवृत्ति।”²

सचमुच राष्ट्र-राज्य आज ग्लोबल गाँव के देवताओं की सेवा में अपना परम कर्तव्य निभाते नजर आते हैं। सत्ता तंत्र, इसके एजेंट और पुलिस-प्रशासन इसके चेले हैं तभी तो रूमझूम का लम्बा चौड़ा पत्र कूड़ेदान (डस्टबीन) में अपना दम तोड़ देता है।

2.3.6 मीडिया और असुर आदिवासी

आज की मीडिया कॉर्पोरेट घरानों और स्वयं के लाभ को ध्यान में रखकर कार्य करती है। सही मायने में मीडिया आज अपना धर्म नहीं निभा रही है। मिथिलेश अपने लेख में लिखते हैं- “मीडिया नक्सलियों या उनके आंदोलन के मूल कारणों तक पहुँचने की कोशिश नहीं करता बल्कि यदा-कदा सतही तौर पर नक्सली हिंसा होने पर थोड़ी बहुत चर्चा करके अपने कर्तव्य पूरे कर लेता है।”³

अपने अधिकारों की मांग एवं पुलिस बर्बरता के खिलाफ जब पूरा असुर समुदाय पाथरपाट के पुलिस चौकी पर शांतिपूर्ण तरीके से बैठा हुआ था। इसी दरम्यान भीड़ को उकसाया जाता है और गोली

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 35

² नया ज्ञानोदय - संपा. रविन्द्र कालिया, अंक 85, मार्च 2010, पृ.सं. 14

³ इस्पातिका - अविनाश कुमार सिंह, अंक 1, जनवरी-जून 2012, पृ.सं. 140

चलती है, जिसमें छः लोग मारे जाते हैं, इसको मीडिया कैसे दिखाता है- “हाँ, तीसरे पेज पर दो कॉलम का समाचार छपा था कि पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छः नक्सली मारे गये। मारे गये नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल। फिर बालचन के नृशंस कारनामों का विवरण। एस.पी., दरोगा की हत्याओं और किन-किन बैंक डकैतियों में वह शामिल था। एकदम आँखों देखा विवरण। अंत में इस बात का भी उल्लेख था कि भागते समय नक्सली लाशें उठा ले गये।”¹

आदिवासियों को ठीक नक्सली घोषित वैसे ही किया जाता है जैसे मुस्लिमों को आतंकवादी। मीडिया, पुलिस-प्रशासन के हिसाब से खबर छाप देती है हकीकत के तह तक जाने की जहमत नहीं उठाती या जानते हुए भी सच नहीं लिखती है। यानी मीडिया अपने स्वार्थ के लिए बिक जाती है। उक्त तथ्य मुख्यधारा के मीडिया का असली चरित्र अभिव्यक्त करने में सफल है।

उपर्युक्त घटना के पश्चात असुर समुदाय के कार्यकर्ताओं और वेदांग कंपनी के बीच बातचीत की जगह और समय तय है। इसी बीच ठीक वही ट्रक जिसमें सारे असुर समुदाय के कार्यकर्ता सवार थे। बीच में ही लैंड माइंस से उड़ा दी जाती है - “पता चला कि लैंड माइंस बिछायी गयी थी। बातचीत के लिए जाते ललिता, बुधनी दी, गन्दूर, एतवारी, लालचन दा के बाबा और पन्द्रह लोग की धज्जियां उड़ गयी थी।”²

इस घटना के पीछे किसका हाथ है? पूरा मामला साफ नहीं है क्योंकि नक्सली के टारगेट में इतनी संख्या में आम जनता कभी नहीं मारी जाती है। मारे जाते हैं तो पुलिस-प्रशासन के या सैनिक लोग। इसी तरह नक्सलियों का नाम लेकर, नक्सली कहकर आदिवासी मारे जाते रहे हैं पुलिस और सैनिकों की गोलियों से।

पुलिस-प्रशासन और माओवादियों के बीच की लड़ाई में अंततः आदिवासी समाज पीसता है, उन्हें ही सारे जुर्म, शोषण, अत्याचार और बलात्कार का शिकार होना पड़ता है। इसके बारे में मानवाधिकार कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग और पत्रकार संजय कृष्ण अपनी पुस्तक में लिखते हैं-

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 88

² वही, पृ.सं. 100

“झारखंड में 6000 निर्दोष आदिवासियों को नक्सली होने के आरोप में विभिन्न जेलों में डाल दिया गया है, वहीं छत्तीसगढ़ में 17,000 एवं ओडिसा में 2000 निर्दोष लोग जेलों में हैं। इस तरह से कुल 25,000 निर्दोष लोग जेलों में हैं। इसी तरह इन राज्यों में लगभग 1000 लोग फर्जी मुठभेड़ में मारे गये हैं एवं 500 महिलाओं के साथ सुरक्षा बलों ने बलात्कार किया है। वहीं 1000 लोगों को पुलिस मुखबिर होने के आरोप में नक्सलियों ने मार गिराया है।”¹

ये आज का कटु यथार्थ है, जो बदस्तूर जारी है।

2.3.7 असुर अस्तित्व का संकट

पूँजीवाद की कोख से उत्पन्न ग्लोबल गाँव के देवता ‘वेदांग’ ने अपने साम-दाम-दंड-भेद नीति से असुर कार्यकर्ताओं को समझौते के लिए तैयार कर लिया था। दरअसल उनकी मौत तो बातचीत के लिए राजी होते ही तय हो चुकी थी। उनके सदियों के अनवरत संघर्ष को लेखक ने इस प्रकार पराजित होते दिखाया है- “जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था। असुर-बिरजिया, बिरहोर-कोरबा, आदि जाति-आदिवासी सब मुख्यधारा में शामिल होने ही वाले थे। मुख्यधारा की लहरें चाँद छूने को बेताब थीं। वह लहराती-इठलाती राज्यों की राजधानी से होती वाया दिल्ली वाशिंगटन डी.सी. की ओर दौड़ी जा रही थीं।”²

दरअसल असुर कार्यकर्ताओं का शांतिपूर्ण धरना के पश्चात् बातचीत या समझौते के लिए राजी होना, उनका स्वाभाविक स्वीकार नहीं है, बल्कि यह ग्लोबल गाँव के देवताओं के दबाव से उत्पन्न परिस्थितिजन्य समझौता है। यह प्रकारांतर से आदिवासी संघर्ष का पराजय है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक एक पूर्व निर्धारित निष्कर्ष के तहत इन्हें पराजित होते या झुकते हुए दिखाना चाहते हैं या आधुनिक युग में परिवर्तित, आदिवासी नेतृत्व के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश।

¹ क्रॉसफायर - ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृ.सं. 267-268

² ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 100

2.4 'लौटते हुए' - वाल्टर भेंगरा 'तरूण'

'लौटते हुए' वाल्टर भेंगरा 'तरूण' का दूसरा उपन्यास है जो पलायन पर केन्द्रित है। आदिवासी लड़कियाँ दिल्ली जैसे महानगरों में किनके बीच, कैसे, किन रूपों में रहती हैं? उनका शारीरिक और मानसिक शोषण कैसे होता है, इन समस्याओं पर केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में यह प्रथम उपन्यास है, जिसमें आदिवासी लड़कियों के महानगर पलायन की घटना को दिखाने का प्रयास किया गया है।

उपन्यास में वैसे अनेक पात्र हैं, किन्तु उपन्यास की पूरी कथा सलोमी और मार्था के इर्द-गिर्द घूमती है। सलोमी एक प्रकार से मुख्य पात्रा है।

2.4.1 मालिक/मालकिन की नजर में आया

सलोमी की मालकिन मिसेज खन्ना अपनी भाभी के प्रश्न के जवाब में सलोमी के बारे में कहती है- “हां थोड़ी स्लो है। लेकिन जल्द सारा काम पकड़ लेती है। जब से आयी है, मुझे बच्चों से एक प्रकार से छुट्टी मिल गयी है। ये इधर बच्चों को संभालती है और उधर मैं अपना ब्यूटी पार्लर।”¹

इस पर उसकी भाभी सलोमी पर संदेह जताते हुए कहती है- “पर ऐसी कुड़ियों पर पूरा भरोसा नहीं करना चाहिए।”²

आगे खन्ना मैडम आदिवासी लड़कियों की लगन, मेहनत और ईमानदारी का बखान करते हुए कहती हैं - “ना भाभी, ये आदिवासी कुड़ी बहुत ही भरोसेमंद होती हैं। अपने हाथ से कुछ उठाकर खाती भी नहीं। हाँ, कुछ भी काम दे दो पूरा मन से करती है। ईमानदारी ही तो इनका सबसे बड़ा गुण है। टेबल पर सुबह सौ रुपये का नोट रख दो, तो शाम तक वहीं पड़ा रहेगा लेकिन उठायेगी नहीं।”³

ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा आदिवासियों की महत्वपूर्ण विशेषता है। जिसे अक्सर लोग उनकी कमजोरी समझ बैठते हैं।

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 93

² वही, पृ.सं. 93

³ वही, पृ.सं. 93

2.4.2 हवस की शिकार

खन्ना साहब की पत्नी अपने भईया-भाभी के साथ बच्चों को लेकर देहरादून घूमने चली जाती हैं। खन्ना साहब व्यावसायी आदमी हैं इसलिए सलोमी उसकी सेवा के लिए वहीं रहती है। दरअसल खन्ना साहब महीनों से उसी मौके की तलाश में थे। सिर दर्द के बहाने उसे सिर मालिश कराते हुए अचानक बांहों में लेकर चूमने लगते हैं इस पर दायी (सलोमी) विरोध करते हुए कहती है- “साहब-साहब जी, यह आप क्या कर रहे हैं? होश में आइये!”¹ यहां सलोमी प्रतिरोध करने की जगह, निवेदन करती हुई दिखती है, जो तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है- “गिड़गिड़ायी। दुहाई दी, लेकिन असफल हो गयी थी वह। उसकी गुहार और उसकी विनती की जगह खन्ना साहब के बाहुपाश और भी सख्त होते चले गये थे। उस कठोर चंगुल में फंसकर सलोमी अपने को छुड़ा नहीं पायी उस रात और अंधे कुएं में धकेल दी गई थी खन्ना साहब की हवस द्वारा।”²

यह सत्य है कि विरोधी का प्रतिरोध प्रबल नहीं होने पर अपराधी आगे बढ़ते चला जाता है- “और शुरू हो गया था सालो की जिंदगी की घुटन का सिलसिला। खन्ना साहब ने सालों को बेवश बना दिया था उस रात के बाद। सुबह सालो को बाहर से ताला बंद करके अपनी दुकान पर चले जाते और रात आने पर फिर अपनी मनमानी करने लगते।”³

इस तरह के शोषण दिल्ली जैसे महानगरों में न जाने कितनी आदिवासी लड़कियों के साथ होता है इसके कोई आंकड़े सामने नहीं आ पाते हैं, क्योंकि यह सब घर की चारदीवारी तक सिमट कर रह जाती है और कैसे इनको डराया, धमकाया जाता है, उसका सटीक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है- “हमारे बीच जो संबंध बना है, उसके बारे में मैडम अथवा किसी से कहना नहीं। अगर कुछ बात निकली तो मैं तुम पर चोरी का आरोप लगाकर तुम्हें पुलिस के हवाले कर दूंगा। समझी! बिल्कुल चुपचाप रहना।”⁴

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 115

² वही, पृ.सं. 116

³ वही, पृ.सं. 116

⁴ वही, पृ.सं. 116

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि मालिक नौकरानी का शारीरिक शोषण करके पुलिस का धौंस देकर, उसका (पीड़िता) का मुंह बंद कर देता है। महानगरों में आया का काम करने वाली युवतियों को दलाल (ब्रोकर) प्रारंभ में ही सशर्त कामों पर निश्चित समय के लिए लगाते हैं और बीच में किसी कारणवश घर छोड़ने पर उनका वेतन काट लिया जाता है। उपन्यास की पात्रा सलोमी उसी तरह की शिकार होती है- “अंत में खन्ना मेम साहब ने सलोमी का हिसाब कर दिया था। बीच में जाने पर मिसेज खन्ना ने पूरा पैसा भी नहीं दिया उसे। लेकिन सालो मान गयी थी - यह सोचकर कि खन्ना साहब के चंगुल से तो बची रहेगी वहां”¹

महानगरों में आया का काम करने वाली युवतियों का शारीरिक, आर्थिक और मानसिक तीन तरह के शोषण और उत्पीड़न किया जाता है जिसे पीड़िता किसी को नहीं बता सकती है सिवाय अपनी सहेलियों को छोड़कर।

2.4.3 गर्भपात का सेहत पर प्रभाव

ड्राइवर के हवस का शिकार होने के पश्चात नीलू गर्भवती हो जाती है। ड्राइवर के कुकर्म का पता चलने पर सिर्फ उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है किसी प्रकार का पुलिस केस उस पर नहीं किया जाता है क्योंकि मालिक अपने परिवार की बदनामी हरगिज नहीं चाहते हैं इसलिए तो “नीलू को उसकी मालकिन किसी लेडी डॉक्टरनी के पास ले गयी और उसका पेट साफ करवा दी। लेकिन नीलू एकदम ठीक से नहीं रहती है। बिल्कुल कमजोर हो गयी है। बता रही थी बहुत खून बह गया था बेचारी”²

उपन्यास में ज्यादातर लड़कियाँ सीधी सरल होने के कारण घरों में ही हवस की शिकार होती है। वहीं मार्था एक ऐसी चरित्र है, जो साहसी, निडर, अन्याय विरोधी, सहेलियों में आत्मबल लाने वाली और ईश्वर पर आस्था रखने वाली है। इसलिए तो कहती है- “घबड़ा मत नीलू। कसूरवार को ईश्वर जरूर सजा देता है। अगर तुम्हारी गलती नहीं है तो तुम्हें ईश्वर माफ कर देगा। तुम्हारी जितनी गलती थी उतनी सजा तुम भुगत चुकी हो। मैं पहले ही कहा करती थी कि ऐसे लफंगों को शुरू में ही सीख दे देनी चाहिए।

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पृ.सं. 118

² वही, पृ.सं. 250

दरअसल हम कुछ कहते नहीं हैं इसलिए इस तरह के लोगों की हिम्मत बढ़ जाती है और हमें इस तरह भुगतना पड़ता है।”¹

मार्था एक संगठनकर्ता का किरदार पूरे उपन्यास में निभाती है। लेकिन किसी स्थल पर शोषण, अन्याय के विरुद्ध उनकी सहेलियां डटकर खड़ी नजर नहीं आती हैं। लेखक मध्यवर्गीय मालिक-मालकिन के वास्तविक चरित्र को रेखांकित करते हुए लिखते हैं “ये हमारे मालिक मालकिन लोग तो अपनी इज्जत बचाने के चक्कर में हमारी इज्जत की परवाह ही नहीं करते हैं। इसलिए इन्हें बताओ चाहे न बताओ हमें जरूर बता देना। फिर देखना हम उन लंपटों को किस तरह से सिखाती हैं।”²

2.4.4 दूसरी बार हवस की शिकार सलोमी

आया का काम करते हुए दिल्ली में यह सलोमी का पांचवाँ और अंतिम घर था। अंतिम इसलिए कि वह दूसरे हादसे के पश्चात् दिल्ली छोड़ने को मजबूर हो गई।

सुरेश कुमार सिंह, फ्रांसीस के बैंक सहकर्मी हैं। सिंह की पत्नी शोभा सिंह चार्टर्ड एकाउंट्स में सहयोगी हैं। सलोमी, फ्रांसीस के माध्यम से कुमार साहब के यहां आया का काम पाती है। इनके परिवार में हमेशा पार्टी चलती है। कभी कुमार साहब के स्टॉफ, कभी शोभा मैडम के स्टॉफ तो कभी राकेश के दोस्त आकर पार्टी करते रहते हैं। सबकी सेवा सलोमी को करना पड़ता है। एक रात को सुरेश साहब के मेहमानों की पार्टी चल रही थी- “काफी देर तक लोग बातें करते रहे। फिर लोग शराब पीने लगे। शोभा मैडम ने स्नैक्स और मीट कबाब आदि गर्म करने के लिए सलोमी से कहा। सलोमी कहे अनुसार करती रही।”³

इतना ही नहीं कुमार साहब के बेटे राकेश की पार्टी भी चोरी-छिपे अपने कमरे में दोस्तों के साथ चल रही थी। राकेश किचन आकर सलोमी को यह कहकर निकल जाता है- “सलोमी, हमको कुछ मीट

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 251

² वही, पृ.सं. 252

³ वही, पृ.सं. 306

कबाब आदि मिलेगा? मेरे कुछ दोस्त आये हैं। हम सभी मेरे कमरे में बैठे हैं। एक बोतल सोडा, दो-चार गिलास और कबाब चुपके से मेरे कमरे में पहुंचा देना।”¹

दिन भर काम में व्यस्त रहने की वजह से सलोमी कुछ खा नहीं पायी थी रात में सेवा करते-करते 12 से अधिक बज गये थे। सलोमी बेड में गिरते ही गहरी नींद में सो गई दरवाजा खुला ही रह गया उसी का फायदा उठाकर बलात्कारियों ने अपने कुकर्म को अंजाम देना प्रारंभ कर दिया- “अचानक सलोमी ने महसूस किया कि उसे किसी ने पकड़ रखा है। उसने चिल्लाना चाहा तो वह चीख भी नहीं पायी। उसके मुंह पर पट्टी बंधी हुई थी। उसने हाथ-पैर हिलाना चाहा तो हिल भी नहीं पायी।”²

जिन्होंने भी इस घटना को अंजाम दिया पूरे नियोजित ढंग से किया। चाहे वो कुमार साहब के दोस्त हो या राकेश के साथियों ने किया हो - “अरे! उसे क्या हो गया है? कौन है जो उसे दबा रखा है? क्या वह सपना तो नहीं देख रही है? वह कुछ समझ भी नहीं पा रही थी कि आखिर उसके साथ क्या हो रहा था। फिर किसी ने उसके कपड़े फाड़ना शुरू किया। ... ओह! अब वह समझी कि कोई बदमाश उसकी इज्जत लूट रहा है। वह तड़फड़ायी लेकिन वह हिल भी नहीं पा रही थी। फिर कोई उसके ऊपर छा गया। इसके बाद शायद दूसरा भी उसके ऊपर आ गया। ओह! ... हे मां! यह क्या हो रहा है उसके साथ? वह मन ही मन छटपटा रही थी और रो रही थी लेकिन हाथ-पैर और मुंह बंधे होने के कारण वह विवश हो गयी थी। कुछ देर बाद बेहोश हो गयी थी। उसे कुछ पता नहीं चला कि उसके साथ उसके बाद क्या हुआ?”³

उपर्युक्त घटना के बाद शोभा मैडम की चीख घर की चारदीवारी तक सिमट कर हवा हो जाती है। यह मध्यवर्गीय चरित्र है जो सच्चाई को जानते हुए भी नजरअंदाज करने में माहिर है।

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 307

² वही, पृ.सं. 308

³ वही, पृ.सं. 308-309

2.4.5 आदिवासी लड़कियों के दिल्ली (महानगर) पलायन के कारण

आदिवासी लड़कियों का दिल्ली, मुम्बई, हैदराबाद जैसे महानगरों की ओर पलायन 2000 ई. के बाद बहुत बढ़ गया है। इसके पीछे कोई ठोस कारण को मुख्य आधार नहीं माना जा सकता है। प्रायः लोग इसके लिए गरीबी को मुख्य आधार मानते हैं। दरअसल अभी यह धंधा या कारोबार दलालों के माध्यम से ज्यादा हो रहा है। यह नियोजित तरीके से एजेंटों द्वारा 10 से 15 वर्ष की लड़कियों को या मैट्रिक फेल लड़कियों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर लिया जाता है। लेकिन उपन्यास में इन तत्वों पर प्रकाश नहीं डाला गया है जो उपन्यास की सबसे बड़ी सीमा है।

लेखक ने दिल्ली पलायन के जिन कारणों को रेखांकित किया है उनमें नशाखोरी, परिवार में अशांति और गरीबी प्रमुख हैं- “प्रायः हर रोज ही हड़िया पीकर घर लौटता। कभी-कभी तो महुआ चुलाई वाला दारू भी पीकर आता। हड़िया की बास तो सलोमी बरदाश्त कर लेती थी लेकिन दारू की दुर्गंध से उसे उबकाई-सी होने लगती थी ... अब पौलिना और पतरस में प्रायः हर रोज रात में झगड़े होने लगे थे।”¹

इतना ही नहीं, सलोमी के पिता जी द्वारा बच्चों का स्कूल फीस समय से नहीं दे पाने पर बच्चों का नाम स्कूल से कटने तक की नौबत आ जाती है, जिसका प्रभाव सलोमी पर इस प्रकार पड़ता है- “मुझे तो कभी-कभी मन में आता है कि कहीं किसी बड़े शहर में चली जाऊँ और काम करने लगूँ ताकि अपने छोटे भाई और बहन को पढ़ा सकूँ।”²

जब कोई विकल्प नहीं दिखाई देता है तो सलोमी अपनी सोच को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है- “वह जानती थी कि वह घर से भाग गयी थी। किसी को उसने नहीं बताया था। चुपचाप चली गयी थी। वैसे उसका मकसद नेक था। उसने चोरी नहीं की थी। किसी से झगड़ा भी नहीं किया था। वह तो इसलिए दिल्ली चली गयी थी कि रुपये कमाये जिससे अपने छोटे भाई-बहनों को पढ़ा सके। घर की गिरती हालत में थोड़ा सुधार लाने में मदद दे सके। यही इरादा था उसका।”³

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 163

² वही, पृ.सं. 202

³ वही, पृ.सं. 215

मार्था और सलोमी अपनी मजबूरी के कारण दिल्ली आई थीं। लेकिन अब समय काफी बदल चुका है- “सालो समय बहुत तेजी से बदल रहा है। तुम देख रही हो। कल तक हम यहां अपनी मजबूरियों के कारण आये थे अब लोग यूं ही आ रहे हैं।”¹

सलोमी गौर करने लगी है और कहती है- “वैसे पिछले पांच सालों में हर साल राँची तरफ से दर्जनों नयी लड़कियाँ दिल्ली आने लगी थीं। एतवार के दिन तो अब ऐसा लगता गिरजाघर के पास जैसे आया काम करने वाली लड़कियों का मिस्सा पूजा के बाद मेला लगा हुआ हो।”²

“लेकिन अब जो लड़कियां आया का काम करने के लिए आ रही थीं, वे बस मस्ती के लिए अधिकांश आ रही थीं। शुरू में वह उन लड़कियों को समझाने की कोशिश करती थी, लेकिन अधिकांश नयी लड़कियां उससे कन्नी काटने का प्रयास करतीं।”³

दिल्ली आने वाली लड़कियों के स्वरूप में बेहद परिवर्तन आया है, ये बिचौलिया संस्कृति का परिणाम है। दलालों ने इसे एक उद्योग की भाँति विकसित करने का प्रयत्न किया है।

एन.जी.ओ. आदिवासियों को किस रूप में देखता है और इनको कैसे इस्तेमाल करता है इस विषय में राकेश कुमार सिंह लिखते हैं- “आखिरी उम्मीद थी गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठन। विकास के ये अग्रदूत (एन.जी.ओ.) झारखंड के बीहड़ों में उतरने लगे हैं। इनमें से अधिकांश बड़े पैमाने पर एक समानांतर शक्ति-व्यवस्था और शासन तंत्र में बदल रहे तथा देश के आंतरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप का सम्मानजनक नकाब पहने, कुकुरमुत्तों की भाँति उगी अर्द्धसरकारी संस्थाएं हैं। ये देशी-विदेशी सहायता राशि से अपनी जेबें भर रही हैं। आदिवासी लड़कियों को नगरों-महानगरों में आया, महरी या नर्स का काम दिलाने का झांसा देकर उन्हें देह मंडियों में झोंक रही हैं।”⁴

लड़कियों को अच्छा मालिक मिले या खराब मालिक मिले, उनका शारीरिक शोषण हो या न हो गाँव, घर, समाज में उनके प्रति लोगों की सोच बदल जाती है। मार्था इसकी भुक्तभोगी है और एक जगह

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 271

² वही, पृ.सं. 270

³ वही, पृ.सं. 270

⁴ बहुवचन - संपा. अशोक मिश्र, अंक 33-34, संयुक्तांक, अप्रैल-जून-जुलाई-सितम्बर, 2012, पृ.सं. 13

कहती है- “लेकिन एक बात अच्छी तरह से मन में गांठ बांध लेना। एक बार जो तुम गाँव से भागकर दिल्ली आ गयी, तो तुम्हें पहले की तरह परिवार में प्रेम सम्मान कुछ नहीं मिलने वाला है। मैं इस बात को परख चुकी हूँ। हां, वे तुम्हारे रूपों के लिए तुम्हें बर्दाश्त जरूर कर लेंगे। लेकिन प्यार पहले सा। बिल्कुल भूल जाओ।”¹

दिल्ली या अन्य महानगरों में काम करने वाली या वहां से वापस गाँव लौटी हुई लड़कियों को आदिवासी समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। उक्त अनुभव का जीवंत उदाहरण मार्था है। विशेषकर वैवाहिक रिश्ते तय होने के समय ऐसी लड़कियों को तिरस्कार या हीन दृष्टि से देखा जाता है।

2.5 ‘समर शेष है’ - विनोद कुमार

विनोद कुमार का प्रथम उपन्यास है- ‘समर शेष है’। जिसमें शिबू सोरेन के शुरूआती दिनों की सामाजिक, आर्थिक सुधार अभियान, महाजनी संस्कृति का डटकर खुल्लम-खुला विरोध, यह उनके नेतृत्व के उभार का दौर था। औपन्यासिक कृति का केन्द्रीय और प्रतिनिधि पात्र शिबू सोरेन उर्फ ‘गुरुजी’ हैं। उपन्यास का प्रारंभ कर्ज की समस्या से होता है, जिसकी चर्चा दूसरे अध्याय में की जा चुकी है। वैसे इस उपन्यास में अनेकानेक समस्याएँ हैं जिनका क्रमवार अध्ययन किया जाना है।

2.5.1 बेगारी और वेश्यावृत्ति की समस्या

औद्योगिक संस्कृति अपने साथ कई समस्याएँ और बुराइयों को लेकर आता है। हरेन्द्र मिश्रा भी उसी की एक कड़ी है, जिसके संदर्भ में लेखक लिखता है- “हर दो-चार दिन के अंतराल पर वह चास आता है। हलधर के होटल खाना खाता है, दारू पीता है और रात घिरते ही सावित्री के झोपड़े में पहुँच जाता है। सावित्री को भी उसका आना बुरा नहीं लगता। बुरा लगेगा भी क्यों भला। सुरेन्द्र मिश्रा गबरू जवान है। ... सबसे बड़ी बात यह कि जाने के पहले दस-पाँच रुपये उसके हाथ में थमा जाता है। यानी उतने रुपये एक रात के जितनी वह कई दिनों तक कठिन श्रम के बाद भी कमा नहीं पाती। कमाएंगी भी क्या? उसके नसीब में तो अब तक बेगार खटना लिखा था।”²

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पृ.सं. 119

² समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 176

उक्त पंक्तियों से कई चीजें ध्वनित होती हैं - निर्धनता, विस्थापन और बेगारी की झलक तो मिलती है, इसके साथ-ही-साथ सावित्री जहां काम करती है वहां उसका शारीरिक शोषण भी होता है, इसलिए तो वह हरेन्द्र मिश्रा के घर आने को बुरा नहीं मानती है।

2.5.2 ईंट भट्टा में मजदूरों का शोषण

गरीबी और बेरोजगारी के कारण झारखंड के अधिकांश गाँवों के आदिवासी (लड़के, लड़कियाँ, पुरुष, स्त्री) छः माह गाँव में रहते हैं और छः महीना ईंट-भट्टे में नारकीय जीवन व्यतीत करने को अभिशप्त हैं। यही हर साल का रूटीन है। विनोद कुमार इस पलायन को इस तरह रेखांकित करते हैं- “हेडबरगा गाँव के बाहर इमली पेड़ के नीचे एक ट्रक खड़ी है। वहीं पर सभी को जमा होना था। कुल 28 लोग जा रहे हैं। अठारह पुरुष और दस औरतें। मजीत दोनों को मुंशी के पास ले जाता है। साँवले रंग का एक लम्बा-सा आदमी। जबड़े की हड्डी उभरी हुई। आँखों के पपोटे फूले हुए। सर गंजा। बगल में दोनों तरफ थोड़े से बाल। बीड़ी का आखिरी कश खींचकर उसने बचा हुआ टुकड़ा एक तरफ उछाल दिया और दोनों लड़कियों को तौलती निगाहों से देखकर बोला- “सब समझा दिया है न... कोई टंटा तो नहीं खड़ा करेंगी वहाँ ?”¹

उक्त किस्म का छः मासिक पलायन का चित्र आज भी आदिवासी गाँवों में आसानी से देखा जा सकता है।

2.5.3 हवस की शिकार मजीत

विजय ईंट भट्टे के मालिक का बेटा है। उसके साथ उसका दोस्त भी आया है। दोनों काम देखने के बहाने मजीत जैसी सुन्दर मजदूरिन के पीछे पड़ जाते हैं और इस योजना में मुंशी उनका साथ देता है। शराब पीने के पश्चात दोनों झोपड़ी की ओर बढ़ते हैं दोस्त से आश्वासन होने के लिए पूछता है- “उसी की झोपड़ी है न” विजय हँसकर बोला - “क्या फर्क पड़ता है, कोई भी चलेगी।”²

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 25

² वही, पृ.सं. 61

“दोनों झोपड़ी में घुस गए। जीरन बेसुध सोई थी। अचानक आई इस विपत्ति से चीख पड़ी लेकिन उसकी चीख एक मजबूत हथेली में घुटकर रह गई उसे लगा वह पहाड़ के नीचे दबी जा रही है, उसका दम घुटकर रह जाने वाला है। सहारे के लिए उसने इधर-उधर हाथ पाँव फेंके। हाथ पड़ गया खाट के टूटे पाये पर। उसने पूरी ताकत से लकड़ी के उस कुन्दे को अपने पर झुके सिर पर दे मारा। किसी के गले से एक आह निकली और गिरफ्त ढीली हो गयी। उसने अपने पर गिर पड़े व्यक्ति को ढकेलकर एक तरफ किया और झोपड़ी के बाहर भागी। दौड़ती हुई मजीत के झोपड़ी में पहुँची। धक्का मारकर दरवाजा खोला और उससे चिपट गई ... मजीत ...”¹

उपर्युक्त घटना के बाद मजीत, जीरन को लेकर रातों-रात भाग गया, क्योंकि जीरन को वहां खतरा था। भटकते-भटकते दोनों धनबाद के कोयले खदान पहुँचते हैं जहाँ पर नये सिरे से काम करना प्रारंभ करते हैं।

2.5.4 रामेश्वरी का यौन शोषण

मुंशी के चन्द दिनों की सेवा से, रामेश्वरी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी। इसलिए तो जीरन के समझाने पर आत्मविश्वास के साथ वह कहती है- “मैं चाहूँगी तो मुंशी भी मुझसे विवाह कर लेगा।”² अब रामेश्वरी ईंट भट्टे में काम नहीं करती है। मुंशी के घर काम करते-करते वहीं रहने लगी। लेखक में अंतर्विरोध यहाँ आसानी से देखा जा सकता है। एक शोषक गैर आदिवासी (दिकू) मुंशी के मुँह से यह वाक्य निकलता है- “तुझे चाहता हूँ तुझे। तू अब मत जा। यहीं रह मेरे साथ मेरी घरवाली बनकर।”³ यह वाक्य सिर्फ और सिर्फ रामेश्वरी को झांसे में लाकर काम वासना की पूर्ति के लिए निकलता है और अंततः रखैल बनाकर रखता है। इसके पश्चात रामेश्वरी का दोहरा व्यक्तित्व लेखक द्वारा गढ़ना और खतरनाक है- “आह, यही गति होनी थी मेरी। फिर एक गहरा उच्छ्वास - घरवाली बनाकर रखो या पैरों की जूती। तुझे सुख दे सकूँ, अब यही रह गई मेरे जीवन की साधा।”⁴

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 61

² वही, पृ.सं. 56

³ वही, पृ.सं. 58

⁴ वही, पृ.सं. 58

उक्त अंश लेखक के अनर्गल प्रलाप का द्योतक है, जो उसके आदिवासी स्त्री के प्रति पूर्वाग्रह होने का परिचायक है।

2.6 'पाँव तले की दूब' - संजीव

यह संजीव का उपन्यास है जो झारखंड के आंदोलन की दशा और दिशा के बहाने यहाँ पर व्याप्त गरीबी, विस्थापन उनके बीच अंधविश्वास को परत-दर-परत उघाड़ते चलता है। यही नहीं झारखंड आंदोलन कैसे कुशल नेतृत्व और विजन के अभाव में भटकाव की स्थिति में आ जाता है। आंदोलन में कुछ प्रतिगामी तत्व शामिल होकर इसकी धार को कुंद करने का हरसंभव प्रयास करते हैं जिसे आदिवासी प्रतिनिधि अपने और पराये, पृथक तत्वों को पहचानने में विलम्ब कर चुके होते हैं।

2.6.1 विस्थापन की समस्या

विस्थापन आदिवासियों की अनेक समस्याओं का जड़ है। जड़ इसलिए कि उनके विशिष्ट भूखण्ड, भूमि, समुदाय, भाषा-संस्कृति सब इससे बिखरने लगता है। कहीं उनके लिए एक खास भूखंड में पुनर्वास की व्यवस्था नहीं की जाती है। जिससे दर-दर भटकते हुए पलायन के लिए वे मजबूर हो जाते हैं। इसके संदर्भ में लेखक एक जगह लिखते हैं- “लहू से लिखी जानी थी मेझिया की कहानी। वे मेरी नौकरी के शुरूआती दिन थे। मैं डोकरी के नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन में इंजीनियर के पद पर बहाल होकर नया-नया ही आया था। यही वह जगह थी जहाँ विस्थापितों की लड़ाई में मैं कभी शरीक हुआ करता था। कैसी विडम्बना थी, आज उसी प्लांट का मैं भी पुर्जा बनने को विवश था। वर्षों पहले यहाँ ‘डोकरी’ और ‘मकरा’ नाम के दो गाँव हुआ करते थे। किसी ने फूँक मारकर उड़ा दिया था उन्हें। कहाँ गए वे विस्थापित लोग?”¹

जाहिर है इस तरह के प्रश्न का जवाब आज भी देश के पास नहीं है। पुनर्वास के नियम महज कहने को है कभी इसका पूर्ण लाभ विस्थापित आदिवासियों को नहीं मिला।

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 24

2.6.2 धनी राज्य के गरीब आदिवासी

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झारखंड प्राकृतिक खनिज संपदा की दृष्टि से देश का सबसे अधिक संपन्न राज्य है, वहीं दूसरी ओर यहाँ का आदिवासी समुदाय घोर निर्धनता में जीवन व्यतीत करने को अभिशप्त है। इस हकीकत से अवगत कराते हुए एक पात्र कहता है- “यह धरती हमारी सोना उगलती है और उस सोने की धरती की हम कंगाल संतान हैं। प्रदेश की दो-तिहाई आय हमसे होती है और हमारी हालत- न तन पर साबुत कपड़ा, न पेट में भरपेट भात, दवा-दारू, पढ़ाई-लिखाई की बात छोड़ ही दीजिए। बहुत पैसा दिया सरकार ने- सरकार घोषणाएँ करती नहीं थकती, लेकिन हम कंगाल के कंगाल! मालो-माल कोई और हो रहा है। हमने कहा, हमें अपने करम पे छोड़ दो, लेकिन वो नहीं छोड़ते। सोने के खजाने पर कुण्डली मारकर बैठा साँप क्यों छोड़ दे?”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि आदिवासियों की निर्धनता के लिए कौन-कौन से तत्व जिम्मेदार हैं। विपन्नता का एक चित्र बेहद मार्मिक जान पड़ता है- “कई आदिवासी घरों में घुमाते हुए तुम मुझे ले चल रहे थे। वे इतने गरीब थे कि कपड़ों के नाम पर चिथड़े का कच्छा पहने हुए थे, पुट्टे तक खुले हुए। औरतें जैसे-तैसे बदन ढके हुए थीं। बच्चे कंगालों जैसे।”²

अपने लेख में कंचन एक जगह लिखती हैं- “झारखंड के आदिवासियों की बहुत बड़ी समस्या बहिर्गमन एवं विस्थापन की है। विस्थापन के कई कारण हैं यथा- विभिन्न तरह के प्लांट एवं कारखाने लगाने के लिए तथा खनिज-संपदा के उत्खनन हेतु इनकी जमीनें ले ली जाती हैं। वे केवल अपनी जमीन से ही विस्थापित नहीं होते अपितु अपने समाज एवं पेशे से भी विस्थापित हो जाते हैं। उन्हें अपना मूल पेशा छोड़कर दूसरा अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनमें व्यापक पैमाने पर गरीबी एवं भुखमरी बढ़ती है।”³ उक्त सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि विस्थापन कई समस्याओं का जड़ हुआ करता है।

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 93

² वही, पृ.सं. 14

³ अरावली उद्घोष - संपा. डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 99, अप्रैल 2013, पृ.सं. 47

2.6.3 वनों की अवैध कटाई

आजाद भारत की वन नीति के लिए ब्रिटिश काल की वन नीति ही आधार बनी। 1952 की वन नीति और 1894 की वन नीति का मूल लक्ष्य एक ही रहा वह था जंगल पर राज्य (स्टेट) का अधिकार कायम करना। फर्क वन-प्रशासन में आया। गुलाम भारत में वन प्रशासन का मूल सूत्र था- “वन नीति एवं वन कानून के जरिये ब्रिटिश हुकूमत के साम्राज्यवादी हित साधना। आजाद भारत में वन-प्रशासन का मूल सूत्र बना व्यावसायिक एवं औद्योगिक लाभ के लिए जंगल का दोहना”¹

आदिवासी के लिए जंगल जीवन है, जीवन का आधार है वहीं गैर आदिवासी (ठेकेदार और वन माफिया) के लिए जंगल संपत्ति के सिवाय कुछ नहीं। जंगल को संपत्ति के नजरिये से देखने का परिणाम है- वनों की अंधाधुंध कटाई एवं दोहना। वृक्षों की अवैध कटाई में पुलिस-वनाधिकारी कैसे ठेकेदार के साथ मिले होते हैं, का उदाहरण उपन्यास में द्रष्टव्य है- “यह दबाव बना शालबनी के जंगल में और फैल गया सरदार प्रीतम सिंह के कठगोले तक। शालबनी के जंगल के ठेकेदार थे सुक्खू सिंह। क्या पता डायरेक्ट ऐक्शन कब तक खिंचे, यह सोचकर अधिकारियों को पटाकर उन्होंने काफी रोले कटवाए थे। पर ट्रक मिलने में देर हुई और प्रीतम सिंह के गोले में पहला ट्रक आया कि फिलिप ने रोक दिया। वन की लकड़ियां तो शालबनी में ही रह गई थी। बौखलाकर सुक्खू सिंह ने पुलिस बुला ली। बकरे की तरह खींचकर ले जाया गया फिलिप को।”² आदिवासी कार्यकर्ताओं के साथ पुलिस इसी तरह पेश आती है।

2.6.4 प्रदूषण के कारक और उसके घातक प्रभाव

कारखाने खुलने और कई प्रकार के प्लांट लगने से उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ, कचरा, चिमनियों से निकलने वाला सीसा युक्त विषैला धुआँ पूरे वातावरण को आहिस्ता-आहिस्ता विषैला बना रहा है। उत्खनन कार्य से निकले अपशिष्ट पदार्थ भी जल एवं मिट्टी को प्रदूषित कर रहे हैं। जिसका प्रतिकूल प्रभाव इंसान के स्वास्थ्य पर दिखाई पड़ता है- उपन्यास का एक पात्र मांझी हड़ाम को बीमारी के कारणों से अवगत कराते हुए कहता है- “लेकिन चाचा, यह रोग तो मनसा नाले के चलते है। बिजली के

¹ झारखंड - हेमंत, पृ.सं. 259

² पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 97

कारखाने का सारा गंदा पानी बहता है इसमें। और उससे भी जहरीली है हवा। चिमनियों का सारा जहर फेंकती रहती हैं इधर।”¹

प्रदूषित जल और वातावरण का प्रभाव यह था कि “माझी हड़ाम के घर जाकर मैंने उसकी लकवा की मारी अठारह साल की बेटी जानकी को देखा। हाँथ-पाँव चेहरा सूखे के मरीज जैसे पतले और डरावने।”² डॉक्टर भी चिकित्सा के बदले ऐसे मरीजों को दुत्कार कर भगा देते हैं जिससे ये झाड़-फूंक (अंधविश्वास) की ओर अग्रसर होने को मजबूर होते हैं।

2.6.5 आंदोलन का बिखराव, उसकी प्रासंगिकता

‘पाँव तले की दूब’ उपन्यास कई समस्याओं एवं सवालों को उठाता है। इसके केन्द्र में झारखंड के पूर्वजों, आंदोलनकारियों ने जिस विचार, दर्शन को लेकर ‘अबुआ राज’ के लिए लड़ाई छेड़ी थी उसकी प्राप्ति हो भी गयी, लेकिन आज ‘संप्रभु राज्य’ झारखंड की मौजूदा स्थिति क्या है? क्या ‘अबुआ राज’ की मौलिक अवधारणा साकार हुई है? लेखक ने आंदोलन की प्रकृति एवं उसमें मौजूद तत्वों की संभावना को पहले ही देख लिया था। इसलिए इस उपन्यास के कुछ प्रसंग, आज की प्रासंगिकता को बखूबी उजागर करने में सफल हैं। कंचन जी अपने लेख में एक जगह लिखती हैं- “क्योंकि झारखंड आंदोलन के पूरे चरित्र को देखते हुए यह कह पाना बहुत मुश्किल था कि झारखंड बन जाने के बाद आदिवासियों की सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएंगी। इस उपन्यास की प्रासंगिकता को झारखंड की मौजूदा स्थिति तथा आदिवासियों की वर्तमान समस्या से समझा जा सकता है। आज झारखंड साम्राज्यवादी कंपनियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। एक ओर जहाँ आदिवासियों की अस्मिता को खत्म करने की कोशिश के तहत उन्हें हिंदुत्व का पाठ पढ़ाया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर उनके ही जल, जंगल और जमीन से विस्थापित कर नक्सलवाद तथा उग्रवाद के नाम पर ढेर किया जा रहा है।”³

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 66

² वही, पृ.सं. 66

³ अरावली उद्घोष - संपा. डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 99, अप्रैल 2013, पृ.सं. 46

उपर्युक्त पंक्तियाँ निस्संदेह आज का निरा यथार्थ है। झारखंड की वर्तमान राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए लेखक लिखता है- “मुझे खुशी है कि तुम आंदोलन में शरीक हो गये हो। लेकिन अगर कल को अलग झारखंड बन भी जाता है और उस पर डैनियल और अपने महतो जैसे लोग ही काबिज रहते हैं तो उसमें और आज की स्थिति में जिसमें उज्ज्वल राय और सुक्खू सिंह जैसे लोग काबिज हैं, कोई फर्क नहीं रह जाता। हद से हद आरक्षण की तरह ही एक नया अभिजात-वर्ग खड़ा हो जाएगा। तब तुम्हें ऐसे तत्वों के खिलाफ फिर से लड़ाई लड़नी पड़ेगी। अपने देश के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास तुम्हारे पास है, उसमें और इसमें फर्क सिर्फ गुण और मात्रा का है, बाकी प्रवृत्तियाँ तक समरूप ध्यान रहे, यह लड़ाई हर आदमी को हर समय अपने अंदर-बाहर लड़नी पड़ती है।”¹

झारखंड आंदोलन को लेखक व्यापक रूप में देखते हुए इसे राष्ट्रीय संदर्भ से जोड़ने का प्रयास किया है जो उनके व्यापक दृष्टि-बोध का परिचायक है।

2.7 ‘रेड जोन’ - विनोद कुमार

‘रेड जोन’ उपन्यास में झारखंड की अनेक समसामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण है। जैसे विस्थापन, पुनर्वास, कोयले का गैर-कानूनी खनन, नेता, नौकरशाहों और माफिया का घिनौना गठजोड़, शिबू सोरेन का दोहरा व्यक्तित्व, सामंती तत्वों द्वारा निजी सेना रखना, नक्सलियों का विचारधारा से भटकाव, आदिवासियों के नक्सली बनने की वजह, कारपोरेट मीडिया का असली चरित्र, समर्पित वामपंथियों की हत्या इत्यादि।

2.7.1 नक्सलवाद की समस्या

आदिवासियों के संघर्ष और नक्सलियों के वस्तुस्थिति के बारे में वीर भारत तलवार लिखते हैं- “झारखंड में आदिवासियों के संघर्षों का एक अनवरत सिलसिला है। इसके बाद भी वह कौन सा शून्य रह गया, जिसे भरने के लिए माओवादी आ गये? आदिवासियों के बीच माओवादियों को अपना आधार

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 106

बनाने का मौका कैसे मिला? और क्या माओवादी सचमुच आदिवासियों के हितों की रक्षा कर पाये? इन सवालों के जवाब 'रेड जोन' में खोजे जा सकते हैं।'¹

उपर्युक्त पंक्तियों में झारखंड की राजनीतिक-प्रशासनिक विफलता का चित्र स्पष्ट दृष्टिगत होता है। मौजूदा व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन करने वाले लोग तथा न्याय व हकों की मांग करने वालों के बारे में सरकार का रुख क्या है? उसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “अन्यायपूर्ण व्यवस्था का विरोध करने वाला हरेक व्यक्ति उनकी नजर में नक्सली है।”²

आंदोलनकारी आदिवासी आज उक्त पंक्तियों की तरह शिकार होता है। आगे मजदूरों के आर्थिक शोषण के संदर्भ में लेखक लिखते हैं - “वन विभाग में अदना से अदना कर्मचारी प्रतिदिन वेतन के रूप में सौ-सवा-सौ रुपये प्राप्त करता है। लेकिन बीड़ी पत्ता तोड़ने वाले मजदूर का मेहनताना क्या है? 25 पत्ते का एक पोला। सौ पोले तैयार करने की मजदूरी ढाई रुपये। यानी पत्ता तोड़ना, 25 पत्ते का एक बंडल बनाना और फिर वैसे सौ पोले जमा करना। इसके लिए वन विभाग ढाई रुपये देता है।”³

उक्त आर्थिक शोषण का लोकतांत्रिक तरीके से विरोध करने पर भी मजदूरों को न्याय नहीं मिल पाता है। ये व्यावहारिक चीजें हैं, जिसके संदर्भ में उपन्यास का एक पात्र आजाद स्पष्ट तरीके से कहता है- “आप उनसे बात करने जाइएगा तो उसका चपरासी आपको उनके कमरे में घुसने नहीं देगा। दो, चार, दस लोग मिलकर उसके दफ्तर के सामने धरना देंगे तो आपको खदेड़ दिया जाएगा। प्रदर्शन करेंगे तो पुलिस और सुरक्षा गार्ड आपको लाठियों से पीट-पीटकर कर या आपको नक्सली बताकर गोलियों से भून देंगे। कौन सुनता है आपकी बात? फिर कौन-सा रास्ता बचता है?”⁴

उक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि आदिवासी, मजदूर लोकतांत्रिक मार्गों में चलते हुए न्याय और अपने हकों की मांग करते हैं लेकिन अन्यायपूर्ण व्यवस्था का शिकार होकर टूट जाते हैं और अंत में नक्सलियों के शरण में जाने को मजबूर हो जाते हैं। स्वतंत्रता से अब तक सरकारों की विकास संबंधी

¹ रेड जोन - विनोद कुमार, पृ.सं. पीठ से

² वही, पृ.सं. 197

³ वही, पृ.सं. 198

⁴ वही, पृ.सं. 198

जितनी योजनाएं आदिवासी क्षेत्रों में लागू की गयी उससे आदिवासियों के उत्थान की बात तो छोड़िये, उनका कितना भला हुआ है? उसके संदर्भ में लेखक लिखता है - “आजादी के बाद भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में जितनी पूंजी लगी हुई है, उसका सबसे बड़ा हिस्सा इसी राज्य में लगा। सिंदरी, बोकारो, एचईसी, बीसीसीएल, सीसीएल, डीवीसी इसके उदाहरण हैं। लेकिन तमाम विकास बाहर से आये विकसित लोगों का चारागाह रहा। झारखंडियों का विकास नहीं हुआ, उल्टे उन्हें विस्थापन, शोषण और उपेक्षा का शिकार होना पड़ा। इसलिए उनके मन में सत्ताधारियों के प्रति गहरी घृणा है। जिस विकास में उनको पूछा नहीं जाता, जिसमें उनकी कोई भूमिका ही नहीं, उसका वे अंदर से विरोध करते हैं और कोई भी क्षेत्र तब तक विकास नहीं कर सकता जब तक उसमें उस क्षेत्र के लोगों का उत्साह जुड़ा न हो। इसलिए झारखंड एक आंतरिक उपनिवेश के रूप में रहा और कभी विकास की राह पर नहीं चल सका।”¹

उक्त पंक्तियां स्वतंत्रता से लेकर आज तक सरकारों की उपेक्षापूर्ण, आदिवासी विरोधी विकास नीति को शिद्दत के साथ बयां करती है।

कथित विकास नीतियों को व्यापक संदर्भ में देखते हुए, उर्मिलेश अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं- “विकास की हमारी राष्ट्रीय नीति के ऐसे कई अंतर्विरोध हैं जिनके चलते विकास परियोजनाओं के लोगों की विभिन्न समुदायों में समान हिस्सेदारी संभव नहीं हो सकती। आदिवासियों के साथ यही हुआ है। उनकी जमीन, नदी और पहाड़ विकास परियोजनाओं के लिए बदशकल किए जा रहे हैं पर उन परियोजनाओं में उनका हिस्सा नगण्य है। यह हमारे संविधान की उन मूल भावना के प्रतिकूल है, जिसके तहत धर्म, मूलवंश, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी तरह का भेदभाव वर्जित है।”²

अर्थात् स्पष्ट और कम शब्दों में कहें तो यह मानवाधिकारों का हनन नहीं तो और क्या है?

2.7.2 मानवाधिकार का हनन

“मानव अधिकार क्या है? मानव अधिकार से तात्पर्य उन सभी अधिकारों से है जो व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं प्रतिष्ठा से जुड़े हुए हैं। यह अधिकार भारतीय संविधान के भाग - तीन में

¹ रेड जोन - विनोद कुमार, पृ.सं. 371

² झारखंड जादुई जमीन का अंधेरा - उर्मिलेश, पृ.सं. 42

मूलभूत अधिकारों के नाम से वर्णित किये गये हैं और न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं। इसके अलावा ऐसे अधिकार जो अंतर्राष्ट्रीय समझौते के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा स्वीकार किये गये हैं और देश के न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं, को मानव अधिकार माना जाता है। इन अधिकारों में प्रदूषण मुक्त वातावरण में जीने का अधिकार, अभिरक्षा में यातनापूर्ण और अपमानजनक व्यवहार न होने संबंधी अधिकार और महिलाओं के साथ प्रतिष्ठापूर्ण व्यवहार शामिल हैं।¹

आये दिन मानवाधिकारों का हनन किस कदर और किन रूपों में होता है, उसकी गवाही हमारे दैनिक अखबार के मुख्य पृष्ठ प्रतिदिन दे देते हैं। मानवाधिकारों के प्रति देश व राज्य की सरकारें और पुलिस प्रशासन की प्रतिबद्धता व रवैया क्या है, उन्हें बताने की आवश्यकता नहीं है। इसकी वास्तविक जमीनी स्थिति से हम सब वाकिफ हैं और इसे आदिवासी और महिलाओं के संदर्भ में जोड़कर चर्चा की जाए तो मुद्दा प्रासंगिक और विद्रूप हो जाता है। मानवाधिकारों के हनन वाले प्रसंग उपन्यासों में भरे पड़े हैं। विशेषकर ‘ग्लोबल गाँव के देवता’, ‘धार’, ‘सावधान नीचे आग है’, ‘गगन घटा घहरानी’, ‘समर शेष है’ और ‘रेड जोन’ आदि उपन्यासों में मानवाधिकार हनन के अनेक संदर्भ बिखरे पड़े हैं। एक प्रसंग यहां द्रष्टव्य है- “वे आंधी-तूफान की तरह बस्ती पर टूट पड़ते हैं। जो भी सामने पड़ता है उसे बंदूक के कुंदों और डंडों से बेरहमी से पीटते हैं। घरों में वेग से घुसते हैं। मिट्टी के बर्तन, हाँड़ी, मोटर साइकिल, टीवी, रेडियो, छप्पर, खपरे सबको लाठियों से मार-मार कर चूर कर देते हैं। बस्ती की औरत-मर्द भाग खड़े होते हैं। जवान औरतों को टेब कर पकड़ते हैं। घरों में घसीट कर ले जाते हैं।”²

उक्त तांडव और पाश्चिक-बर्बरतापूर्ण हमला सी.आई.एस.एफ के जवानों द्वारा विस्थापित आदिवासियों के अस्थायी बस्ती पर किया जाता है, जो हर दृष्टि से घृणित और अमानवीय है। भारत के संविधान में मानवाधिकारों की रक्षा के प्रावधान किये गये हैं जो इस प्रकार हैं- “संविधान के अनुच्छेद

¹ Manavadhikar.co.in/humanrights.Php Dated 19.12.15

² रेड जोन - विनोद कुमार, पृ.सं. 326

14, 15, 16, 17, 19, 20, 21, 23, 24, 39, 43, 45 देश में मानवाधिकारों की रक्षा करने के लिए सुनिश्चित हैं।”¹

“भारत में 28 सितम्बर 1993 से मानव अधिकार कानून अमल में आया और 12 अक्टूबर 1993 में सरकार ने ‘राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग’ का गठन किया।”²

मानवाधिकार देखने-सुनने में जितने अच्छे और सराहनीय लगते हैं, व्यावहारिकता में ठीक उतने ही कठिन, दुष्कर और सपने की भांति हैं।

2.8 सामाजिक यथार्थ और प्रस्तुतिकरण

प्रत्येक रचनाकार की रचना दृष्टि और अंतर्दृष्टि विषयों एवं चीजों को देखने की भिन्न-भिन्न होती है। कभी-कभी लेखक द्वारा चीजों को स्वतंत्र रूप से देखते हुए भी वहाँ उनकी अपनी वैचारिक भूमि हावी होने लगती है। जो रचना के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। समाज के यथार्थ को हू-ब-हू साहित्य में प्रस्तुत नहीं किया जाता है, यथार्थ में कल्पना एवं कला के संयोग द्वारा उसे पठनीय एवं रसयुक्त रुचिकर बनाया जाता है। किन्तु आदिवासी जीवन मूल्य खुरदरी यथार्थ पर खड़ा, संघर्ष से तपा एक रूखड़े यथार्थ का मार्मिक जीवन है। उसमें आवश्यकता से ज्यादा कल्पना का समावेश उसका सत्यनाश कर, उनके साथ पक्षपात करने के सदृश्य होगा।

2.8.1 सामंजस्य संदर्भ-वर्णन

असुरों के वर्तमान के जटिल यथार्थ का वर्णन करने के लिए विदेशों से संदर्भानुसार तरह-तरह के उदाहरण देकर चीजों को स्पष्ट करने की गजब क्षमता और दृष्टि, रणेन्द्र में स्पष्ट दिखाई देती है- “बरबस प्राचीन अमेरिका के इंका, माया एज्टैक और सैकड़ों अन्य रेड इंडियंस याद आये। इसी तरह खदेड़े जाने वाले, इसी तरह से मार दिये जाने वाले। असुरों की तरह ही उनकी भी चन्द संख्या ही बची थी। बदहाल

¹ Bharatdiscovery.org/India/विश्व मानवाधिकार दिवस, दिनांक 15.12.15

² वही

जिंदगी गुजारती, संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है।”¹

रणेन्द्र क्षेत्रीय समस्याओं को वैश्विक स्तर पर जोड़कर देखने और दिखाने वाले रचनाकार हैं। उक्त पंक्तियां कथित मुख्यधारा की कड़ी आलोचना करती प्रतीत होती है।

2.8.2 ईसाई मिशनरी के प्रति पूर्वाग्रह

मिशनरियों के सकारात्मक योगदान को देश या राज्य में प्रायः कमतर करके ही आंका जाता है या उनकी उपेक्षा की जाती है। उनके प्रति हमारे अंदर कुछ पूर्वाग्रह घर कर गये हैं जिसे लेखक एक जगह लिखते हैं- “लेकिन चाय फिर गरमा कर तुम ले ही आए थे कि कोई गेरूवा वस्त्रधारी सदाचारी जी आ गए। आते ही उन्होंने क्रिश्चियन मिशनरीज और फादर कामिल बुल्के को काफी खरी-खोटी सुनाई, आप मनीष जी को समझाए सर, उनका लीडर किशना पगला गया है अरे अलग झारखंड की मांग किसके ‘पच्छ’ में जाएगा - वही क्रिश्चन्नुवा सब हमपे राज करेगा।”²

हिन्दी साहित्य जगत में फादर कामिल बुल्के का नाम बहुत आदर से लिया जाता है। एक विदेशी होकर उन्होंने हिन्दी साहित्य के लिए जितना काम किया वो अपने आप में बड़े गौरव की बात है। उपर्युक्त प्रसंग में फादर कामिल बुल्के के लिए ऐसा दिखाना लेखक की उसके प्रति घोर अज्ञानता एवं ईसाई मिशनरियों के प्रति हीन दृष्टि का परिचायक है। शिक्षा, स्वास्थ्य और जागरूकता कार्य आदिवासियों के बीच जिस तत्परता से ईसाई मिशनरियों ने किया उतना कार्य भारत के किसी अन्य संस्था ने उस दौर में नहीं किया इस सच्चाई को झुठलाया नहीं जा सकता है।

2.8.3 प्रतिबद्धता : मुख्य समाचार

आदिवासी समस्याओं में आज के पत्रकारिता की कोई दिलचस्पी नहीं है। समाचार पत्रों को बाजार-बिकाऊ न्यूज (समाचार) चाहिए। इस सामाजिक यथार्थ को लेखक रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “बस का हार्न मेरी रक्षा के लिए बज चुका था और तुम्हारी आवाज भरभरा गई थी। मैं तुम्हें कैसे बताता

¹ ग्लोबल गांव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 33

² पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 19

कि मुझे कुछ कॉल गर्ल्स से इंटरव्यू लेना था उसी दिन, जिसका न्यूज वैल्यू इससे कहीं ज्यादा था, अपेक्षाकृत चटखारेदार भी।”¹

कॉर्पोरेट मीडिया का असली चरित्र आनन्द प्रधान के शब्दों में- “90 के दशक में अखबारों से एक सोची समझी रणनीति के तहत उन सभी पत्रकारों को बाहर किया गया जो वामपंथी रूझान के थे या गरीबों के सवाल पर मुखर और नयी आर्थिक नीतियों के कटु आलोचक थे या वामपंथी जनवादी आंदोलनों से पत्रकारिता में आये थे। इस दौर में कई जाने-माने पत्रकार मीडिया संस्थानों से बाहर किये गये, जिसका गरीबों के प्रति सहानुभूति रखने वाले बाकी पत्रकारों पर यह असर पड़ा कि वे खामोश हो गये। यही नहीं जनांदोलनों से किसी तरह का संबंध रखने वाले पत्रकारों के लिए कॉर्पोरेट मीडिया के दरवाजे बंद होने लगे।”² निस्संदेह उक्त तथ्य कॉर्पोरेट मीडिया, पूंजीपति वर्ग का पक्षधर है एवं जन सरोकारों से अलगाव होते जाने का परिचायक है।

2.8.4 स्त्री पात्र का अश्लील चित्रण

अधिकांश गैर-आदिवासी लेखक आदिवासी स्त्री का कामुक एवं अश्लील वर्णन कहीं न कहीं अवश्य दिखाते हैं। इसे लेखक की कमजोरी या विकृत दृष्टि या उसके अंदर की कामुक प्रवृत्ति ही माना जाएगा, जो उसके नकारात्मक पक्ष को पुष्ट करता है- “आज मुझे कनफेस करने दें कि शीला पर मैं आसक्ति अनुभव करने लगा था। उसके उन्नत उरोज, तनी हुई ग्रीवा, मदहोश आँखों को तनिक उलटकर कभी इधर तो कभी उधर तिरछे फेरते हुए आसमान की ओर मुँह उठाकर ‘ओ... कहना, फिर हल्की जुम्बिश के साथ एक गहरी साँस लेना और पूरे वजूद का खिंचे हुए सितार-सा झनझना उठना। सोचता रहा, वह औरत गई कहाँ? मुझे लगता था, मैं ही ‘देश-परदेश’ के ईंटों के भट्टे का दलाल हूँ। मैंने ही चुरा लिया है उसे, और मैं ही उसका विरही प्रेमी भी हूँ।”³

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 21

² इस्पातिका - संपा. अविनाश कुमार, आदिवासी विशेषांक, अंक 1, जनवरी-जून 2012, पृ.सं. 150

³ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 116

शीला केरकेड़ा के पीछे हमेशा भागता युवक प्रेमी कम, कामुक और कुण्ठा से ग्रस्त ज्यादा दिखाई देता है क्योंकि उसके मन-स्मृतियाँ शीला के देह से परे नहीं जा पाती है।

2.8.5 प्रवृत्ति विरोधी वर्णन

आदिवासियों की प्रमुख प्रवृत्ति और पहचान का विरोधी वर्णन करते हुए लेखक एक जगह लिखता है- “आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं - अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है। हड़िया या दारू ये पिँगें ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे।”¹ एक कहावत है, ‘चलना ही नृत्य, बोलना ही गीत है’। यह कहावत आदिवासी जीवन का सच है। प्रकृति और लोक नृत्य के संबंध में प्रमीला केपी जी के लेख का एक अंश द्रष्टव्य है- “आदिवासी जीवन की सबसे अहम और अनन्य संपत्ति उनका प्रकृति ज्ञान और लोक ज्ञान है। स्वास्थ्य एवं सेहत की रक्षा एवं स्फूर्ति के लिए उनके पास प्रकृति सिद्ध इलाज विधियाँ और परम्परागत वैद्य-रीतियाँ हैं। जन्म से लेकर बाल-कौमार्य, वयस्कता प्रसूति आदि सभी स्थितियों में इस्तेमाल करने योग्य चिकित्सा-विधियाँ इनके पास हैं। इनकी अनन्यता यह भी है कि वे कई इलाज विधियों को प्रसंगानुसार लोकगीत, लोकनृत्य से मिलाकर सामूहिक रूप में उपयुक्त करते हैं।”²

आदिवासियों के पास देशज ज्ञान, प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का अमूल्य भण्डार है। जिनके महत्व को उक्त लेख का अंश प्रतिपादित करता है। आदिवासी लोकगीत उनकी संस्कृति का अभिन्न अंग है, शोक हो या हर्ष लोकगीत उनकी भावाभिव्यक्ति का मुख्य आधार है।

2.9 कल्पना, आदर्श, प्रेम और यथार्थ का निवेश

यथार्थ, समाज की समस्याओं, त्रासदी और विसंगतियों को अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार परिस्थितिनुरूप, स्थान विशेष में पात्र को गढ़ने, स्थापित करने के लिए समय-समय पर कल्पना, आदर्श और प्रेम के सहारे रचना को कलात्मक और जीवंत बनाने का हरसंभव प्रयास करता है। रचनाकार अपनी

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 14

² सबलोग - संपा. किशन कालजयी, अंक 1, जनवरी 2011, पृ.सं. 33-34

कल्पना शक्ति, शब्द चयन के माध्यम से एक सामाजिक, यथार्थवादी, आदिवासी उपन्यास को जीवंत रूप देने का प्रयास करता है। आदिवासियों को समझे बगैर आदिवासी जीवन-यथार्थ, जीवन-दर्शन पर कल्पना, आदर्श और प्रेम का सामंजस्य बैठाना असंभव नहीं पर, मुश्किल अवश्य होगा। आदिवासी जीवन-दर्शन बाहर से जितना सरल एवं सहज दिखाई देता है भीतर से उतना ही जटिल एवं दुरूह है।

2.9.1 स्त्री आदर्श

वाल्टर भेंगरा 'तरूण' द्वारा रचित उपन्यास 'शाम की सुबह' की केन्द्रीय नायिका 'संध्या' की माँ की मृत्यु अस्पताल में कुछ नर्सों की लापरवाही की वजह से हो जाती है जिससे दुःखित होकर संध्या नर्स बनने का प्रण लेती हुई अपने पिताजी से कहती है- "काम और कर्तव्य तो सब लोगों के होते हैं, बाबूजी! फर्क इतना ही है कि कौन कितनी ईमानदारी और परिश्रम के साथ उन्हें पूरा करता है। मेरा जीवन अपने कर्तव्य के लिए सदैव प्रयत्नशील रहेगा।"¹

संध्या अंतर्आत्मा की आदर्श पुकार से प्रेरित होकर नर्स बनने का प्रण लेती है। जो उसके समर्पित सेवा भावना का द्योतक है।

रंगेनी 'पठार पर कोहरा' उपन्यास की प्रमुख नारी पात्रा है। वह दो बार बलात्कार की शिकार होती है, एक बार रेलवे के सिपाहियों द्वारा और दूसरी बार तथाकथित सिद्ध पुरुष औघड़ द्वारा। रंगेनी गर्भवती है, इसको लेकर पंचायत होती है। पंचायत में कोई उसकी सच्चाई सुनने को तैयार नहीं है उल्टे रंगेनी को दोषी ठहराया जाता है। इस पर वह पंचायत को मुंहतोड़ जवाब देकर पितृसत्ता को चुनौती देते हुए कहती है- "मरद के नाम से घिन आती है हमें ... अब ... हमें किसी मरद पर भरोसा नहीं।"²

रंगेनी को भले अक्षर-ज्ञान का पता नहीं है, लेकिन वह जिंदगी का व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण है। उसने मित्र और दुश्मन, शोषक और हितैषी, अपना और पराया में भेद करना सीख लिया है। इसलिए तो साहू द्वारा संजीव सान्याल के संदर्भ में दुष्प्रचार का विरोध करते हुए, संजीव को न केवल अपने यहां आश्रय देती है, बल्कि उसका सहारा भी बनती है- "तो जान ले कि अब हम उसको नई भगाएंगे। हमें

¹ शाम की सुबह - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.सं. 28

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 70

बुझाता है कि जो आदमीन तेरे जैसे कसाई को बढ़िया नई लग रहा साहू, जरूर उ नीमन (अच्छा) आदमीन होना चाहिए।”¹

‘मैना’ संजीव द्वारा रचित उपन्यास ‘धार’ की केन्द्रीय नारी पात्रा है। वह विपरीत परिस्थितियों में भी शोषकों, ठेकेदार और दलालों का विरोध करते हुए अपने पिता (टेंगर) और पति (फोकल) का साथ छोड़ देती है क्योंकि ये दोनों फैक्टरी के मालिक महेन्द्र बाबू का साथ देते हैं। अर्थात् दोनों उसके दलाल बन जाते हैं। उपन्यास में मैना की भूमिका को रेखांकित करते हुए अपनी पुस्तक में वीर भारत तलवार लिखते हैं- “इस उपन्यास में मैना का चरित्र छोड़कर और कुछ नहीं है। मैना एक लड़ाकू आदिवासी औरत है जो पुलिस, गुंडों, ठेकेदारों तथा अपने घर-गाँव के मुखियाओं के खिलाफ लड़ती है और ग्रामीणों को भी लड़ने के लिए संगठित करना चाहती है। वह निडर है, मेहनती है, खरी बातें बोलती है। छोटानागपुर-संथाल परगना में, खासकर इसके कोयलांचल में पिछले बीस सालों से विभिन्न वामपंथी दलों ने संगठन और आंदोलन का जो काम किया है, उसी की देन है मैना का धारदार चरित्र।”² मैना के जीवन में प्रेम के विस्तार पक्ष और निर्णय क्षमता के संदर्भ में वीर भारत तलवार आगे लिखते हैं- “मैना के जीवन का प्रेम-पक्ष महान है, इसमें शक नहीं। यह महानता दो बातों में है- प्रेम की एकनिष्ठता में और प्रेम की स्वतंत्रता में। वह जीवन में तीन बार प्रेम करती है और तीन बार पति चुनती है। लेकिन एक समय में एक ही से प्रेम करती है और पूरे आवेग के साथ करती है। उसका प्रेम स्वतंत्र है, स्वेच्छा से किया गया है। उसका पहला पति और प्रेमी फोकल संघर्ष के दौरान कंपनी का दलाल बन जाता है तो वह उसे छोड़ देती है, उसका श्राद्ध कर देती है। जेलर के बलात्कार से पैदा हुए बच्चे को समाज के सामने पालने के लिए वह मंगर को अपना नया पति बनाती है। जब वह भी दलाल निकलता है तो उसे भी छोड़ देती है। कहती है - जब दलाल का ही हाथ पकड़ना था तो फोकल क्या खराब था तुमसे? प्रेम की निष्ठा और प्रेम की

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 126

² झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 440

स्वतंत्रता, इन दोनों की द्वंद्वात्मक एकता ही उसके प्रेम पक्ष की महानता है। दूसरी ओर, यह प्रेम उसके संघर्ष से जुड़ा हुआ है। उसे प्रेमी चाहिए सिर्फ प्रेम करने के लिए नहीं, संघर्ष में साथ देने के लिए भी।”¹

इस कसौटी में दोनों पति फोकल और मंगर, मैना के लिए निकम्मे, डरपोक और दलाल निकलते हैं। किन्तु शर्मा जी उसके घोषित पति नहीं होने के बावजूद उसके संघर्ष और प्रेम में साथ खड़े नजर आते हैं- “तुम हमको केया नहीं दिये शरमा बाबू! नया जनम, नयी जिंदगी, नयी आँख, नया दिल, नया दिमाग। तुम नहीं होते तो सच कहते हैं, सारी हूक इसी कलेजे में लिए हुए हम कब के मर-बिला गये होते। तुम्हीं हमारे बाप हो, गुरु हो, मरद हो, बेटा हो, दोस्त हो- केया नहीं हो तुम!”²

डॉ. रामचन्द्र तिवारी अपनी पुस्तक में एक जगह ‘धार’ उपन्यास और उसकी नायिका ‘मैना’ के संदर्भ में लिखते हैं- “धार में तो उन्होंने मजदूरों की अपनी सहकारी खदान ‘जनखदान’ का विकल्प भी पेश किया है। यह विकल्प बहुत कुछ किताबी प्रतीत होती है ‘धार’ की ‘मैना’ अपने संघर्ष और साहस से प्रभावित करती है, किन्तु उसके चरित्र में विकास की संभावना नहीं है।”³

उपन्यास में ‘जनखदान’ को डॉ. तिवारी विकल्प के रूप में दिखाने का कमजोर आक्षेप संजीव पर लगाते हैं किन्तु यह जनखदान की घटना कल्पित नहीं, सच्चाई पर आधारित है उसके संदर्भ में तलवार जी लिखते हैं- “यह घटना 1979 से 1982 के बीच संथाल परगना के देवघर सब-डिवीजन के चित्रा कोयला क्षेत्र के सहारजोड़ी नामक स्थान में घटी थी जहाँ ‘जन मुक्ति मोर्चा’ नामक एक क्षेत्रीय संगठन के नेतृत्व में एक कोयला खदान शुरू की गयी थी जिसका प्रबंधन और संचालन खदान में काम करने वाले मजदूर खुद करते थे।”⁴

‘सीता’ रमणिका गुप्ता का उपन्यास है, जिसमें झारखंड के केदला कोयला खदान में मजदूरों के शोषण, स्त्रियों की पीड़ा, पूरा सामंती माहौल का अनुभव जन्य प्रामाणिक चित्रण है। ‘सीता’ उपन्यास की केन्द्रीय पात्रा सीता के बारे में संजीव ठाकुर अपने लेख में एक जगह लिखते हैं- “सीता श्रमजीवी महिला

¹ झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 441

² धार - संजीव, पृ.सं. 206

³ हिन्दी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 199

⁴ झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 435

की प्रतीक है। श्रम करती है और संघर्ष करती है। कोलियरी में होने वाले अन्यायों का विरोध करती है। पुरुषों के अन्याय का प्रतिकार करती है। जो सीता शुरू में भोली-भाली थी अपनी सारी कमाई लाकर अपने पति और बाद में प्रेमी को देती रहती है, वह छली जाने के एहसास के बाद फुफकार उठती है।”¹

सीता अपने पति द्वारा त्यागे जाने पर यासीन से अपनी आदिवासी रीति-रिवाज से, अपनी शर्तों पर शादी करती है किन्तु बच्चे होने के पश्चात् यासीन बच्चों का नाम अपने नाम पर नहीं रखना चाहता है। बच्चों के अधिकार के लिए जागरूक सीता पिता के साथ मैटरनिटी बेनेफिट फार्म भरने के लिए मैनेजर के पास जाने पर मैनेजर द्वारा जाँच कराकर फार्म भराने की बात कहने पर वह बिफर उठती है- “किस बात की जाँच मनीजर साहब? तोरू जोरू के बच्चा जना, तो जी.एम. ने जाँच करवाई थी। स्कूलवा में तोर बेटा के बप्पा के नाम पर तोर नाम लिखाया तो क्या मास्टर ने जाँच करवाई थी तोर जोरू की? ये मुंशी बाबू लोग का फार्म भरता है, तो कोई जाँच करता है? ई दू कानून कैसन? ... भर मोर फार्म! अभी कर सैन (साईन) इपर! काहै इ रकम ताक रहल है रे मोर तरफ? भर साले नहीं तो आज टांगी! फैसला कर देतै, जांचों कर लेगी मोर टांगी। हां ... आ... आ...”²

सीता का आक्रोशित होना स्वाभाविक है कोयला खदान के ठेकेदार, क्लर्क, मुंशी आदिवासी लड़कियों को प्रेमिका या रखैल बनाकर रखते हैं और बच्चे होने पर अपने संपत्ति में हिस्सा उन बच्चों को देना नहीं चाहते हैं, यासीन तो महज एक उदाहरण है। इस तरह के कई उदाहरण ईंट के भट्टों और फैक्टरियों में देखने को मिलता है। ऐसे बच्चों के हक और न्याय के लिए सीता आवाज उठाती है- “ठहर साले, ‘रखनी वाले’ दोगले। घर पर जोरू रखते हो, कोलरी में रखनी। ... ‘सब रखनियों’ की औलाद को गछवा कर जैदाद में हिस्सा न दिलवाय दिया तो हमर नाम सीता नाया।”³

सीता एक साहसी, निडर और लड़ाकू महिला है। वह कोयलरी में हो रहे तमाम शोषणों के खिलाफ मजदूरों को एकजुट कर, संगठित करके शोषकों के खिलाफ अपने अधिकार के लिए आंदोलन

¹ उनकी जिजीविषा उनका संघर्ष - हेमलता महिश्वर, पृ.सं. 57

² सीता - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 62

³ वही, पृ.सं. 61

करती है। वह अनपढ़ होकर भी प्रगतिशील विचार की महिला है। सूरज बड़त्या अपने लेख में एक जगह उसके बारे में लिखते हैं- “जहां सीता एक स्त्री होकर प्रेम के लिए जात-बिरादरी धर्म को धकेल कर यासीन से शादी करती है, वहीं यासीन एक पुरुष होकर धर्म की चौहदियों से नहीं निकल पाता। वह छुपकर अपने धर्म की स्त्री से पुनः विवाह कर लेता है लेकिन सीता है कि जैसे अपने लगातार नए मूल्यों की स्थापना करना ही सीखा हो।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से सीता के आदर्श पत्नी, आदर्श एवं प्रगतिशील आदिवासी महिला होने का आभास तो होता ही है इसके साथ ही साथ पुरुष के बहु विवाह, स्वजातीय विवाह के प्रवृत्ति के यथार्थ को भी उजागर करता है।

‘मौसी’ रमणिका गुप्ता का दूसरा लघु उपन्यास है। ‘मौसी’ उपन्यास की केन्द्रीय नायिका मौसी है जो वर्तमान के आदिवासी समाज के महिलाओं की मजदूरी करने, आजीविका के क्रम में दिक्कतों के झूठे प्रेम में अनवरत फंसते जाने की अंतहीन कथा है। इसके संदर्भ में चन्द्रेश्वर कर्ण अपने लेख में एक जगह लिखते हैं- “मौसी उपन्यास की ‘मौसी’ आदिवासी स्त्रियों के दुःखद और संघर्षमय जीवन का प्रतीक है। उसके जीवन में सुख का कोई लमहा नहीं आया। उसे जीवन सहने को मिला जीने को नहीं।”² उक्त पंक्तियां मौसी के अथाह दुःख-तकलीफों को बयां करती है।

मौसी त्याग, तपस्या और सेवा की आदर्श प्रतिमूर्ति है। वह न केवल भाई के बेटे मोहना को गोद लेती है बल्कि सलीम की प्रेमिका रहकर उसके अब्बू (पिता) और उसके छोटे भाई की सेवा भी करती है, जब सलीम की माँ की प्रसव के दरम्यान मृत्यु हो जाती है। यही नहीं मुंशी भगवान सिंह की सेवा करती है और प्रत्येक जगह सेवा के बदले उसे उपेक्षा, धोखा और तिरस्कार ही मिलता है इतना कुछ होने के दरम्यान मौसी को एक योग्य हमउम्र लड़का मिलता है जिसका विरोध गाँव के अपने समुदाय वाले करते हैं जिसके बारे में मौसी अपनी तमाम पीड़ा, विवशता प्रकट करते हुए कहती है- “कितना काम कर देता रहा माधो। अब गुजर करे खातिर तो कोई मददगार चाहिए ना। फिर इतने दिनों बाद तो मिला है हमारी

¹ उनकी जिजीविषा उनका संघर्ष - हेमलता महिश्वर, पृ.सं 52

² वही, पृ.सं 120

उमिर का कोई अब तक तो ‘बूढ़ावन’ को ही ढोत रहल रही मैं। पता नहीं क्यों सारा गाँव जलने लग गेल है? ... “क्यों छाती पर साँप लोटे लगत है इन सबनी के, मोर खुशी देख के? मौलवी साहब से निकाह हुआ, त कोइओ नाय बोलले! भगवान सिंह ले गेले, फिर छोड़ देले, तबौ काऊ नाय कुसुकले! आइज (आज) जब माधो हमर संग रहे खोजे हैं, तो सब जात-कुजात खोजे लगल है। ऊ मियां, क्या जात लगता था? बाबू साहब का इनका जात था? दुसाध क्या आदमी नाय होत है?”¹

मौसी और माधो के मिलन में जातीयता दीवार बनकर खड़ी होती है अर्थात मौसी के समुदाय और गाँव वाले मौसी के माधो से बढ़ते संबंध को पचा नहीं पाते हैं क्योंकि माधो दुसाध जाति का है। मौसी जातीय बंधन को तोड़कर आगे निकलने की कोशिश करती है लेकिन बिरादरी वाले बाधक बन जाते हैं।

2.9.2 पुरुष आदर्श

‘धार’ उपन्यास का एक पात्र अविनाश शर्मा जो उपन्यास में ‘शर्मा’ के नाम से एक विशिष्ट पहचान वाला आदिवासी हितचिंतक है। जो वामपंथी विचारधारा से ओतप्रोत है, इसलिए वह दिकुओं का, दलालों का विरोध करते हुए आदिवासियों को संगठित करता है तथा आंदोलन के दरम्यान कई बार जेल भी जाता है। गैर-कानूनी कोयला खनन से आदिवासी, मजदूरों की तमाम समस्याओं को देखते हुए ‘जनखदान’ का विकल्प शुरू करते हुए कहते हैं- “हम यह मानकर चल रहे हैं कि कोयला सरकार का है और हम भी। हम एक-एक रोड़े का हिसाब सरकार को भेजते रहेंगे। हम उन्हें बतायेंगे कि वर्षों से खेती-बारी चौपट रहने और कामधाम न रहने के कारण हम लोगों की जिंदगी सड़ती जा रही है। चोरी डकैती बढ़ गई है। हमें चूंकि आप काम नहीं दे पा रहे हैं, इसलिए हमें मजबूरी में यह काम शुरू करने दिया जाए। हम प्रधानमंत्री, उद्योगमंत्री, खानमंत्री, मुख्यमंत्री, कोल इंडिया, ई.सी.एल. के चेयरमैन, मजिस्ट्रेट, एस.पी., एस.डी.ओ. सबको उस दरखास की नकल देंगे। हम डी.जी.एम.एस. और अफसरों से मुआयना करने की परारथना करेंगे।”²

¹ मौसी - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 97

² धार - संजीव, पृ.सं. 137

शर्मा जी आदिवासियों के सहयोग से और मैना के नेतृत्व में ‘जनखदान’ जैसे सामाजिक कार्य को दिनों-दिन आगे बढ़ाते हैं किन्तु भ्रष्टाचारी तत्वों को (अफसर, थानेदार) जनखदान के बारे में पता चलते ही अपना हिस्सा लेने पहुँच जाते हैं, उनको तर्कसहित समझाते हुए शर्मा जी विस्तार से बताते हैं- “यह ‘जनखदान’ है - जनता की खदान! पन्द्रह दिन से बिना मजूरी पाये घर का खाकर सब लगन से काम कर रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह खदान उनकी है, देश की। इसलिए कृतसंकल्प है कि मजूरी के बाद सारा बचा कोयला सरकार को दे देंगे, एक ढेला भी नहीं छुएँगे। फिर आप ही सोचिए, ये बीस हजार कहाँ से और क्यों दें आपको। ले जाना हो तो आज की रेजिंग रिपोर्ट की नकल आप ले जाइए। ... रिपोर्ट लेकर जाँच कर आप चले जाइये और अब से आईये तो रौब-दाब को थाने या कैम्प में छोड़कर आइये, दोस्त की हैसियत से आइये, ईमानदार सरकारी कर्मचारी बनकर आइये, हमारा सर आपके स्वागत में झुका रहेगा।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि शर्मा एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में ‘जनखदान’ कार्य को मुकम्मल रूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यह दूसरी बात है कि केन्द्र सरकार उस पर सकारात्मक हस्तक्षेप नहीं करती है।

‘पठार पर कोहरा’ राकेश कुमार सिंह का उपन्यास है, जो आदिवासी क्षेत्र में शिक्षा के नाम पर लूट, धांधली और भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने वाला उपन्यास है, जिसमें शिक्षक, ठेकेदार, शिक्षाधिकारी और सरकार सब मिलकर कैसे लूटते हैं, का परत दर परत संजीव संन्याल नामक एक कर्मठ ईमानदार, वामपंथी, विचारधारा से लैस शिक्षक भ्रष्टाचार को बेनकाब करते चलता है। संजीव पूरे उपन्यास में एक केन्द्रीय, आदर्श नायक है, जिसका हौसला बुलंद करते हुए उपन्यास का एक अन्य आदर्श पात्र राखाल बाबू कहते हैं- “अपने आदर्शों और सिद्धांतों के साथ समझौता मत करना। झुकना मत बच्चे। नौकरी ही करनी है तो क्या देश, क्या परदेश... ? न किसी से डरना, न पीछे हटना। जीवन आदर्शों के लिए जूझने में ही है बेटे-न पीछे भागने में, न घुटने टेकने में...”²

¹ धार - संजीव, पृ.सं. 144

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 55

शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का विरोध करने एवं शिक्षाधिकारी निरंजन दास को घूस लेते पकड़वाकर जेल भेजने पर अन्य भ्रष्ट अधिकारियों द्वारा संजीव का तबादला एक सुदूर जंगल के अंदर गजली-ठोरी गाँव में कर दिया जाता है, लेकिन संजीव इसे आदर्श कार्यकर्ता की भाँति सजा के रूप में न लेकर, चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं- “अब उन्हें अपना स्थानांतरण कोई सजा नहीं बल्कि एक चुनौती भरी जिम्मेदारी निभाने के प्राप्त अवसर की भाँति लगने लगा था।”¹

संजीव साहसी और निडर है। बेचू तिवारी के धमकी से विचलित नहीं होते हैं बल्कि धमकी भरे प्रश्न के जवाब में फिल्मी नायक की भाँति वे कहते हैं- “तो क्या चलेगा यहाँ?” ... “जंगलराज चलेगा? अंधेरगर्दी चलेगी? शोषण और स्वार्थ का कुचक्र... यही सब चलता रहेगा गजलीठोरी में, क्योंकि यही आपकी इच्छा है?”²

संजीव दिक्क होकर भी शिक्षक कम, आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका ज्यादा निभाते नजर आते हैं। चाहे वो जनगणना त्रुटि सुधार कार्य हो या कर्जमुक्ति का अभियान चलाकर गाँव में को-ऑपरेटिव सोसाइटी को सफल बनाते हैं। इतना ही नहीं, संजीव अपने प्राणों की परवाह किये बगैर सामंती तत्वों (महाजन, ठेकेदार, साहूकार) भूमिगत संगठन को खुली चुनौती देते हुए कहते हैं- “जंगल सेना की फौज लेकर चढ़ आये तो क्या मैं डर गया तुमसे? सुन लो साहू गगन-बिहारी, अब यहाँ टीन-छप्पर नहीं, पक्के सीमेंट का स्कूल बनाऊंगा। फिर भी न तुम्हें कोई ठेका, न किसी को कोई कमीशन ... और तुम भी सुन लो महाशय, यह कारतूस और रायफल किसी और को दिखाना। न तुम्हें कोई लेवी मिलेगी मुझसे न ही कोई सलामी ...।”³

संजीव सन्याल के आदर्श व्यक्तित्व के वैसे तो कई पक्ष हैं, लेकिन दो रूप हमेशा उपन्यास में छाये रहते हैं एक आदर्श शिक्षक, दूसरा आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता। इन्होंने जीवन में कभी भी किसी प्रतिकूल परिस्थितियों में किसी से, किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। इनका पूरा जीवन ही

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 59

² वही, पृ.सं. 144

³ वही, पृ.सं. 237

आदिवासियों के लिए समर्पित था। यह अलग विचारणीय बिन्दु है कि लेखक संजीव का एक भी दुर्बल पक्ष नहीं दिखाया है जो हमें विचार करने को विवश कर देता है।

सुदीप 'पाँव तले दूब' उपन्यास का एक प्रमुख पात्र है। वह पेशे में डोकरी नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन में इंजीनियर के पद पर रहते हुए, आदिवासियों में सामाजिक चेतना जगाने, झारखंड आंदोलन को आगे बढ़ाने तथा विस्थापितों को उचित न्याय दिलाने के अभियान में संलग्न रहता है। कालीचरण के चिमनी दुर्घटना के बाद सुदीप किसी तरह चीफ पर्सनल मैनेजर श्री उज्ज्वल राय से बातचीत करके कालीचरण के एक लड़के को सोच-समझकर उसके स्थान पर एडजेस्ट करा देता है- “गोपाल को मैंने रात की पाली की ड्यूटी दिलवा दी थी ताकि उसकी पढ़ाई जारी रह सके। शुरू-शुरू में मौका निकालकर मैं खुद पूछताछ कर लिया करता, पर बाद में यह क्रम लम्बा खिंचने लगा।”¹

सुदीप का व्यक्तित्व विद्यार्थी जीवन से आंदोलन धर्मी था, जिसके बारे में संजीव एक जगह लिखते हैं- “मामी के पैसों से तुमने खड़गपुर से बी.ई. किया, मगर पढ़ाई गौण दलितों की मुक्ति का आंदोलन पहले। दलितों की सूची में अब आदिवासी सबसे ऊपर आ गये थे। फिर डोकरी ताप विद्युत प्रतिष्ठान में नौकरी। वहाँ भी नौकरी गौण आंदोलन मुख्य।”²

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि सुदीप के भीतर सामाजिक कार्यकर्ता का बीजारोपण विद्यार्थी जीवन में ही हो चुका था। जिस प्रतिष्ठान में सुदीप सेवारत थे उसी प्रतिष्ठान के विरुद्ध आंदोलन कर रहे आदिवासियों का साथ देने पर, उस पर कई प्रकार के आक्षेप भी लगे थे “हूँह! गैर-आदिवासी होकर आदिवासी-समर्थक होने का ढोंग! बाप को जेल भेजकर बेटे से प्यार! एक तरफ सरकारी अफसरी, दूसरी तरफ झारखंड आंदोलन! न जनता इतनी बुद्धू है, न सरकार। इस बार पूँछ कसकर दबी है रंगे सियार की!”³

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 91

² वही, पृ.सं. 120-121

³ वही, पृ.सं. 100

सुदीप अपने ऊपर लगे आक्षेपों की उपेक्षा करते हुए, प्रतिगामी तत्वों से टकराते हुए आगे बढ़ता है। उसका और एक आदर्श पक्ष लेखक का है, जिसके संदर्भ में मनोज जी अपने लेख में एक जगह लिखते हैं- “सुदीप का सच कमोबेश हर आंदोलनधर्मी रचनाकार का सच है, जिससे वह ताउम्र जूझता एवं लहलुहान होता रहता है।”¹

सुदीप का आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता पक्ष मेझिया के माझी हड़ाम द्वारा लिखे पत्र से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है- “सिबोंगा किरिया, खुद आ के देख लीजिए। कारखाना से रिजैन दिए, हियां से तो नहीं! इस बार पूरे चाँदों, माने पूनमासी के दिन एक जलसा है। आ जाइए, विनती है, चिट्ठी देखते ही आइएगा तो हम लोग आपको एक अजगुत नजराना देंगे! चिट्ठी नहीं तार समझिए। नहीं आएँगे तो जलसा नहीं होगा, सिबोंगा आपको सुखी रखे।”² सुदीप मेझिया वालों के बीच कितने लोकप्रिय थे। उक्त चिट्ठी इसका प्रमाण है।

सुदीप के प्रयास से मेझिया गाँव में बिजली आयी, शुद्ध पानी की व्यवस्था करवाये, माझी हाड़ाम की बीमार बेटी (जानकी) का इलाज करवाये, ठीक होने के बाद उसकी बेटी सुदीप से अत्यधिक प्रभावित हुई, जिसके बारे में माझी हाड़ाम कहते हैं- “ऊ भी बताते हैं। पेड़ हमारी लड़की का लगावल है, मगर बोले थे बिजलिए साहब। खेती करने का तरीका तक बदलने को बोले थे। जब हमारा लड़की ठीक हो के आया तो उनके नाम का दीवाना बन गया था। बोला शादी नयँ करेंगे। बिजली साहब भी तो नहिये किए बियाह समाज के लिए, हम भी नयँ करेंगे? बोला उनको अचरज में डाल देंगे। लेकिन तब्बे जाने का झमेला हो गया कारखाना में। नौकरी छोड़ के चले गए। आज अगर आ जाएँगे तो अपना आँख से देख लेंगे। नहीं आएँगे तो गोपाला का पराश्रित कैसे होगा?”³

सुदीप आदिवासी हित के लिए प्रतिबद्ध रहने वाला आदर्श पात्र है। स्वयं दिक् (गैर आदिवासी) होकर दिक्ओं के विरुद्ध आदिवासियों (संतालों) में चेतना जगाने के लिए तत्पर रहते हुए आंदोलन का

¹ हंस - संपा. राजेन्द्र यादव, अंक 11, जून 1997, पृ.सं. 80

² पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 119

³ वही, पृ.सं. 126

नेतृत्व माझी हड्डाम के हाथ सौंपकर गायब हो जाते हैं क्योंकि वे इस सच्चाई को जानते हैं कि जब तक आंदोलन का नेतृत्व आदिवासी स्वयं नहीं करेगा आंदोलन सफल नहीं हो पायेगा। प्रसिद्ध स्त्रीवादी चिंतक रोहिणी अग्रवाल अपने एक लेख में उपन्यासों के आदर्श पात्रों के संबंध में लिखती हैं- “परिस्थितियों और पात्रों पर जितनी गहरी पकड़ प्रतिभा राय की है वह संजीव के पास नहीं। आदिवासी क्षेत्रों का विकास संजीव का सपना है तो प्रतिभा राय के लिए चुनौती। इसलिए संजीव (और राकेश कुमार सिंह भी) जहाँ गैर आदिवासी सभ्य, सुशिक्षित, आदर्शवादी नायक को समाज सुधारक की भूमिका में उतारकर संतुष्ट हो जाते हैं वहीं प्रतिभा राय इसे हाइपोथीसिस (प्राक् कल्पना) मानती हैं। इसीलिए उसकी पहली मुठभेड़ इसी समाज सुधारक की मंशा और नीयत से है। वे जटिलताओं के भीतर कथासूत्रों को विन्यस्त करते हुए इन समाज सुधारकों को ओढ़ाई गयी मसीहाई भंगिमा से मुक्त कर सामान्य व्यक्ति बनाती है एक भौतिक पहचान के साथ परिवार समाज की भौतिक व्यवस्था में उलझी जकड़ी सामान्य इकाई”¹

उक्त लेख का यह अंश आदर्शवादी नायक (सुदीप) के सुधारवादी कार्य चेतना को कल्पना के सिवाय कुछ नहीं मानता है। जो कुछ हद तक सटीक जान पड़ता है। लेकिन साहित्य में शुद्ध यथार्थ का अंश भी कितना होता है, यह एक अलग विचारणीय विषय है।

2.9.3 प्रेम

“प्रेम जीवन का शाश्वत और अपरिहार्य सत्य! प्रेम को अपनी-अपनी दृष्टि से पूरे विश्व-साहित्य में तरह-तरह से परिभाषित किया गया, प्रत्येक भाषा के साहित्य में, प्रत्येक साहित्यिक विद्या में। कविता प्रेम की ऐन्द्रियता को सघन और तरल बिम्बों में अभिव्यक्ति देने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है कि जब भी गद्य-विद्याओं-कहानी और उपन्यास में उसे अभिव्यक्ति मिली, उसका धरातल काव्यात्मक संवेदन का हो जाता है। स्वतः ही विषय के अनुरूप गद्य कवित्व में ढलता चला जाता है। प्रेम के दिव्य औदात्य

¹ आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य - संपा. मण्डल डॉ. उषा कीर्ति राणावत, डॉ. सतीश पाण्डेय, डॉ. शीतला प्रसाद दुबे, पृ.सं. 67

को प्रकट करते समय एक मखमली-सा रोमानी बोध कथा को भी काव्यात्मक संवेदन से स्पंदित कर देता है।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि प्रेम की अभिव्यक्ति साहित्य की विभिन्न विधाओं में होकर कैसे उसके महत्व को प्रस्थापित करने में सहायक सिद्ध होता है। उपन्यास का फलक अन्य विधाओं की अपेक्षा व्यापक होता है। स्त्री-पुरुष प्रेम प्रसंग उपन्यास में जब मुख्य कथा में उप कथा बनकर आता है तो यह कृति को रोचक एवं पठनीय बनाता है। आदिवासी उपन्यासों में प्रेम के विभिन्न स्वरूप कैसे और किन संदर्भों में आये हैं? इसकी पड़ताल करना हमारा प्रयास होगा।

2.9.4 अंतर्जातीय प्रेम

संतोष प्रीतम का उपन्यास ‘पलास के फूल’ में छोटानागपुर के अड़की प्रखण्ड के ‘मुण्डा’ आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। जहां एक ओर रीति-रिवाज, परंपरा, अंधविश्वास हैं वहीं दूसरी ओर नीरू उसका भाई लेंगा अंतर्जातीय प्रेम और विवाह को प्रोत्साहन देता है। यह सब शिक्षा के कारण ही संभव है। उपन्यास की पात्रा नीरू अपने प्रेमी से कहती है- “मैं बैकवर्ड और तुम फारवर्ड - और हम दोनों मिलकर एक ऐसे बच्चे को जन्म देंगे जो बैकवर्ड और फारवर्ड के बीच की खाई को हमेशा के लिए खत्म कर डालेगा। एक नई दुनिया का निर्माण करेगा। हम और तुम मिलकर नई सृष्टि करेंगे। हमारे बच्चे सदियों से चली आती हुई मानव-मन के अंदरूनी कलुष भाव को खत्म कर डालेंगे।”²

लेखक एक ऐसा आदर्श पेश करना चाहते हैं जिससे चुटकी में दुनिया की खाई पाटा जा सकता है। जो हास्यास्पद जान पड़ता है। हमारे यहां अंतर्जातीय प्रेम और विवाह कितने होते हैं बताने की आवश्यकता नहीं है। नीरू के पिता जब सरजू-नीरू के प्रेम संबंध का विरोध करता है तो नीरू का भाई यानी बांगाई का बेटा लेंगा अपने अंतर्जातीय प्रेम के संदर्भ में तर्क देकर कहता है- “बहकाने से किसी का मन नहीं बहकता है बाबूजी ... इधर देखिए ये है मेरी प्रेमिका वन्दना, जो मेरी होने वाली पत्नी भी है इसे

¹ नया ज्ञानोदय - संपा. रवीन्द्र कालिया, प्रेम महाविशेषांक 4, अंक 80, अक्टूबर 2009, पृ.सं. 67

² पलास के फूल - संतोष प्रीतम, पृ.सं. 6

मैं शहर से लाया हूँ। आपके विचार से तो इसके साथ भी संबंध बनाने का हमें कोई अधिकार नहीं होना चाहिए था?”¹

जिस प्रकार का अंतर्जातीय प्रेम और विवाह उपन्यास में लेखक ने दिखाया है वह यथार्थ से कोसों दूर प्रतीत होता है, शहर की एक गैर-आदिवासी लड़की गाँव के आदिवासी लड़के से प्रेम भले कर ले, शादी तो कल्पनातीत ही लगता है।

2.9.5 आदिवासी विजातीय प्रेम

हारिल मुरमू, जादिक मुरमू का बेटा है। वह बाघामुंडी में राजा गोमके राजेश्वर सिंह दयाल का बैठबेगारी करने वाला संताल युवक है और वह उराँव लड़की लाली जो पलाशखाँड के महतो मंगरा कुजूर की बेटा है, से प्रेम करता है- “लाली की बात निकालकर गंगवा ने मानो हारिल के भीतर सोये किसी तार को छेड़ दिया था। हारिल मुरमू को याद आने लगा लाली का चेहरा। लाली की प्रशान्त आँखों का कत्थाई रंग।”²

हारिल एक ऐसा प्रेमी है जिसके भीतर द्वंद्व हमेशा चलते रहता है, जिसे हर हाल में जीतना है उसे।

प्रेमी हारिल, लाली को पाने के लिए कठिन से कठिन साधना करता है, अपने धनुर्धर तीरंदाजी से हाथियादाह के चैती मेला में तीर खेलने की बाजी जीत लेता है। संयोगवश मंगरा कुजूर जो लाली का पिताजी है, अपने यहां भोजन के लिए निमंत्रित करता है हारिल को। उसके मन की मुराद पूरी हो जाती है। हारिल, लाली से इतना प्रेम करने लगा है कि वह अब उसके गाँव के घुमकुरिया भी जाने लगा है- “लाली की पहचान तय होते ही हारिल मुरमू ने झुककर लाली का हाथ पकड़ लिया। धीरे से खींचा ... उठने का संकेत। लाली ने मनोवांछित प्रतिक्रिया व्यक्त की।”³

हारिल, लाली से इस कदर प्रेम करता है कि वह लाली से मिलने के लिए घुमकुरिया भी आने लगा है जो प्रेम का चरमोत्कर्ष है।

¹ पलास के फूल - संतोष प्रीतम, पृ.सं. 27

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 48

³ वही, पृ.सं. 97

2.9.6 निःस्वार्थ प्रेम

आनन्द बाबू झारखंड के आदिवासी इलाके में इंजीनियर बनकर सड़क-पुल निर्माण के लिए आये हैं। ये न केवल आदिवासी श्रम का सम्मान करते हैं बल्कि इनका व्यवहार उनके प्रति मानवीय है। यही कारण है कि ये आदिवासियों के बीच, आदिवासी की तरह रहने लगते हैं और लोकप्रिय भी हो जाते हैं। इसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “देखते-देखते एक लंबा अर्सा गुजर गया था। सड़क का निर्माण लगभग पूरा हो चुका था। लौट जाने के ख्याल से ही मन कहीं बेहद उदास लगने लगता है। इस पहाड़ी अंचल में कितना प्यार है, आत्मीयता है, अपनापन है, स्नेह है। इन आदिवासियों से कितना गहरा रिश्ता हो गया है। परवती की याद आती है तो मन के परिंदे खुले-नीले आकाश में उन्मुक्त उड़ने लगते हैं।”¹

इस तरह का लगाव किसी को भी हो सकता है जो स्वाभाविक है।

अपने लेख में अनुज लुगुन लिखते हैं - “आनंद बाबू को एक आदिवासी युवती से भी प्रेम हो जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि आनन्द बाबू को अपना काम पूरा होने पर वापस लौटना होता है और सारा वातावरण गमगीन हो जाता है।”²

आनन्द बाबू जिस युवती से प्रेम करते हैं वह परवती उर्फ ‘पारो’ है। यही कारण है कि आनन्द बाबू अपने अंतर्मन में पनपे प्रेम को वापस लौटते समय परवती के समक्ष प्रस्ताव रखते हैं- “मेरे साथ चलोगी जीवन भर के लिए।”³ पारो जब गाँव छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती है तो आनंद बाबू झिड़की देते हुए कहते हैं- “जीवन भर के रिश्ते के लिए इस माटी से रिश्ता तोड़ नहीं सकती हो पारो। कहो तुम्हें मंजूर है तो।”⁴

आनन्द बाबू, पारो की रजामंदी के बगैर अपने साथ जबर्दस्ती लेना नहीं चाहते। यही आदिवासी समाज की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक विशेषता है।

¹ पलास के फूल - डॉ. पीटर पॉल एक्का, पृ.सं. 56

² अरावली उद्घोष - संपा. डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 99, अप्रैल 2013, पृ.सं. 42

³ पलास के फूल - डॉ. फा. पीटर पॉल एक्का, पृ.सं. 61

⁴ वही, पृ.सं. 61

पीटर पॉल एक्का के उपन्यासों में प्रेम का वर्णन व्यवहारिक, निःस्वार्थपूर्ण, भावनात्मक है और नायिका के शारीरिक उभार का रस लेते हुए वर्णन वैसा कहीं दिखाई नहीं देता है जैसा कि गैर-आदिवासी उपन्यासकारों के उपन्यास में अक्सर देखने को मिलता है। सादगी पूर्ण प्रेम वर्णन एक्का जी की महत्वपूर्ण विशेषता है जो उनकी स्त्री दृष्टि का परिचायक है।

2.9.7 आदर्श प्रेम

सुनील 'सोन पहाड़ी' उपन्यास का प्रमुख नायक है, जो इंजीनियर है। वह गाँव की बीना से प्रेम करता है। सुनील चाहता तो शहर की ज्यादा पढ़ी-लिखी धनवान लड़की से शादी कर ही सकता था, लेकिन ऐसा नहीं करता है। इसे समकालीन दौर से जोड़कर देखें तो यह कल्पित लगता है। ऐसा प्रेम का आदर्श मिसाल आदिवासी रचनाकार के उपन्यास में ही संभव है। सुनील घर वालों की राय जानने के लिए बीना की तस्वीर भेजता है- “कुछ दिन पहले खत के साथ उसने बीना का फोटो भी घर भेज दिया था। जवाब का वह बेकली में इंतजार कर रहा था। माँ, बाबा, शीलू को बीना पसंद आ जाए तो। भला बीना किसे पसंद नहीं आयेगी।”¹

छुट्टी मिलते ही सुनील बीना और उसकी माँ को अपने यहां लेकर जाता है “शांति सदन अच्छा खास बंगले की तरह था। बंगले के सामने छोटा सा लॉन, उधर फूलों का छोटा-सा बाग। वह सुन्दर सा छोटा अहाता पक्की दीवारों से घिरा था। फाटक के सामने सफेद पट्टियों में लिखा था- शांति सदन, दूसरे पल्ले में नाम की पट्टी थी- मि.एस. तिरकी।”²

तत्पश्चात सुनील के परिवार वालों को बीना पसंद आ जाती है और इस तरह से सुनील और बीना की शादी हो जाती है।

2.0.8 मिथकीय प्रेम

झारखंड के तमाड़ क्षेत्र में मुण्डा आदिवासी लोक स्मृतियों में जीवित नायक 'सन्दु' और उसके प्रेम पर केन्द्रित है मंगल सिंह मुण्डा का उपन्यास 'छैला सन्दु'। रणेन्द्र अपने एक लेख में लिखते हैं-

¹ सोन पहाड़ी - डॉ. फा पीटर पॉल एक्का, पृ.सं. 97

² वही, पृ.सं. 123

“छैला सन्दु का गाँव तमाड़ राजा विक्रम सिंह की रियासत में था। तमाड़ से 16 मील दूर अड़की गाँव में राजा विक्रम सिंह के सूबेदार हकीम सिंह की हवेली थी। बुन्दी, सूबेदार साहब की सबसे लाडली और खूबसूरत बेटी थी जो छैला सन्दु की मादक बाँसुरी की तान के सम्मोहन में डूब चुकी थी। उसे पूरी सृष्टि में बाँसुरी की धुन और सन्दु की साँवरी-सलोनी सूरत के अलावा न कुछ सुनाई पड़ता न कुछ दिखाई पड़ता। धीरे-धीरे दोनों ओर आग लग गयी।”¹

उस सामंती परिवेश में सूबेदार हकीम सिंह, सन्दु-बुन्दी के प्रेम को कैसे पचा सकते थे? बुन्दी भी सन्दु के बिना जीना व्यर्थ समझी और एक दिन निर्धारित समय और स्थान पर, सन्दु के किसी वजह से न पहुँचने पर आत्महत्या कर लेती है। ऐसा प्रतीत होता है, तत्पश्चात सारा दोष सन्दु के ऊपर मढ़ा जाता है। गुस्से में आग बबूला हुए हकीम सिंह फरमान जारी करते हुए अपने सैनिकों से कहते हैं- “जाओ, जहाँ भी वह मनचला युवक सन्दु मिले उसका सिर कलम कर मेरे कदमों में पेश करो। उसका परिवार उजाड़ दो। कुटिया को आग लगा दो। हरामजादे को फिर वही भूत सवार होने लगा है।”²

इतनी सारी घटनाएँ होने के पश्चात सुरजय जो सन्दु का पिता है, रातों-रात सपरिवार गाँव छोड़कर दूर प्रदेश निकल जाते हैं। लेखक ने उपन्यास को तीन उप शीर्षकों में विभाजित कर चित्रित करने का प्रयास किया है- बाल लीला, प्रेम लीला और मृत्यु लीला। जो सन्दु के व्यक्तित्व एवं प्रेम के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। तीनों आयाम (बाल लीला, प्रेम लीला और मृत्यु लीला) का विशिष्ट महत्व है जो समग्रता में सन्दु के संपूर्ण जीवन को अभिव्यक्त करते हैं। इसके तीनों आयाम उसके मूल भाव एवं संवेदना को अभिव्यंजित करते हैं।

¹ नया ज्ञानोदय - संपा. रवीन्द्र कालिया, प्रेम महाविशेषांक, अंक 81, नवम्बर 2009, पृ.सं. 85

² छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 123

तृतीय अध्याय

झारखंड के विभिन्न आंदोलनों का चित्रण

3.1 झारखंड आंदोलन के पुरखा अगुवा व जीवित महानुभव

यह आंदोलन प्रारंभ से आदिवासियों की भाषा, संस्कृति और अस्तित्व-अस्मिता बोध से ओत-प्रोत था। इसके संबंध में प्रथम अध्याय में बहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है, इसलिए इस आंदोलन के बारे में विस्तार से जाने के बजाय, आंदोलन में योगदान दिए महत्वपूर्ण व्यक्तियों के नामों का उल्लेख करना अनिवार्य है। झारखंड आंदोलन में झारखंडी जनता के साथ-साथ चार महत्वपूर्ण वर्गों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, स्थूल रूप में ये इस प्रकार हैं - ईसाई कार्यकर्ता, नेता, बौद्धिक विचारक, पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता। झारखंड आंदोलन बदलते परिवेश के अनुरूप परिवर्तित होते जाता है जो अंत अंत में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन का रूप धारण करता है।

कुछ ईसाई कार्यकर्ताओं ने आंदोलन को शुरूआती दौर में नेतृत्व प्रदान किया क्योंकि वे शिक्षित थे। ऐसे दो व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं जे. बार्थलोमन और जी.ई. एल. चर्च के पादरी रेव. जुएल लकड़ा। इन्होंने 'छोटानागपुर उन्नति समाज' के गठन में अमूल्य योगदान दिया। 'छोटानागपुर उन्नति समाज' के प्रमुख आदिवासी नेताओं के नाम हैं- थियोडोर सुरीन, बन्दी राम उराँव, पॉल दयाल, ठेबले उराँव, इग्नेस बेक, जोसेफ तोपनो, जयपाल सिंह मुण्डा आदि।

झारखंड आंदोलन के पुरोधा एवं नेता जयपाल सिंह मुण्डा, शिबू सोरेन, शैलेन्द्र महतो, टेकलाल महतो, सूरज मंडल, साइमन मरांडी आदि। झारखंड आंदोलन के बौद्धिक विचारक डॉ. रामदयाल मुण्डा, डॉ. वीर भारत तलवार, डॉ. अमर कुमार सिंह, डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, सीताराम शास्त्री, डॉ. निर्मल मिंज, डॉ. पशुपति प्रसाद महतो, संजय बसु मल्लिक और रोज केरकेट्टा आदि।

पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ताओं के संदर्भ में पूर्व सांसद, लेखक शैलेन्द्र महतो लिखते हैं- “झारखंड के संबंध में लिखने वाले पत्रकारों की संख्या बहुत कम थी। आंदोलन के इतिहास, प्रासंगिकता और न्याय संगतता को प्रचारित करने वालों में सर्वश्री एम.जे. अकबर, उत्तम सेन गुप्ता,

हेराल्ड एस.तोपनो, फैसल अनुराग, अनुज कुमार सिन्हा, प्रबल कुमार महतो, सुनील कुमार बनर्जी प्रमुख थे।¹

उपर्युक्त पत्रकारों के अनवरत और प्रतिबद्ध लेखन से झारखंड आंदोलन का महत्व, उसकी प्रासंगिकता को केन्द्रीय मुद्दा बनाकर सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किये। उक्त वर्णित नामों के अलावे भी कई नाम छूट गये हैं, जिन्होंने आंदोलन के लिए प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से काम किया है। हेमंत अपनी पुस्तक ‘झारखंड’ में झारखंड आंदोलन को सन् 1928 से लेकर 1999 तक बारह चरणों में विभाजित कर विश्लेषित करने का प्रयास किया है जो आंदोलन के स्वरूप, उतार-चढ़ाव, उपलब्धि और खामियों को उद्घाटित करता है।

3.2 झारखंड मुक्ति आंदोलन ‘समर शेष है’ के संदर्भ में

झारखंड मुक्ति आंदोलन कहते ही बहुत सारे सवाल, परिस्थितियाँ और काल विशेष का समाज एकाएक हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। स्वतंत्रता पूर्व या उसके पश्चात् झारखंड मुक्ति आंदोलन क्यों और किस कारण हुआ? कौन से कारक उसके जिम्मेदार थे? किससे मुक्ति और कैसी मुक्ति आदि।

1765 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल-बिहार की दीवानी प्राप्त हो जाती है और 1793 ई. में लार्ड कार्नवालिस द्वारा स्थायी बंदोबस्ती लागू करते ही जमींदारी प्रथा का प्रचलन प्रारंभ हो जाता है। खुटकट्टी-दार आदिवासियों को कर देने के लिए बाध्य किया जाता है और समय पर कर अदा नहीं करने पर न केवल उनकी जमीन जब्त कर ली जाती थी, बल्कि पारंपरिक शासन व्यवस्था (परगनैत, मानकी मुण्डा और पड़हा राजा) को भी बुरी तरह प्रभावित किया।

झारखंड दोहरा उपनिवेश का शिकार हुआ। एक विदेशी और दूसरा आंतरिक उपनिवेश का। अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी उनके द्वारा पोषित जमींदार, महाजन और साहूकार आदिवासियों का शोषण-उत्पीड़न करते रहे, जिसे विनोद कुमार का उपन्यास ‘समर शेष है’ में बखूबी चित्रित किया गया है। इस उपन्यास को ‘झारखंड मुक्ति आंदोलन’ का दस्तावेज कह सकते हैं। इसी उपन्यास को केन्द्र में रखकर आंदोलन संबंधी चर्चा की जाएगी। उपन्यास का एक पात्र, गाँव का बुजुर्ग (बाबा) शोषण के

¹ झारखंड की समरगाथा -शैलेन्द्र महतो, पृ.सं. 4

बदलते स्वरूप को देखकर सन् 1947 की कथित आजादी को चुनौती देते हुए कहता है- “हमारे लिए जैसे फिरंगी, वैसे ये लोग। किस आजादी की बात कर रहे तुम? मुझे तो कहीं कोई फर्क नजर नहीं आ रहा है, मैंने तो जब से होश संभाला है, अपने लोगों को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते देखा है। मरते और मारते देखा है।”¹

उपन्यास में सोबरन नामक पात्र प्रारंभ से ही महाजनी शोषण का विरोध करता है। वह गाँव का प्रतिष्ठित शिक्षक है। सभी लोग उनका सम्मान करते हैं। नन्दू साव और उसका बेटा विस्टू साव शोषक समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये आदिवासियों को धान व पैसा डेवढ़ा ब्याज में कर्ज देते हैं। यही उनकी जीविका का मुख्य आधार और शोषण का हथियार है। डोमन माँझी अपनी बेटी की शादी में अत्यधिक खर्च कर देता है। कुछ दिनों में घर में खाने के लाले पड़ जाते हैं। इस प्रकार कभी-कभी ये स्वयं कर्ज लेने की परिस्थितियाँ तैयार करते हैं। कर्ज देने के पूर्व विस्टू साव कहता है- “धान तो दूँगा, लेकिन धनकटनी के बाद डेवढ़ा वापस लूँगा। मंजूर हो तो ले जाओ।”²

नन्दू साव, आदिवासी चिंतक और कार्यकर्ता को अपना दुश्मन समझता है। वह साम-दाम-दंड-भेद की कूटनीति में माहिर है। बाहर से उदार किन्तु अन्दर से शातिर और कुटिल है। सोबरन से उसका बेटा विस्टू साव पहली बार पीटा जाता है तो वह प्रतिशोध की भावना से कहता है- “तेरा अपमान मेरा अपमान है विस्टू। थोड़ा धीरज रख। मामला ठंडा हो जाने दे। मौका देखकर इसे हम सबक सिखाएँगे। वहाँ मारेंगे जहाँ पानी भी नहीं मिले। अभी तो इससे दोस्ती गाँठ।”³

यहाँ सभी समस्याओं की जड़ कर्ज है, संताल लोग छोटे-छोटे कर्ज चाहे वो जरूरत की हो या अन्य चीजों के सेवन में आदी वश दिकुओं या महाजन से कर्ज लेते हैं, वही छोटा कर्ज चंद वर्षों में मोटी रकम में तब्दील हो जाती है, जिसे लौटाने में विलम्ब होने लगता है, जिसका लाभ उठाकर महाजन या साहूकार कुछ शर्तों में उनकी जमीन रेहन में रख लेता है। कर्ज तो महज बहाना भर है उसका असली

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 14

² वही, पृ.सं. 9

³ वही, पृ.सं. 19

उद्देश्य जमीन पर कब्जा करना है “डेढ़-दो वर्षों तक वह गाँव के ही एक परचून की दुकान से गुड़ाकू उधार लेता रहा। एक दिन साहूकार ने 3 रुपये कीमत के रूप एकमुश्त माँगे। रुपया नहीं दे सका तो खाते पर ठप्पा लगाना पड़ा। बाद में चार-पाँच वर्षों में वह तीन रुपया तीस रुपये में बदल गया ... तीन एकड़ जमीन रेहन रखनी पड़ी, इस शर्त के साथ कि सूद के साथ उधारी चुकता करने पर जमीन वापस मिल जाएगा।”¹

आदिवासियों की जमीन हड़पने के लिए साहूकार व महाजन किस प्रकार का हथकंडे अपनाते हैं, उक्त पंक्तियाँ उसका जीवंत उदाहरण हैं। हड़िया आदिवासियों का एक पौष्टिक पेय पदार्थ है, जिसका उपयोग पहान या पुजारी प्रत्येक संस्कार व अनुष्ठान संपन्न करने के पूर्व देवताओं को अर्पित करता है, तत्पश्चात वहाँ उपस्थित लोगों को दिया जाता है।

महुआ की शराब का प्रचलन आदिवासियों के बीच प्रारंभ से नहीं थी। इसलिए दिक्कों ने इसे शोषण-उत्पीड़न के हथियार के रूप में प्रयोग किया। जिसे सादरी (नागपुरी) भाषा के एक गीत से समझा जा सकता है- “तेली घरे तेल/सूरी घरे माद/घुमरी-घुमरी मादा पिए हाथा का बेरा बँधा करूँ सैइया हमार सैइया बड़ी मतवारा।”²

जिस प्रकार तेली जाति के यहां तेल मिलता है उसी प्रकार सूरी जाति के यहाँ माद यानी शराब। उसे पीने के लिए आदिवासी पुरुष (शराबी) अपने भूमि तक गिरवी रख देते हैं। अंधविश्वास और बुराईयों से मुक्ति व शोषक तत्वों का डटकर विरोध करने के लिए अपने समुदाय को चेतना संपन्न, संगठित और एकता के सूत्र में बांधना अनिवार्य होता है। इस संदर्भ में सोबरन का वक्तव्य उल्लेखनीय है- “हमारे लोगों की एकजुटता, उनकी राजनीतिक चेतना हमारी ताकत बनेगी। और विश्वास मानो, कानून हमारी मदद करेगा। लेकिन पहले अपने हक में लड़ने का हम हौसला तो अपने अंदर पैदा करें। आओ, हम-तुम मिलकर गाँव-गाँव घूमें। लोगों को समझाएँ, उन्हें संगठित करें। शराब की भट्टी कहीं खुलने नहीं दें। जहाँ चल रहा है, उसे संगठित होकर बंद करवाएँ।”³

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 22

² वही, पृ.सं. 26

³ वही, पृ.सं. 44

अशिक्षित होने की वजह से संतालों में अंधविश्वास कूट-कूट भरा हुआ है। जिसका बेजा फायदा उठाकर महाजन आदिवासियों के बीच में फूट पैदा ही नहीं करवाते हैं, बल्कि उन्हें उकसाकर एक-दूसरे की हत्या तक करवा देते हैं- “झुरमुट में छुपी दो मानव कृतियाँ बाहर निकलती हैं और पिशाचिनी पर टूट पड़ती हैं। वे उसका गला दबा रहे हैं। उसके बेहोश पड़े शरीर पर नाच रहे हैं। कुल्हाड़ी से उस पर वार कर रहे हैं। एक औरत की कारुणिक चीख और फिर सर्वत्र सन्नाटा।”¹

नन्दू साव संतालियों की शक्ति और प्रवृत्ति दोनों से परिचित है। सबसे पहले वह सालखन और कार्तिक को बहू (रूपा) के डायन होने का भ्रम पैदा कर हत्या करवाता है, तत्पश्चात दोनों को जेल होती है, जमानत करवाता है और अंत में फिर जेल में डलवा कर दोनों की जमीन हड़प लेता है। नन्दू साव पुत्र को डांटते हुए कहता है- “तेरी समझ में कभी कुछ नहीं आएगा। सोबरन को हम पर शक है, वह गाँव वालों को हमारे खिलाफ भड़काएगा। इसलिए गाँव वालों को भरोसा देने के लिए हमें उन दोनों की जमानत करवानी होगी। इसके अलावा बलराम माँझी की जमीन पर भी तो कब्जा करना है। कौन गिरवी रखेगा उसे हमारे पास? ... कर्ज लेगा तभी तो जमीन तेरे पास रहेन रखेगा। जेल में सड़ते रहेंगे वे दोनों तो उनकी पाँच एकड़ जमीन तुम्हारी कैसे होगी? उन दोनों को तो अंत में फाँसी होनी ही है।”²

महाजनी संस्कृति के विरोधी, उनके खिलाफ आदिवासियों को संगठित करने वाला आदिवासी कार्यकर्ता, गुरूजी (सोबरन) की हत्या, नन्दू साव सुनियोजित तरीके से बीरबल और सरदार घटवार के हाथों करवा देता है और पैसे के बल पर अपने ऊपर लगे केस को कमजोर करवा देता है। दरोगा और नन्दू साव के वार्तालाप से ये चीजें स्पष्ट होंगी- “गंभीर मामला है सावजी। नौकरी पर आफत हो जाएगी। 20 हजार रुपये खर्च करने पड़ेंगे। 20 हजार तो घर-बार बेचकर भी हम नहीं जुटा पाएँगे दरोगाजी।”³

हमेशा की तरह मोल-तोल कर नन्दू साव 5 हजार में दरोगा को तैयार कर लेता है। पिता की हत्या हो जाने के बाद शिबू सोरेन बड़ा होकर मुक्ति आंदोलन को आगे बढ़ाता है। शिबू सोरेन की पहली

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 47

² वही, पृ.सं. 55

³ वही, पृ.सं. 99

मुलाकात वामपंथी विचारधारा से प्रभावित कार्यकर्ता, अजीत सरकार से मूरी स्टेशन में होती है। उनसे वे प्रभावित होकर कहते हैं- “बाबा, अजीत दा कहते हैं, बोकारो में बड़ा स्टील कारखाना लगने वाला है। ये खेत, जंगल सब खत्म हो जाएंगे। फिर होगा निर्णायक वर्ग-संघर्ष और आएगी साम्यवादी व्यवस्था जहाँ सब बराबर होंगे। कोई बड़ा कोई छोटा न होगा। कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा।”¹

कुर्मी समुदाय के लोग भी आदिवासियों सरीखे शोषित-उत्पीड़ित और विस्थापित हुए हैं, जिनके बीच से विनोद बिहारी महतो, निर्मल महतो और शैलेन्द्र महतो जैसे बड़े जन नेता पैदा हुए। कुर्मी समुदायों के विस्थापन का साक्षात् उदाहरण धनबाद शहर है- “आज जिस स्थान पर धनबाद-झरिया आदि शहर खड़ा है, कभी उस इलाके में सदानों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। आमडीह, चिड़ोडीह, पुरूलिया, सियार, गुदड़ी, लालपुर, फुटहा, कालीटाड़ आदि मुख्य शहर धनबाद में धोबाटाड़, मटकुड़िवा मानीईटाड़, भिस्ती-पाड़ा आदि कुर्मियों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थी और साथ ही जमीन पर उनके हरे-भरे खेत। आज जहाँ रे-टाकिज है कुर्मियों की एक बड़ी बस्ती थी।”²

चमकता धनबाद शहर के निर्मित में कुर्मियों के विस्थापित होने के इतिहास में एक काला अध्याय छिपा हुआ है, जिसे लेखक ने शोध करके सबके (पाठकों) समक्ष रख दिया है।

झारखंड मुक्ति मोर्चा के संस्थापक-अध्यक्ष एवं कुशल वकील विनोद बिहारी महतो और सिन्दरी खाद कारखाना के अभियंता, मार्क्सवादी कार्यकर्ता ए.के. राय आदिवासी गाँवों में घूम-घूमकर चेतना एवं शिक्षा का दीप जलाने के लिए युवकों में उत्साह का संचार, ‘साथी’ संस्था के माध्यम से करते हैं- “हमारा उद्देश्य रात्रि पाठशाला चलाना मात्र नहीं। इसी बहाने लोगों को जोड़ना, उनके साथ बैठना-बतियाना है। खेती में वैज्ञानिक रूझान कैसे पैदा हो ? अपने स्तर पर सिंचाई की सुविधा बढ़ाने के लिए हम क्या कर सकते हैं ? इसके अलावा कई तरह की सामाजिक समस्याएँ हैं। छोटी उम्र में विवाह करने की परम्परा।

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 115

² वही, पृ.सं. 119

शराबखोरी वगैरह....वगैरह। तुम अपने गाँव के कुछ युवकों को उन गाँवों में ले चलो, जहाँ हमारी संस्था पहले से काम कर रही है।”¹

आदिवासियों पर हो रहे शोषण एवं अत्याचार के खिलाफ शिबू सोरेन लोगों में चेतना एवं एकजुटता उत्पन्न करने के लिए ओजस्वी स्वर में कहता है- “मैं सोबरन का बेटा शिबू सौगंध लेता हूँ कि जब तक महाजनी शोषण का अंत नहीं हो जाता तब तक यह लड़ाई जारी रहेगी। लेकिन तुम भी समझ लो कि इस तरह सिर्फ मीटिंग करने से कुछ नहीं होगा। अपने तीर पत्थर पर घिसकर चमका लो ... कुल्हाड़ी की धार को हर वक्त तेज रखो और जो कोई तुम्हारी औरत को बुरी नजर से देखे उसकी बोटी-बोटी काट डालो ... जो तुम्हारे जमीन पर पैर धरने की कोशिश करे उसके पैर काट लो।”²

शिबू जैना मोड़ में ‘आदिवासी सुधार समिति’ गठन कर, अन्य युवा कार्यकर्ताओं के साथ शिबू के नेतृत्व में महाजनों के चंगुल से आदिवासियों की जमीन मुक्त कराने का अभियान शुरू करते हैं। दूसरी तरफ विनोद बिहारी महतो ‘शिवाजी समाज’ की स्थापना 1965 ई. में करते हैं। इतना ही नहीं मजदूरों का कामगार यूनियन भी बनाते हैं। बाद में दोनों (बिहारी और शिबू) मिलकर कार्य करने लगते हैं। जिससे उनका कार्य क्षेत्र सीमित न होकर व्यापक रूप लेता है। लोगों में अपने अधिकार भावना एवं चेतना का विकास होता है जिससे लोग एकजुट होकर सभी लड़ाई मजबूती से लड़ते हैं। वकील विनोद बिहारी महतो और शिबू सोरेन दोनों मिलकर विस्थापितों को उनके पुनर्वास का उचित मुआवजा दिलाते हैं- “एक दुबला-पतला वृद्ध व्यक्ति कमरे के भीतर गया। एल.आर.डी.सी. ने पचपन हजार रुपये की गड्डी उसके तरफ बढ़ा दी। विनोद बाबू ने सरसरी निगाहों से नोट गिने। अपना कमीशन पचपन सौ रुपये अलग कर सारी गड्डी कार्तिक महतो की तरफ बढ़ा दी और बोले पचपन हजार तुम्हारा मुआवजा हुआ। पचपन सौ रुपये मेरी फीस। शेष रकम सँभाल कर रखो और सीधे अपने गाँव लौट जाओ।”³

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 196

² वही, पृ.सं. 208

³ वही, पृ.सं. 266

झारखंड मुक्ति आंदोलन के उतार-चढ़ाव, उसमें निहित अंतर्विरोध, पार्टी का बिखराव, फिर नये पार्टी का निर्माण से अंततः आपसी फूट एवं उनकी सीमाएँ परिलक्षित होती हैं- “आदिवासी नेताओं में अलग झारखंड राज्य के लिए हमेशा से ललक रही है। जयपाल सिंह ने इस मांग को उठाया। उसके बाद कार्मित उराँव और एन.ई. होरो इस मांग को उठाते रहे हैं। दरअसल उनके अचेतन में अलग राष्ट्रीयता की बात रहती है लेकिन भारतीय संविधान के दायरे में वे अलग राष्ट्र की मांग नहीं कर सकते, इसलिए अलग राज्य की मांग करते हैं। उनकी दूसरी त्रासदी यह कि वे कांग्रेस की छत्रछाया में रहकर इस मांग को उठाते हैं। यह उनकी वर्गीय मजबूरी है। वे झारखंड जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते, झारखंड क्षेत्र के एलीट क्लास का प्रतिनिधित्व है।”¹

आदिवासी असंतोष और मुक्ति आंदोलन के पीछे छिपे राज को एक ईमानदार अनुमंडलाधिकारी, मंत्री जी को बताते हैं- “सर, कानूनन आदिवासियों की जमीन कोई गैर-आदिवासी नहीं खरीद सकता। लेकिन उस इलाके के ग्रामीण क्षेत्रों की अधिकांश जमीन महाजनों के कब्जे में है। कानून, कोर्ट-कचहरी का मिथ्य भय दिखाकर उन लोगों ने आदिवासियों की जमीन पर कब्जा कर रखा है और उन्हीं आदिवासियों से उन पर बेगार करवाते हैं। जिसकी वह जमीन है। उसी महाजनी शोषण के खिलाफ उस इलाके में तीव्र आंदोलन पिछले कुछ वर्षों से चल रहा है और उस आंदोलन को यदि हम लोग ताकत के बल पर कुचलने की कोशिश करेंगे तो स्थिति और भी विस्फोटक हो जाएगी।”²

जिस क्षेत्र में शिबू सोरेन अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में सुधार कार्य कर, शोषक तत्वों का पुरजोर विरोध कर रहे थे, के संदर्भ में वीर भारत तलवार एक जगह लिखते हैं- “धनबाद के टुंडी और गिरिडीह के पीटटाँड अंचल में उन्होंने अपना नया समाज बनाने का आंदोलन चलाया है। यह आंदोलन उन्होंने झारखंड मुक्ति मोर्चा के नेतृत्व में चलाया है। यहाँ पर अपनी आत्मनिर्भरता के लिए सभी कार्य चल रहे हैं। अपने समाज के ठीक ढंग से संचालन के लिए सामूहिक खेती, सामूहिक पशु-पालन और गाँव-गाँव में रात्रि पाठशालाएँ चल रही हैं। नशाबंदी की गयी है। आधुनिक तरीके के नये ग्राम का निर्माण

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 294

² वही, पृ.सं. 343

भी किया जा रहा है। आपसी झंझट-झमेला या किसी भी तरह के झगड़े के निपटारे के लिए अतु-बैसी, विचार-बैसी और चतान-बैसी बनाये गये हैं। यह भी एक ऐतिहासिक बात है, यह आदिवासियों की प्राचीन परम्परा की ही विशेषता है।”¹

झारखंड आदिवासी क्रांतिकारियों की भूमि रहा है, लेकिन तथाकथित मुख्यधारा के इतिहासकारों ने इनके अमूल्य योगदान को रेखांकित करने के बजाय, सिरे से खारिज कर दिया, जो अत्यंत ही चिंतनीय मुद्दा है। भारतवर्ष में अंग्रेजों का सबसे पहले और सर्वाधिक प्रबल विरोध करने वाला कौम आदिवासी ही था। स्वतंत्रता प्रेमी आदिवासी के जीवन में जब-जब अंग्रेजों का हस्तक्षेप हुआ तब-तब इन्होंने हरसंभव विरोध किया। झारखंड की प्रमुख पाँच आदिवासियों ने अपना-अपना आंदोलन किया है जो निम्नांकित हैं - संताल ‘हूल’ (आंदोलन) 1855-56, ‘हो’ विद्रोह 1820-21, टाना भगत आंदोलन 1914, तेलंगा खड़िया का विद्रोह, बिरसा मुण्डा का ‘उलगुलान’ 1895-1900

प्रत्येक आदिवासी आंदोलन का एक विशेष सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक महत्व है। प्रत्येक विद्रोह के केन्द्र में अंग्रेजों द्वारा इनके जीवन में हस्तक्षेप, जमींदार, महाजन और सामंतों द्वारा इनका शोषण-उत्पीड़न तथा अवैध तरीके से इनके खुटकट्टी जमीन पर कब्जा करना और कर देने के लिए इन्हें बाध्य करना विद्रोह के मुख्य कारण थे।

3.2.1 पहाड़िया आंदोलन

देशी राजाओं और सामंतों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तौर पर अंग्रेजों को अपनी जड़ें जमाने और मजबूत करने का भरपूर अवसर प्रदान किया। कर न देने का सर्वप्रथम विरोध पहाड़िया आदिवासियों ने किया। इस संदर्भ में सुनील मिंज का लेख उल्लेखनीय है- “ऐसे ही समय में 1765 ई. में पहाड़िया सरदारों ने मुगल बादशाह शाह आलम द्वारा अंग्रेजों को दीवानी दिये जाने का प्रबल विरोध किया था। रमना आहड़ी नामक वीर पहाड़िया सरदार के नेतृत्व में जून 1766 में मालंचा पहाड़ की तराई में अंग्रेजों और मुगलों से घमासान युद्ध हुआ था। तीरंदाजी में माहिर पहाड़िया सेना ने अपने तीरों और भालों से मुगलों और अंग्रेजी सेना के छक्के छुड़ा दिये। लेकिन रमना आहड़ी इस युद्ध में घायल हो गये और पकड़ लिये

¹ झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 314-315

गये। पहाड़िया सेना में दहशत फैलाने के उद्देश्य से उनकी हत्या कर दी गयी।”¹ पहाड़िया विद्रोह को केन्द्रित कर राकेश कुमार सिंह का नया उपन्यास ‘हूल पहाड़िया’ पिछले वर्ष काफी सुर्खियों में रहा। पहाड़िया विद्रोह से संबंधित सामग्री की जो अनुपलब्धता थी, उसे हूल पहाड़िया उपन्यास, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ में कई पहलुओं को समझने में मददगार साबित होगा।

पहाड़िया समाज में ‘मांझी’ पद जितना सम्मानजनक है वहीं उसकी जिम्मेदारी भी चुनौतियों से भरी पड़ी है। यह पद लोकतांत्रिक जान पड़ता है। लोकतांत्रिक इस अर्थ में कि शारीरिक असक्षम मांझी के पुत्र यदि पात्रता परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होने पर गाँव का कोई व्यक्ति भी इस पद की दायित्व अपनी पात्रानुसार कर सकता है- “मांझी के बेटों के परीक्षा में विफल होने पर गाँव का मांझी गाँव के किसी अन्य पुरुष का नाम भी प्रस्तावित कर सकता था। प्रस्तावित व्यक्ति अपनी पात्रता सिद्ध कर मांझी का बेटा न होने के बावजूद गाँव का मांझी बन सकता था। कर वसूली, न्यायिक निर्णय तथा प्रशासनिक कार्य-व्यापार का दायित्व संभाल सकता था।”²

तिलका के बचपन का नाम जबरा था। जबरा से तिलका मांझी और बाबा तिलका होने की कहानी बहुत लम्बी है। सुगना ने बेटे जबरा की बाल सुलभ जिज्ञासा को शांत करने के लिए इतिहास की सच्चाई को बताता है- “हम पहाड़िया लोग ही इधर के राजा थे बाबू। तेलियागढ़ी ही नहीं, कई किलों के मालिक थे हम पहाड़िया। कई राज के राजा थे पहाड़िया।”³

जबरा सर्वप्रथम अपने साथियों के साथ कम्पनी के सिपाहियों पर उस समय अचानक आक्रमण कर देते हैं जब वे तेलियागढ़ी के दर्रे से गुजर रहे थे। इस संदर्भ में सुनील मिंज ने अपने लेख में लिखा है कि - “तिलका मांझी मारगों दर्रे, तेलियागढ़ी दर्रे और कहलदगाँव में गंगा नदी के किनारे अंग्रेजों का खजाना लूटकर बिना किसी भेदभाव के गरीबों के बीच बांट दिया करते थे। शोषण और उत्पीड़न की शिकार गरीब जनता तिलका मांझी को मुक्ति दिलाने वाला मानने लगी और उनके पास दल के दल

¹ अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 9

² हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 12

³ वही, पृ.सं. 23

आदिवासी जुटने लगे।”¹ जबरा बुजुर्गों द्वारा दिये गये तीन कठिन शर्तों को पूरा करते ही वांछित पद पा लेता है और उसका नाम बदलते चला जाता है- “और फिर एक पहाड़िया। युवक मांझी की उपाधि का अधिकारी बन गया। जबरा पहाड़िया से जबरा मांझी। यही था तिलका मांझी।”²

पहाड़िया राजमहल के कभी राजा हुआ करते थे ऐसा कहा जाता है। जीवन के विषम से विषम परिस्थितियों में भी इन्होंने अंग्रेजों की गुलामी कभी स्वीकार नहीं की- “पहाड़िया लोगों ने कंपनी की हड़प नीति का विरोध किया था। कंपनी द्वारा लादी गई कर-व्यवस्था को अमान्य कर दिया था, लगभग पाँच हजार वर्षों से राजमहल की पहाड़ियों के राजा थे पहाड़िया, जिन्हें अपने ऊपर कोई स्वामी स्वीकार नहीं था।”³ अंग्रेजों ने भारतवर्ष में ‘फूट डालो और राज करो’ की नीति को सर्वत्र लागू किया अंग्रेज यहाँ के राजाओं और जमींदारों में अंतर्कलह और आपसी टकराव का पूरा-पूरा लाभ उठाया था। उसी प्रकार दुर्गम जंगलों और पहाड़ों तक पहुँचकर लूटने का कोई कसर नहीं छोड़ी- “जंगल तराई को दक्षिणी-पश्चिमी सीमांत का नया नाम देकर कैप्टन ब्रूक ने जंगलतराई में देशी व्यापारियों, मित्र, जमींदारों और सूदखोर महाजनों का बसाना प्रारंभ किया था। यह जंगलतराई में आदिवासियों को अल्पसंख्यक बनाने की कूटनीति थी। यह आदिवासियों और गैर-आदिवासी मूल वासियों के बीच कंपनी के दलालों-बिचौलियों को स्थापित करने की रणनीति थी।”⁴

कंपनी की सेना पहाड़िया लोगों से युद्ध में बार-बार पराजित होने लगती है, क्योंकि कंपनी के सैनिकों को जंगल और पर्वत का अनुभव नहीं था, दूसरी ओर पहाड़िया जंगल-पर्वत के चप्पा-चप्पा से परिचित थे। कंपनी के सेनाधिकारी और प्रशासनिक अधिकारी बार-बार युद्ध की रणनीति बदलने के बावजूद विफल होते जाते हैं। जिससे तंग होकर साम-दाम-दंड-भेद की कूटनीति अपनाते हैं जिससे पहाड़िया आदिवासी अनभिज्ञ थे- “नहीं जानता था जबरा पहाड़िया, नहीं जानते थे अन्य पहाड़िया मांझी सरदार कि यह उपहार चूहेदानी में लटकाए गए रोटी के टुकड़े थे और अब सीधे-सरल पहाड़िया लोगों

¹ अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 10

² हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 83

³ वही, पृ.सं. 101

⁴ वही, पृ.सं. 132

का सामना कंपनी की बंदूक से नहीं वरन कैप्टन ब्राउन की कूटनीतिक चालों से होने वाला था। लाल मुर्गी और सफेद बकरा।”¹

अंग्रेजों ने इन्हें अपने काबू (वश) में करने के लिए परोपकारी नीति अपनाई जिसे पहाड़िया सरदार नहीं भांप सके। सुनील मिंज के अनुसार “1781-82 में महेशपुर राजा की रानी सर्वेश्वरी ने कंपनी शासन के विरुद्ध बगावत शुरू की थी। इस बगावत में पहाड़िया सरदारों ने अंग्रेजों के खिलाफ रानी की बढ़-चढ़कर मदद की थी।”² वहीं दूसरी ओर ‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास में रानी सर्वेश्वरी कंपनी की शक्ति एवं आतंक से आतंकित होकर, जबरा पहाड़िया को कंपनी के विरुद्ध कदम न उठाकर, समझौता कर लेने की हिदायत देती हुई कहती है- “आखिर तूने मेरी बात नहीं मानी तिलका! कैसे मानता आयो? हम ठहरे पहाड़ के लोग। कंपनी हमसे रार ठानती तो हम पहाड़ पर लड़ते, लेकिन कंपनी पहाड़िया लोगों का एका तोड़े, जंगल में कंपनी अपना थाना खोले, तुम्हारी जमीन पर कंपनी का घोड़ा दौड़े, कंपनी तुमसे रार ठाने तो हमारा खून तो खौलेगा न आयो?”³ उक्त अध्ययन से रानी सर्वेश्वरी का दोहरा व्यक्तित्व तो नजर आता ही है साथ ही उनमें एक अंतर्विरोध भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कंपनी सेना, पहाड़ियों से लड़ते-लड़ते इसलिए परेशान हो गई कि लड़ने का उनका प्रत्येक नया प्रयोजन हमेशा विफल हो जाता था। इसलिए अब नया कलक्टर आगस्टस क्लीवलैंड पहाड़ियों से मित्रता का नाटक करके, उनके सारे लड़ने के तौर-तरीकों को जानने का प्रयास करता है। यहाँ तक उन्हें संदेह न हो उनके धूर्तता पूर्ण चालाकी का, इसलिए माझियों और सरदार को दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भेंट करता है- “अब जगन्नाथ देव जैसे जमींदार बिचौलिए या मध्यस्थ की कोई आवश्यकता नहीं थी। अब सीधे राजमहल के कलक्टर की ओर से माँझियों-सरदारों तक भेंट-उपहार भिजवाए जाने लगे थे। चावल, मकई, कपड़े, बकरियाँ, मुर्गियाँ ... दक्षिण क्षेत्र के पहाड़ियाँ चौक उठे थे। कंपनी के प्रति असहयोगी पहाड़ियों को कंपनी बहादुर का नजराना ... ।”⁴

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 141

² अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 9

³ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 164

⁴ वही, पृ.सं. 177

आगस्टस क्लीवलैंड का संबंध अब पहाड़ियों से सामान्य से असामान्य प्रतीत होता है। क्लीवलैंड अब उनके सुख-दुःख, पर्व-त्यौहार यहाँ तक शिकार खेलने में भी शरीक होने लगा है। यह सब सिर्फ और सिर्फ उनके भेद जानकर उन्हें अपने वश में करने का गुर सीख रहा है- “अपने शिकार को अपने आँखों से तनिक भी ओझल नहीं होने दे सकता था क्लीवलैंड! उसने जबरा के साथ रहने की इच्छा जताई थी। साथ में चाँदो, बीरन पीरथा और त्रिभुवन को रखा था। भोले पहाड़िया लोगों को इसमें कोई चालाकी नहीं दिखी थी।”¹

क्लीव-लैंड अपने बनावटी, विनम्र व्यवहार से पहाड़िया लोगों का दिल जीत लेता है। भोले-भाले ईमानदार पहाड़िया इसकी कूटनीति एवं षड्यंत्र से भरी कार्य-योजना को समझ नहीं पाते हैं। प्रारंभिक उद्देश्य में क्लीवलैंड को बहुत हद तक सफलता प्राप्त होती है- “हिलरेंजर्स के गठन में क्लीवलैंड को आशातीत सफलता मिली थी। इतने पहाड़िया युवक आ जुटे थे कि ‘प्रति गाँव दो युवक’ की चयन प्रक्रिया बदलनी पड़ गयी थी। अब पहाड़िया युवकों को शारीरिक क्षमता परीक्षण के बाद अंधाधुंध भर्ती करने लगा था क्लीवलैंड।”² क्लीवलैंड द्वारा गठित हिलरेंजर्स का लाभ सिर्फ कंपनी को रामगढ़ की चुटुपालु घाटियों में डाकुओं का सफाया करने में काम आया, उसके बाद क्लीवलैंड का सारा भेद जबरा पहाड़िया को जानने में देर नहीं लगी - “फागुन की सूचना सही थी। क्लीवलैंड ने सुलतानाबाद की जमींदारी हड़प ली थी। रानी सर्वेश्वरी को पदच्युत कर नजरबंद कर दिया था।”³

इतना सब सुनने के बाद जबरा को हालात समझने में देर नहीं लगी। अब उसे चिलमिली (क्लीवलैंड) साहब की एक-एक बात रह-रह कर दिल में कौंधने लगी - “चिलमिली बोलता था, जो कंपनी का बैरी, सो पहाड़िया का भी बैरी। हमने मान ली बात। अब जाना कि चिलमिली के पेट में दांत है। हमारी हितू आयो रानी का राज-पाट इसी चिलमिली ने छीन लिया रे।”⁴

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 193

² वही, पृ.सं. 209

³ वही, पृ.सं. 227

⁴ वही, पृ.सं. 229

जबरा पहाड़िया बागी हो गया है, यह खबर कैप्टेन फोम्बेल भागलपुर पहुँचते ही क्लीवलैंड को देता है, भागलपुर में सभी अधिकारियों के होश उड़ जाते हैं। इसके बाद हुक्म पाते ही तहसीलदार बनवारी सिंह घटवाल पचास देसी सिपाहियों के साथ जबरा की खोज में पीपरा गाँव पहुँच कर पहाड़िया स्त्री, पुरुष, बच्चे जो मिलते हैं सबको बेरहमी से पीटते हुए जबरा के बारे में पूछते हैं और प्रत्येक गाँव के घरों को जलाते हुए आगे निकलते हैं- “बनवारी ने बंदूक के कुंदे से मांझी की छाती पर हुरा मारा था। बूढ़ी देह थी, अचेत होकर गिर पड़ा था मांझी कोदई पहाड़िया। बनवारी ने मांझी की देह पर लात मारी थी।”¹

बनवारी जिन पहाड़ियों को बांधकर ले जा रहा था, उन्हें जबरा और उनके साथियों ने छुड़ा लिया, यह सुन क्लीवलैंड फिर एक बार बौखला उठा और इस बार तीन अंग्रेज बंदूक धारियों के साथ 30 पहाड़िया धनुर्धरों को फिर एक बार उपहार सहित पहाड़िया मांझियों को समझाने के लिए रवाना किया। इधर हिलरेंजर्स के अन्य पहाड़िया सिपाहियों को ये बात मालूम थी कि जबरा पहाड़िया बागी हो चुका है। ये भी मौके की तलाश में थे अतः उपयुक्त स्थान पर पहुँचते ही खूँखार हो गये- “धनुर्धरों ने अपने साथ चलते तीन बंदूकधारियों पर हमला कर दिया था। दो बंदूकधारी पहाड़िया सैनिकों की पकड़ में थे, जबकि एक अंग्रेज सैनिक बंदूक समेत भाग निकला था।”²

इसके बाद फिलिप और व्हीलर के नेतृत्व में दो बार अलग-अलग आक्रमण किये, किन्तु इस बार भी पिछले बार की भाँति पराजय की मुँह ही देखनी पड़ी। अंग्रेजों ने तरह-तरह की रणनीति तैयार कर अनेक युद्ध किये, किन्तु पहाड़ियों को जंगल के अंदर कभी नहीं हरा सके, यह अंग्रेजी आक्रमण के इतिहास पर काला धब्बा था। इस तरह का अंतिम प्रयास भागलपुर-राजमहल का कलक्टर स्वयं अपने नेतृत्व में अंतिम बार पहाड़ियों पर आक्रमण करता है। किन्तु वह भी पुराना इतिहास ही दुहराकर लौट जाता है- “पराजय और अपमान के कड़वे घूंट घोंटता भगोड़ा क्लीवलैंड सोच रहा था, क्या लिखेगा? अपनी दैनंदिनी पत्रिका में? यही कि भागलपुर-राजमहल का कलक्टर आगस्ट्स क्लीवलैंड, जो पूरी तैयारी के साथ तिलका मांझी का दमन करने निकला था, जंगलियों के रण-कौशल के आगे नकारा

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 236

² वही, पृ.सं. 244

साबित हुआ था? अनपढ़-जाहिल पहाड़िया युद्ध में भारी पड़े थे? असभ्य वनचरों के झांसे में आकर, अधिकतम क्षति उठाकर कलक्टर अपने घायल सैनिकों के विद्रोहियों की दया पर छोड़कर युद्धस्थल से पराजित हो भाग खड़ा हुआ था। कंपनी की शक्ति के मुंह पर कालिख पुत चुकी थी।”¹

ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों एवं सेना के अधिकारियों द्वारा अपनाये गये तमाम प्रयोगों के बावजूद अंग्रेज सिपाही राजमहल के पहाड़ियों में हमेशा हार कर ही लौटते हैं, तत्पश्चात पराजय के कारण और पहाड़ियों के विजयी होने के कारणों की पड़ताल की गई, जिससे दो बातें उभरकर सामने आई- विद्रोह तो पहाड़िया आदिवासी ही करते थे किन्तु इन्हें राशन और हथियार गैर-आदिवासी उपलब्ध कराते थे जो अंग्रेजों के खिलाफ थे। परिस्थिति को देखते हुए कौंसिल ने खुली लड़ाई की नीति बंद कर नया तरीका इजाद किया जो इस प्रकार है- “जनरल आयर कूट के नेतृत्व में राजमहल के पहाड़ों की चारों ओर नाकाबंदी कर दी जाए। चाहे जितना समय लगे, कंपनी की सैनिक टुकड़ियां पहाड़ों को घेरकर बैठी रहें। यह संपूर्ण नाकाबंदी अंततः विद्रोहियों को तोड़ डालेगी। पहाड़िया विद्रोहियों में फूट पड़ जाएगी या भूखों मर जाएंगे पहाड़िया बागी या बिना रक्तपात के पहाड़िया विद्रोही हथियार डाल देंगे या फिर वे मैदानों में उतरकर निर्णायक युद्ध हेतु विवश होंगे, जहां कंपनी की सेना भारी पड़ेगी।”²

लगातार विद्रोह करते रहने के कारण पहाड़िया खेती नहीं कर पाते थे। नाकेबंदी के बाद इनका बाहरी क्षेत्र से संपर्क कट गया, अब ये दाने-दाने के लिए मोहताज हो गए। विद्रोह के समय जबरा के अनेक साथी मारे गये थे। अब एक नयी समस्या जिसके बिना इंसान का जीवित रहना मुश्किल है। इन बीमारियों का जड़ क्लीवलैंड है। तिलका मांझी ने इस संदर्भ में कहा था- “चिलमिली को मारना होगा। कंपनी ने हमारे गाँव जला दिए। कुजरा को मार दिया। फागुन को मारा। कितने पहाड़ियों को मारा। आयो रानी का राज लूटा। हमसे लड़ने आई भुरंगी पलटन को हमारे हाथों मरवाया! कसाई है चिलमिली। उसे मारना होगा।”³

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 289

² वही, पृ.सं. 298

³ वही, पृ.सं. 299

तिलका प्रण लेने के बाद, हमेशा शिकारी की टोह में लगे रहता है, आखिर इंतजार की वो घड़ी एक दिन आ गई- “हाथ से वल्गा छूट चुकी थी। छड़ी भी! छाती पर धंसे तीर को मुट्ठी में भींचें क्लीवलैंड मिट्टी की गीली-सीली दीवार की भाँति टेढ़ा होता गया था।”¹

आगस्टस क्लीवलैंड की हत्या तिलका मांझी के तीर से हुई, इस तथ्य को छिपाने के लिए क्लीवलैंड के दोनों अंगरक्षकों- रमना आहड़ी और अजमल खां की हत्या सज्जवाल अब्दुल रसूल खान द्वारा करवा दी जाती है, ताकि एक पहाड़िया द्वारा कलक्टर की हत्या का काला धब्बा कंपनी पर कभी न लगे। नाकेबंदी के बाद पहाड़ियों के पास सिवाय खुले क्षेत्र में लड़ने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं रहा- “नीचे कंपनी की सैन्य टुकड़ियों के तंबू तने थे। छोलदारियाँ थीं। तंबू छोलदारियाँ पर कूदने लगे थे पहाड़िया लड़ाके। अचानक हुए इस आक्रमण से भौंचक्के सैनिक! पहली झोंक में हुलमाहों ने अनेक सैनिकों को काटा डाला था और रक्त से नहाए फरसों-गड़ासों-भालों के साथ उत्साह में चीख रहे थे- हुल, हुल, हुल!”²

खुले क्षेत्र में पहाड़ियों की हार सुनिश्चित थी। पहाड़िया विद्रोह के महत्व को रेखांकित करते हुए सुनील मिंज ने एक लेख में लिखा है कि- “पहाड़िया लोगों के अपने स्वशासी व्यवस्था के प्रति अटूट लगाव को देखते हुए 1833 में ‘दामिन-ई-कोह’ नामक अलग राज्य की घोषणा अंग्रेजों ने कर दी। अंग्रेजी पराधीनता के खिलाफ पहाड़िया लोगों ने 15 सालों तक संघर्ष किया। वे 1780 तक लड़ते रहे।”³ अंग्रेजों ने पहाड़िया विद्रोह को अपने दस्तावेजों में तोड़-मरोड़ कर नामरहित विकृत रूप में दर्ज किया है- “क्लीवलैंड ने यही किया था। कंपनी की सैन्य टुकड़ियों के साथ पहाड़िया विद्रोहियों की मुठभेड़ों का उल्लेख तो किया गया था, परंतु किसी नाम विशेष के उल्लेख से कतरा गया था क्लीवलैंड। जंगल तराई में कंपनी के विरुद्ध पहाड़िया विद्रोही खड़े थे। कोई नाम नहीं, बस विद्रोह। डकैत पहाड़िया! अनाम बदमाश पहाड़िया! लुटेरे पहाड़िया।”⁴

¹ हुल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 302

² वही, पृ.सं. 313

³ अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 9

⁴ हुल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 293

आज पहाड़िया आदिवासी मिटने के कगार पर हैं। ऐसे विषम परिस्थिति में उनका सही मूल्यांकन कर उनके लिए सरकार द्वारा कल्याण योजनाएँ गंभीरता से लागू की जाने की सख्त जरूरत है। बाबा तिलका मांझी के शहादत के बारे में सुनील मिंज ने अपने लेख में लिखा है- “तिलका की सेना रात में जश्न मना रही थी कि अंग्रेज सेनापति और पहाड़िया सेनापति ने धावा बोल दिया। तिलका तो बच निकले लेकिन उनके बहुत सारे साथी पकड़ लिये गये। बाद में उन्होंने सुल्तानगंज की पहाड़ियों पर शरण लेकर छापामारी युद्ध शुरू किया। अंत में धोखे से वे पकड़ लिये गये। उन्हें चार घोड़ों में बांधकर भागलपुर में घसीटा गया। फिर भी उनकी जान नहीं गयी तो उन्हें बरगद के पेड़ पर लटका दिया गया। ताकि आदिवासी विद्रोहियों की हिम्मत टूटे। इस तरह बाबा तिलका मांझी ने अपनी शहादत दी।”¹

अंग्रेजों ने आदिवासी विद्रोही नायकों को प्राण दंड देने के लिए चाहे जैसे भी हथकंडे अपनाये, लेकिन विद्रोह कभी थमा नहीं इतिहास इसका गवाह है। प्रसिद्ध आलोचक और आदिवासियों की अच्छी समझ रखने वाला लेखक, वीर भारत तलवार झारखंडी जनता के विद्रोह को कथित इतिहासकारों से हटकर देखते हैं- “अठारहवीं-19वीं सदी में झारखंड में जो विद्रोह हुए, इतिहासकार उन सबको एक ही श्रेणी में डाल देते हैं, लेकिन असल में झारखंड में हमेशा दो तरह के विद्रोह हुए। एक तरह के विद्रोह वे थे, जो यहाँ के राजा-महाराजाओं और जमींदारों के नेतृत्व में हुए। दूसरी तरह के विद्रोह वे थे जो मेहनतकश जनता के नेतृत्व में हुए। राजा-महाराजाओं और जमींदारों के नेतृत्व में जो विद्रोह हुए, उनका उद्देश्य था अपनी गद्दी और राज्य को अंग्रेजों के हाथ जाने से बचाना। मेदिनीपुर का चोहाड़ विद्रोह या घाटशिला के राजा गंगा नारायण सिंह का भूमिज-विद्रोह या पलामू का चैरो-विद्रोह, ये सब ऐसे ही विद्रोह थे जो इन राजा-महाराजाओं ने अपनी किसान-प्रजा की ताकत के बल पर अंग्रेजों को रोकने के लिए किये थे। लेकिन ये राजा-महाराजा और जमींदार अंग्रेजी राज को खत्म नहीं कर सके और यह वर्ग बाद में अंग्रेजों से टुकड़े पाकर उनका दलाल बन गया। लेकिन संथाल हूल या बिरसा आंदोलन मेहनतकश जनता की अपनी लड़ाई थी जो अंग्रेजी राज को उखाड़ने के साथ-साथ हर तरह के सामाजिक-आर्थिक शोषक को

¹ अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 10

भी खत्म करने के वास्ते हुई थी। इसका नेतृत्व किसी राजा-महाराजा ने नहीं, बल्कि गरीब और भूमिहीन किसानों ने किया था।¹ उक्त मूल्यांकन में आदिवासी आंदोलनों को मापने का सटीक व संतुलित दृष्टि समाहित है।

3.2.2 संताल आंदोलन (हूल) 1855-56

विद्रोह की भूमि तैयार होने के पीछे कई आर्थिक और सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार होती हैं। इस भूमि को हरा-भरा करने में अंग्रेजों द्वारा पोषित जमींदार, महाजन और प्रशासनिक व्यवस्था, पुलिस एवं बिचौलियों की बड़ी भूमिका थी। ये सब अंग्रेजों की दया से फल-फूल रहे थे, दूसरी ओर संताल उन सबके शोषण एवं दमनकारी कर से परेशान होकर कई बार अंग्रेज अधिकारियों को पत्र तक लिखे, लेकिन पत्र से कोई लाभ नहीं मिला। शिकायत करते हुए कैथी लिपि में पत्र इस प्रकार है- “सिदो के पत्र में अंग्रेज पदाधिकारियों की उपेक्षा नीति, पुलिस के अत्याचार और आदिवासी महिलाओं के साथ सरकारी अमले के दुर्व्यवहार के आरोप लगाये गये थे। सिद्धो ने पत्र के द्वारा कंपनी सरकार से गुहार लगायी थी कि सरकार स्थानीय स्तर पर हस्तक्षेप कर आदिवासियों को बिचौलियों के शोषण और महाजनों के साहूकारी पाश से मुक्त कराने के अभियान चलाए, वनवासी को अपने खेतों में मनचाही फसल उगाने का अधिकार मिले।”²

इस शिकायती पत्र से संतालों के न केवल उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता का पता चलता है, बल्कि उनके शिक्षित होने का प्रमाण भी मिलता है। संताल विद्रोह का क्षेत्र दामिन-ए-कोह (जैसे अरण्य क्षेत्र जहाँ संतालों की बहुलता थी भागलपुर से राजमहल के बीच) के क्षेत्र में बसे महाजनों, साहूकारों और हकीमों ने, जो वर्षों से संतालों का आर्थिक शोषण, अत्याचार-दमन कर और उनके खेतों को छल कपट से हथिया लिया था, उनके विरुद्ध शुरूआती आंदोलन था। संताल समाज में ‘मांझी’ पद बहुत सम्मानजनक और जिम्मेदारी से पूर्ण है। जो प्राचीन काल से आज तक चला आ रहा है। विभिन्न प्रकार की समस्याओं और चुनौतियों का समाधान एवं निर्णय लेना मांझी हड़ाम (बूढ़ा) का काम होता

¹ झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 299-300

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 130

था। रमेश हेम्ब्रम ने अपने लेख में लिखा है- “इसी बीच आमड़ापाड़ा के निकट पाडेर कोला गाँव में बोलोराम टुडू के घर शाम टुडू का जन्म हो गया था। संताल परगना की सबसे पुरानी बोनागड़िया संताल प्रेम द्वारा प्रकाशित ‘हापड़ाम कुआक पुथी’ के अनुसार शाम टुडू अपने पिता की मृत्यु के बाद काफी उम्र में मांझी बन गये। पुस्तक के अनुसार वे काफी समझदार व सुलझे हुए व्यक्ति थे। इसके साथ वे बहुत मृदुभाषी और विनोदी स्वभाव के भी थे। लेकिन वे गलत बातों का काफी कड़ाई से विरोध करते थे जो कि ग्रामीण विरोध में उनके फैसलों से झलकता था।”¹

रमेश हेम्ब्रम ने शाम टुडू को 1855 के संताल विद्रोह का सूत्रधार माना है क्योंकि यही एक ऐसा मांझी था जिसने पीड़ित, शोषित और परेशान संताली समुदाय को बैठक करके लोगों को एकजुट करके विरोधी (शोषक) वर्ग के प्रति लड़ने का, आत्मविश्वास जगाया। एक महत्वपूर्ण बैठक जिसमें कई मांझी शामिल थे जिसमें बरहेट के निकट स्थित भोगनाडीह गाँव के चुनू मुर्मू के चार युवा पुत्र सिद्धो (30 वर्ष), कान्हू (27 वर्ष), चांद (24 वर्ष) और भैरव (20 वर्ष) भी शामिल थे। उस ऐतिहासिक बैठक में शाम परगना ने अपने सम्बोधन में जो कहा, उल्लेखनीय है- “हम अपनी महिलाओं और बच्चों व समाज को जान से ज्यादा प्यार करते हैं। उन्हीं के लिए हम इस धरती पर मेहनत करते हैं और पसीने से उगायी गयी फसल खाते हैं। हम किसी को सताना या परेशान करना नहीं जानते, लेकिन किसी की गुलामी नहीं सहन करेंगे, हमें मृत्यु या पराजय का भय नहीं है। यदि कोई हमसे जबरन लड़ना चाहे तो हम लड़ेंगे। हम जानते हैं कि धरती पर युद्ध मनुष्य की बर्बादी लाता है, लेकिन सच्चाई के लिए लड़ने के बजाय मुंह मोड़ लेना और बुरी बात है।”²

शाम टुडू का भाषण सुनकर चारों सहोदर भाइयों ने कुछ कर गुजरने, शोषकों को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। महान, वीर योद्धाओं में किसी-न-किसी प्रकार का दैवीय गुण, चमत्कार अवश्य देखने को मिलता है चाहे वो बिरसा मुंडा हों या सिद्धू कान्हू। विद्रोह के प्रारंभिक दौर को समझने के लिए प्रसिद्ध इतिहासकार के.के. दत्त का लेख उल्लेखनीय है- “1854 के प्रारंभ में एक दिन लछिमपुर में ससान के

¹ संताल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - संपा. हरिवंश फैसल अनुराग, पृ.सं. 81-82

² वही, पृ.सं. 82-83

परगनैत वीर सिंह ने घोषणा की कि उनके प्रधान ईश्वर चांदों बोंगा ने उनके सामने प्रकट होकर उन्हें कुछ जादुई मंत्रों से दीक्षित किया है, जिन मंत्रों द्वारा वह जिसके भी धन को लूटना चाहे उसे गहरी नींद में सुला दे सकता है।”¹

इस प्रकार दैवीय शक्ति से युक्त बताकर परगनैत वीर सिंह ने अनेक अनुयायियों को जुटाकर एक ताकतवर समूह बनाया, जिसका उद्देश्य वैसे शोषक, धनकुबेर, महाजन, साहूकारों और जमींदारों को लूटना था जिन्होंने संतालों को लूटा था। इस तरह की गतिविधियों को जानते ही महाजन और बिचौलियों ने दारोगा को इस बात को बढ़ा-चढ़ाकर बता दिया, फिर क्या था दारोगा बिना किसी अपराध के मांझी और परगनैत लोगों को परेशान करने लगा, जिससे संताल विद्रोह का प्रस्फुटन होता है। विद्रोह की जमीन तो पहले से तैयार थी आवश्यकता सिर्फ चिंगारी लगाने की थी। प्रसिद्ध इतिहासकार के.के. दत्त अपने लेख में एक जगह लिखते हैं- “डकैतियों एवं अन्य उपद्रवों को दबाने के लिए महेश लाल दारोगा ने जो कदम उठाये उससे संतालों का असंतोष काफी तीव्र हो उठा। 1855 की शुरुआत में वीरभूम, बाकुड़ा, छोटानागपुर और हजारीबाग से 6 या 7 हजार लोग आये, जिनके आने का उद्देश्य (अफवाह फैलायी गयी) था पिछले साल की डकैतियों के सिलसिले में उनके साथियों को दिये गये दंड का बदला लेना।”²

आंदोलन का स्वरूप धीरे-धीरे विकराल होता गया। अंग्रेजों से न्याय की उम्मीद खत्म होते ही संताली लोग सीधी कार्रवाई पर उतर गये। आंदोलन का नेतृत्व सिद्धू-कान्हू-चांद-भैरव नामक सहोदर संताली भाइयों ने किया था। हजारों की संख्या में संताली पारंपरिक हथियारों से लैश होकर महाजनों और जमींदारों के खजानों को लूटते, मार-काट करते हुए आगे बढ़ रहे थे। यही नहीं महाजनों के घर को जला भी रहे थे। यह खबर दारोगा से लेकर कमिश्नरों और बंगाल सरकार तक पहुंच गई, क्योंकि आंदोलन का रूख राजमहल से भागलपुर की ओर था, इसलिए अंग्रेज अधिकारियों का परेशान और चिंतित होना स्वाभाविक था।

¹ संताल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - संपा. हरिवंश फैसल अनुराग, पृ.सं. 23

² वही, पृ.सं. 24

आंदोलन के शुरूआती उग्र और वीभत्सकारी रूप को रेखांकित करते हुए के.के. दत्त ने लिखा है- “संतालों ने उनमें से पांच - मानिक चौधरी, गोराचन्द सेन, सार्थक रक्षित, निमाई दत्ता और हीरू दत्ता को मार डाला। दिधी थाना का दारोगा महेश लाल दत्ता अपने दल के साथ 7 जुलाई 1855 को उस जगह पहुँचा। लेकिन शीघ्र ही सिद्धो ने उसकी एवं अन्य लोगों (कुल 19 व्यक्ति) की हत्या कर दी, जिनमें एक महाजन, दो बरकंदाज और कुछ चौकीदार शामिल थे।”¹ उक्त हत्या आदिवासियों के अत्यधिक आक्रोश व असंतोष का परिणाम था।

3.2.2.1 संताल आंदोलन का स्वरूप व क्षेत्र

प्रायः आदिवासी आंदोलन को समुदाय विशेष (जाति) से जोड़कर देखा गया, ऐसा रवैया आंदोलन को कमतर कर आंकने या उसे समुदाय विशेष से जोड़कर संकुचित रूप में देखना, आदिवासी समुदाय को जोड़ने की अपेक्षा तोड़ने के सदृश्य होगा, जो अंग्रेज करते आये थे, हम (भारतीय) भी प्रकारांतर से वही करते नजर आते हैं। यही कारण है कि आदिवासी विद्रोह को समुदाय विशेष से जोड़कर उनके सामूहिक संघर्ष और बलिदान को सीमित कर देखने जैसा प्रतीत होता है। नायक के साथ विद्रोह का नाम जुड़ना तो उचित और सटीक मालूम पड़ता है।

संताल हूल या विद्रोह में संताल के साथ-साथ वैसे आदिवासी और गैर-आदिवासी भी अप्रत्यक्ष रूप से शामिल थे या सहयोगी रहे जिससे युद्ध को आगे बढ़ाया जा सकता था और फिरंगियों और शोषकों का खात्मा किया जा सकता था ऐसे उपेक्षितों के योगदान को राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास में स्थान प्रदान किया है “सिद्धो एक संताल था परन्तु सिद्धो की सेना में भरती होते लोग मात्र संताल नहीं थे। सिद्धो की हाँक पर लोहे पर धार देने वालों में कोल, पहाड़िया, मुण्डा, उराँव, खड़िया भी थे। चमार, भुईया, दुसाध, ग्वाले, बढई, तेली, जुलाहे, कुम्हार और नाई लोग भी सिद्धो की सेना में जा रहे थे।”²

¹ संताल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - संपा. हरिवंश फैसल अनुराग, पृ.सं. 26

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 140

अर्थात् वैसे गैर-आदिवासी जो आदिवासी न होकर भी आदिवासी जैसा शोषित, उत्पीड़ित और दमित लोग भी संताल विद्रोह में शामिल थे, जिसे आज आधुनिक युग में दलित और अन्य पिछड़ी जातियाँ कहा जाता है या माना जाता है।

इस संदर्भ में विश्व प्रसिद्ध मानव विज्ञानी डॉ. कुमार सुरेश सिंह, जिन्होंने आदिवासियों पर सटीक और प्रमाणिक तौर पर लिखा, उनके विचारों को यहाँ रखना आवश्यक होगा- “हुलगुनों ने हूल का एलान कर झारखंडी अस्मिता, स्वायत्तता और अवधारणा का सृजन किया। जीवन, विकास और समाज के विशिष्ट मानक गढ़े। इस आंदोलन में सिर्फ संताल ही सक्रिय नहीं थे, उनके साथ डोम, नाई, ढांगर, कोल ग्वाल, भुइया और रजवार भी शामिल थे। यह ठीक है कि हूल संताल चेतना का विगुल था, संतालों ने इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था, लेकिन इस क्रांति को सिर्फ संतालों की क्रांति बताना गलत होगा, क्योंकि इसमें न सिर्फ कई समुदाय के लोग शामिल थे, बल्कि इससे सामाजिक चेतना भी जगी।”¹

संताल परगना के पहाड़ी और पहाड़ की तराई वाले भू-भाग को ‘दामिन-ए-कोह’ नाम दिया गया। यह नाम भागलपुर के पहले कलक्टर क्लीवलैंड द्वारा दिया गया और ऐसा माना जाता है। प्रभाकर तिकी अपने लेख में दामिन-ए-कोह के सीमा क्षेत्र को इस प्रकार रेखांकित किया है - “भागलपुर मुर्शिदाबाद और बीरभूम के बीच राजमहल, दुमका, गोड्डा पाकुड़ के हिस्से को मिलाकर 1366 वर्ग, कि.मी. में फैले क्षेत्र की सीमा रेखा को (1824-1833) दामिन-ए-कोह के रूप में चिह्नित किया गया। प्रारंभ में यह क्षेत्र पहाड़िया लोगों के लिए आरक्षित था।”²

आंदोलन का मुख्य क्षेत्र दामिन-ए-कोह ही था क्योंकि ज्यादातर संताल उसी क्षेत्र में आकर बसने लगे थे। राजस्व प्राप्ति के संबंध में प्रभाकर तिकी ने आगे लिखा है- “राजस्व प्राप्ति के दृष्टिकोण से अंग्रेजों ने कटक, थालभूम, मानभूम, छोटानागपुर, हजारीबाग, पलामू, मेदिनीपुर, बांकुड़ा से संतालों को दामिन-ई-कोह में आकर जंगलों को साफ कर जमीन बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। संताल बड़ी संख्या में आकर दामिन-ई-कोह में बस गये। उन्होंने जंगल काटकर खेती लायक बनाया। 1838 में पहली बार

¹ संताल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - संपा. हरिवंश फैसल अनुराग, पृ.सं. 130

² वही, पृ.सं. 227

संतालों द्वारा तैयार की गयी जमीन पर सालाना 2000 रुपये का लगान निर्धारित किया गया। तब गांवों की कुल संख्या मात्र 40 थी।¹ जैसे-जैसे संतालों की जनसंख्या बढ़ते गयी, लगान भी बढ़ते गया। संथाल 'हूल' के संदर्भ में केदार प्रसाद मीणा ने लिखा है - "संथाल 'हूल' संथाल आदिवासियों की राजनीतिक चेतना व साहस के दम पर खड़ा हुआ एक व्यापक जन विद्रोह था। यह गरीब जनता का अपने शोषकों की सही-सही पहचान कर लेने के बाद उनके खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष करने का भारतीय इतिहास का पहला बड़ा उदाहरण है।"²

संथाल 'हूल' आदिवासियों द्वारा प्रारंभ किया गया अब तक का सबसे बड़ा और प्रथम संगठित आंदोलन था। यह लड़ाई तकरीबन दो महीने तक चली, जिसमें लगभग पच्चीस हजार संथाल शहीद हुए। इसी का परिणाम है कि 'संथाल परगना काश्तकारी अधिनियम' 1949 लागू किया गया।

3.3 बिरसा मुण्डा का 'उलगुलान' (आंदोलन)

बिरसा मुण्डा उन्नीसवीं सदी के अंत में जिन सांस्कृतिक-सामाजिक संक्रमणों और साम्राज्यवादी-आर्थिक नीतियाँ जिसे फिंरंगियों ने बनायी थी उसे पहचान लिया था, वह बेहद महत्वपूर्ण बिन्दु था। ऐसा नहीं है कि उससे पहले आदिवासी आंदोलन नहीं हुआ, हुआ जरूर था लेकिन प्रत्येक विद्रोह के स्वरूप और प्रवृत्ति में मूलभूत अंतर दृष्टिगोचर होता है। बिरसा मुण्डा बचपन में कुछ वर्ष चाईबासा के मिशनरीज स्कूल में अध्ययन किया था। वहीं से उसके भीतर विद्रोही स्वर और प्रतिरोध की प्रवृत्ति धीरे-धीरे पनपने लगी थी, वह पैतृक गाँव के वस्तुस्थिति को देखकर पूर्ण रूप से विकसित हो गई। बिरसा मुण्डा अब दुश्मनों को चिह्नित करने लगा था।

उनका असली दुश्मन अंग्रेज थे एवं उनके द्वारा पोषित सामंत और जमींदार भी, जो अंग्रेजों की चापलूसी करते तथा उनके टुकड़ों से खुश थे। इसके साथ-ही-साथ अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। जिसके चक्की में मुण्डा समुदाय पिसता चला जाता है।

¹ संथाल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - संपा. हरिवंश फैसल अनुराग, पृ.सं. 227-228

² दलित अस्मिता - विमल थोरात, अंक 14,15, जनवरी-जुलाई 2014, पृ.सं. 37

बिरसा मुण्डा के बारे में आज तक हम वही जानते हैं, जो कुछ प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा लिखा गया या अंग्रेजों द्वारा उनके वास्तविक पक्ष को ओझल करके दिखाया गया है। आज भी यदि हम उसके वास्तविक जीवन पक्ष को देखना चाहेंगे तो उस क्षेत्र के मुण्डा लोक-मानस में जीवित लोक-कथा और लोकगीतों को बारीकी से अध्ययन कर समझना होगा, उसका विश्लेषण करना होगा, न कि पूर्व की पुस्तकों, गजेटियरों में निर्धारित तथ्यों को हू-ब-हू मान लेना चाहिए। पूर्व रचित पुस्तकें पूरी तरह गलत हैं, ऐसी हमारी धारणा कतई नहीं है, किन्तु कुछ नया पाने-दिखाने के लिए जनमानस की उपेक्षा कर हम कुछ नहीं पा सकते हैं।

बिरसा के उलगुलान से झारखंड का प्रत्येक आदमी परिचित है। जल, जंगल, जमीन और संस्कृति की रक्षा हेतु जिस आंदोलन को बिरसा मुण्डा ने प्रारंभ किया था वह प्रायः पूरे मुण्डा इलाके में जंगल की आग की तरह फैल गई। 1908 ई. में 'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' बना जिसका श्रेय निश्चित रूप से बिरसा के उलगुलान को जाता है। इस अधिनियम के तहत पहली बार ऐसा भूमि कानून बना जिसमें कोई गैर-आदिवासी, आदिवासी की जमीन कलेक्टर के विशेष अनुमति के बिना नहीं खरीद सकता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि इतिहासकारों में उसके जन्म तिथि और स्थान को लेकर अब तक मतभेद विवाद है। अधिकांश लोग 15 नवम्बर 1875 ई. को बिरसा की जन्म तिथि एवं स्थान उलिहातु को मानते हैं। जबकि कुछ इतिहासकार 22 जुलाई 1872 ई. को चलकद नामक स्थान को मानते हैं। नवनिर्मित झारखंड राज्य की स्थापना दिवस 15 नवम्बर को बिरसा के जन्म तिथि के सुअवसर पर प्रत्येक वर्ष सत्ता पर होने वाले और उसके इर्द-गिर्द मंडराने वाले मनाते हैं, बाकी अधिकांश जनता के लिए उसका कुछ मतलब नहीं है। इसके पीछे कारण साफ है क्योंकि जिनके लिए अलग भूखण्ड या राज्य बना, आज वे उससे कोसों दूर हैं। बिरसा मुण्डा का जीवन-काल बहुत लम्बा नहीं रहा। उनके व्यक्तित्व में आये आधारभूत बदलाव को जानने के लिए उसके विद्यार्थी जीवन के समय की पड़ताल किये बिना उसे समझना मुश्किल होगा।

रूपक की मानें तो बिरसा की प्रारंभिक शिक्षा सलमा के एक स्कूल में हुई। आगे उनकी शिक्षा के संदर्भ में रूपक ने लिखा है- “1886 ई. में उच्च प्राथमिक शिक्षा के लिए बिरसा के पिता ने उसका नामांकन चाईबासा स्थित मिशन स्कूल में करवा दिया था। बिरसा वहाँ 1886 ई. से 1890 ई. तक रहा। यह समय बिरसा के व्यक्तित्व के निर्माण का था। इसी अवधि के दौरान बिरसा के मन में जमींदारों और सरकार के विरुद्ध विद्रोही भावनाएँ पनपने लगी थी।”¹

मिशन स्कूल में पढ़ते वक्त बिरसा ने अंग्रेजों की धार्मिक एवं आदिवासी विरोधी नीतियों को समझने लगा था। अंग्रेजों के झूठे वायदे (विशेषकर भूमि और वन नीति) बिरसा मुण्डा को उग्र और क्रांतिकारी बनाया। ऐसा माना जाता है कि बिरसा का प्रारंभिक कदम सुधारवादी था। उनका व्यक्तित्व आध्यात्मिक से विद्रोही या क्रांतिकारी रूप लेता है। 1895 ई. से 1900 ई. के बीच बिरसा अपनी क्रांतिकारी विधियों को कार्यरूप देता है। और यह घोषणा करता है कि मुण्डा लगान नहीं देगा। उसके प्रमुख विरोधी या दुश्मन जमींदार, पुलिस, पादरी और अंग्रेज थे। बिरसा मुण्डा लोगों में आत्मविश्वास और क्रांतिकारी भावना जगाने के लिए स्वयं के संदर्भ में कहा था “अगर वह गिरफ्तार किया गया, तो उसका शरीर लकड़ी के कुंदे में बदल जाएगा। वह तीन दिनों के भीतर ही चलकद आ जाएगा और उसकी जगह जेल में लकड़ी का कुंदा मिलेगा।”²

अंग्रेज और पुलिस अधिकारी जब बिरसा मुण्डा को नहीं पकड़ सके तो उनके ऊपर 500 रुपये का इनाम जारी किया गया। रूपक के अनुसार मानामारू जरीकेल गाँव के सात आदमी इनाम के लोभ में 3 फरवरी 1900 ई. उस समय बिरसा मुण्डा को पकड़कर अंग्रेजों को सौंप दिये, जब वह जंगल में सो रहा था।

बिरसा मुण्डा की लोकप्रियता और क्रांतिकारी भावना से डरकर ब्रिटिश सरकार उन्हें जेल में खाने के साथ जहर देकर षड्यंत्रकारी ढंग से मार दिया और हैजे से मरने की अफवाह फैला दी गई। यह घटना 9 जून 1900 ई. की है।

¹ हूल - गुलानों के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 64

² वही, पृ.सं. 66

3.3.1 गया मुण्डा

गया मुण्डा का व्यक्तित्व एवं योगदान, मुख्यधारा के इतिहास में कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। इसके संबंध में तथ्य भी नहीं के बराबर हैं। गया मुण्डा एक ऐसा व्यक्ति या योद्धा का नाम है जिसने बिरसा मुण्डा द्वारा शुरू किया गया उलगुलान (विद्रोह) को आगे बढ़ाया था। लोक स्मृतियों में गया मुण्डा को बिरसा मुण्डा का बायां हाथ माना गया है। रूपक ने अपनी पुस्तक में उसके संबंध में लिखा है- “गया मुण्डा बिरसा का संदेश गांव वालों तक पहुंचाता था और ग्रामीणों की बात बिरसा मुण्डा तक। इस तरह वह बिरसा और उसके अनुयायियों के बीच संवादवाहक की भी भूमिका में था। गया मुण्डा जितना कुशल रणनीतिकार था, उतना ही दक्ष योद्धा भी।”¹

रूपक ने गया मुण्डा को ऐटकेडीह गाँव का बताया है। आगे वे उसकी बहादुरी और वीरता का वर्णन करते हुए लिखते हैं- “गोली लगने के बाद भी गया मुण्डा ने उपायुक्त को मल्ल युद्ध में पछाड़ दिया था। स्ट्रीटफील्ड ने भी यह बात स्वीकारी थी कि गया और उसके परिवार के लोगों ने यथासंभव उनका विरोध किया था। गया मुण्डा द्वारा फेंकी गयी कुल्हाड़ी के वार से दारोगा इल्ताफ हुसैन मरते-मरते बचा था।”²

अंत में रूपक ने फिर लिखा है कि “गया मुण्डा को फांसी दे दी गई। उनके पुत्र सानरे को भी 22 अक्टूबर 1901 ई. को फांसी पर लटका दिया गया।”³

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार को गया मुण्डा और उसके बेटे से अधिक खतरा था या आदिवासियों के बीच खौफ पैदा करने के उद्देश्य से ऐसा मृत्युदंड दिया गया ताकि और कोई दूसरा गया मुण्डा न पैदा हो। बिरसा मुण्डा के उलगुलान के दर्शन और प्रासंगिकता के संदर्भ में प्रसिद्ध पत्रकार फैसल अनुराग अपने लेख में एक जगह लिखते हैं- “जिसमें हुलगुलानों ने प्रतिरोध की ताकत अर्जित की और हर प्रतिरोध को एक जीत में बदल दिया। ऐसी जीत जिसके आयाम

¹ हूल - गुलानों के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 58

² वही, पृ.सं. 60-61

³ वही, पृ.सं. 61

आज भी जनगण को प्रेरित करते हैं। इसलिए हुलगुलान के राजनीतिक दर्शन को जानने की भी जरूरत है और न ही कोई ऐसा राजनीतिक विचार से आदर्शवादी कह कर ठुकरा दिया जा सकता है। हुलगुलानों ने राजनीति की ऐसी अवधारणा को जन्म दिया जिसे झारखंडी जनगण के किसी भी व्यापक आंदोलन में देखा-परखा जा सकता है। यही नहीं हुलगुलानों के राजनीतिक दर्शन से भारतीय जनतंत्र भी अपने को विकसित कर सकता है और उन आलोचनाओं से मुक्त हो सकता है जो राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति हिकारत पैदा कर रहा है।”¹

डॉ. कुमार सुरेश सिंह उपसंहार में लिखते हैं- “उलगुलान मुख्य रूप से भूमि-संबंधी या राजनीतिक-धार्मिक आंदोलन चलाया जाता रहा है। उसका भूमि-संबंधी स्वरूप दिकुओं के विरुद्ध और राजनीतिक-धार्मिक स्वरूप अधिकारियों, यूरोपियन अफसरों और मिशनरियों के विरुद्ध कहा जाता रहा है। उसकी ये दोनों ही व्याख्याएँ आंशिक और किसी की सफाई में बतलाई गई प्रतीत होती है।”²

ऐसा कहकर, बिरसा मुण्डा के आंदोलन के तात्कालिक, ठोस कारणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है और न ही इससे उसके आंदोलन के महत्व में कोई कमी आती है। अनुज लुगुन उलगुलान के संदर्भ में लिखते हैं- “बिरसा उलगुलान की अवधि (1895-1900) बहुत लम्बी नहीं है लेकिन यह अपने में जितना बड़ा है उतना कोई आदिवासी आंदोलन नहीं रहा। बिरसा मुण्डा की लड़ाई केवल अंग्रेजों एवं जमींदारों, दिकुओं के शोषण के खिलाफ लड़ी गई लड़ाई नहीं थी बल्कि उसके पीछे एक बहुत बड़ी मंशा थी- मुण्डाओं का पुनर्संगठन एवं मुण्डा स्वशासन की स्थापना। अंग्रेजों की नीतियों एवं जमींदारों के शोषण से मुण्डाओं की भूमि तो छिनी ही जा रही थी साथ ही उनकी सामाजिक व्यवस्था की जड़ें भी इससे खोखली हो रही थी।”³

कहना नहीं होगा, उक्त अंश में बिरसा मुण्डा के आंदोलन के लगभग सारे निहितार्थ इसमें शामिल हैं।

¹ सबलोग - किशन कालजयी, अंक 01, जनवरी 2010, पृ.सं. 23

² बिरसा मुण्डा और उनका आंदोलन - डॉ. कुमार सुरेश सिंह, पृ.सं. 226

³ अरावली उद्घोष - संपा. जनक सिंह मीणा, अंक 95, जनवरी 2012, पृ.सं. 25-26

3.4 कोल विद्रोह

डॉ. बी. वीरोत्तम के अनुसार “अंग्रेजों का प्रवेश झारखण्ड में सर्वप्रथम सिंहभूम-मानभूम की ओर से हुआ।”¹ उस समय ढालभूम का अपदस्थ वर्तमान राजा जगन्नाथ ढाल था, इनके नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध 1767 से 1777 के बीच लगभग 10 वर्षों तक विद्रोह चला, जिसके बाद अंग्रेजों ने पुनः जगन्नाथ ढाल को ढालभूम का राजा स्वीकार किया। इससे कहा जा सकता है कि अंग्रेज अवश्य पराजित हुए थे। आगे चुहाड़ या चुआर विद्रोह के संदर्भ में डॉ. बी. वीरोत्तम लिखते हैं- “बिहार तथा बंगाल में कंपनी-शासन के आरंभ में जंगल महाल के भूमिजों को सरकारी अफसर ‘चुआर’ कहते थे।”² चुआरों द्वारा बाड़भूम, घाटशिला और दक्षिणी-पश्चिम सिंहभूम में अलग-अलग समय में किये गये विभिन्न विद्रोह चुहाड़ विद्रोह कहलाये। चुहाड़ विद्रोह का अलग महत्व और सीमाएं हैं। प्रकारांतर से सभी आदिवासी अंग्रेजों की नीति, उनके द्वारा पोषित जमींदार ठेकेदार और सूदखोर, महाजनों के लूट और शोषण से तंग आ चुके थे, इसलिए इनके विद्रोह के केन्द्र में अंग्रेजी सत्ता और जमींदार थे।

दरअसल आदिवासियों का विद्रोह कभी रुका नहीं, लेकिन इतिहासकारों की उपेक्षा और अंग्रेजों द्वारा दिये गये संकीर्ण नाम समुदाय विशेष के विद्रोह तक ही सिमट कर रह गया। दुःखद और दुर्भाग्य तो यह है कि आज भी सिर्फ विद्रोह को निश्चित काल और समुदाय तक जोड़कर समाप्त कर दिया जाता है। और यह पड़ताल की कोशिश गंभीरता से नहीं की जाती है कि कैसे ये आदिवासी विद्रोहों का एक-दूसरे से गहरा अंतर्संबंध है, बीच में खालीपन या रिक्तता दिखाई जाती है जो दरअसल है नहीं, सिर्फ आंदोलन की शिथिलता को लोग (इतिहासकार) पकड़ नहीं सके या जानबूझकर उपेक्षा कर दी गई।

कोल विद्रोह का क्षेत्र कुछ इतिहासकार सिंहभूम के कोल्हान क्षेत्र को रेखांकित करते हैं लेकिन डॉ. बी. वीरोत्तम इसे विस्तृत रूप में चिह्नित करते हैं क्योंकि कोल विद्रोह का संबंध कोल्हान क्षेत्र तक या किसी एक आदिवासी समुदाय ‘हो’ या ‘मुण्डा’ तक सीमित कर नहीं देख सकते हैं- “मिदनापुर से लगे हुए मानभूम तथा सिंहभूम के सीमावर्ती क्षेत्र में अंग्रेजों का यदि चुआरों ने उग्र विरोध किया तो

¹ झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति - डॉ. बी. वीरोत्तम, पृ.सं. 136

² वही, पृ.सं. 136

कोलहान क्षेत्र में कंपनी-सरकार को 'हो' जाति के लड़ाका कोलों के तीव्र प्रतिरोध का लम्बे समय तक सामना करना पड़ा। लड़ाका कोल सिंहभूम के राजाओं, छोटानागपुर-खासकर के नागवंशी महाराजा तथा अंग्रेजों का समान रूप से विरोध कर रहे थे।”¹

साहित्यकार राकेश कुमार सिंह ने कोल विद्रोह के संदर्भ में एक जगह लिखा है- “सन् 1831 में सिंहभूम में बिन्दर्राई-सिंगर्राई मानकी के नेतृत्व में द्वितीय ‘कोल विद्रोह’ हुआ।”² उपर्युक्त पंक्तियों से एक बात स्पष्ट होती है कि कोल विद्रोह का नेतृत्व चाहे जिसने भी, जिस क्षेत्र में किया हो प्रथम कोल विद्रोह भी अवश्य हुआ होगा, लेकिन राकेश कुमार सिंह प्रथम कोल-विद्रोह की चर्चा कहीं नहीं करते हैं।

3.5 अहिंसावादी आदिवासी आंदोलन

‘अहिंसा’ और ‘सत्य’ के प्रयोग के लिए महात्मा गाँधी को पूरे विश्व में जाना जाता है किन्तु एक आदिवासी जन नायक जतरा भगत को भारतवर्ष में कितने लोग जानते हैं? जिसने जमींदारों, साहूकारों, ठेकेदारों और अंग्रेजों के खिलाफ लोगों को अहिंसावादी, असहयोग आंदोलन अपनाने के लिए न केवल प्रेरित किया, बल्कि इनकी प्रसिद्धि एवं नेतृत्व क्षमता से लाखों आदिवासी इनके अनुयायी बन गये।

रूपक ने जतरा भगत द्वारा शुरू किये गये आंदोलन के बारे में लिखा है- “टाना भगतों का आंदोलन भारतीय इतिहास में सबसे लम्बी अवधि तक चलने वाले आंदोलनों में एक है। आश्चर्य की बात है कि जतरा भगत नामक जिस युवा ने इस आंदोलन को शुरू किया था, वह महज 20 वर्ष की आयु में ही देश के लिए शहीद हो गया था।”³

उराँव आदिवासी समुदाय से आने वाले जतरा भगत का जन्म सितंबर 1888 ई. को जिला गुमला के बिशुनपुर प्रखंड के चिंगरी गांव में हुआ था। जतरा भगत, उराँव आदिवासियों में सदियों से चले आ रहे अंधविश्वास, झाड़-फूंक और मुर्गे की बलि देकर भूत भगाने की प्रथा का खुलकर तर्कसंगत विरोध किया और कहा- “यदि भूत को आज एक मुर्गा दोगे तो आगे वह और मुर्गा पाने की लालच में पीड़ित को और

¹ झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति - डॉ. बी. वीरोतम, पृ.सं. 144

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 7

³ हूल गुलानो के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 72

अधिक जोर से दबोच लेगा। इसलिए भूतों से डरने के बजाय, भूतों को ही डरा दो। जिससे भूत हमारे गाँव में फिर से आने की हिम्मत ही न कर पाये।”¹

जतरा भगत का शुरूआती आंदोलन धार्मिक था, लेकिन कुछ समय के पश्चात वे शोषक तत्वों (अंग्रेज, जमींदारों) का खुलकर अहिंसात्मक विरोध करने लगे। और उनका कहना था कि “जमीन हमारी, मेहनत हमारा, फसल हम तैयार करें और उसे जमींदार उठा ले जाएं, यह अन्याय है, अत्याचार है। अन्न हम उपजाएं और कोठी उन जमींदारों का भरे। वे बिना मेहनत के ही ऐशो-आराम करें और यहां हमारे बच्चे भूख से बिलख मरें। उराँव लोग अब किसी भी जमींदार के लिए काम नहीं करेंगे।”²

उक्त उपदेश के बाद सारे उराँव आदिवासी संगठित होकर, शोषकों की सहायता करना और उन्हें कर देना बंद कर दिये। शोषक वर्ग कभी मेहनत नहीं किये थे, इसलिए उनका होश उड़ना स्वाभाविक था। जतरा भगत चाहते तो हिंसात्मक आंदोलन कर सकते थे क्योंकि उनके अनुयायियों की संख्या लाखों में थी लेकिन उन्होंने वैसा न कर अहिंसा और असहयोग का मार्ग अपनाया।

जतरा भगत के निधन के पश्चात उनके अनुयायी ‘टाना भगत’ कहलाए। महात्मा गांधी भी इनके दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी सक्रियता के संदर्भ में रूपक ने लिखा है- “गया और हजारीबाग में हुए कांग्रेस के अधिवेशनों में टाना भगतों ने भी भाग लिया था।”³

झारखंड के गुमला जिला का विशुनपुर क्षेत्र आज भी टाना भगतों का गढ़ माना जाता है। टाना भगतों ने उराँव समुदाय में व्याप्त अंधविश्वास और कुरीतियों को जड़ से मिटाने का हरसंभव प्रयास किया। इनके जीवन का मूल मंत्र है- ‘सादा जीवन उच्च विचार’।

3.6 तेलंगा खड़िया

जिस प्रकार मुण्डा आदिवासी समुदाय से बिरसा मुण्डा जैसे महान योद्धा अंग्रेज एवं उनके द्वारा पोषित जमींदार, साहूकार, महाजन और पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध आजीवन विद्रोह एवं संघर्ष

¹ हूल गुलानो के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 73

² वही, पृ.सं. 73

³ वही, पृ.सं. 75

किया, ठीक उसी प्रकार एक चरित्र, खड़िया आदिवासी समुदाय में भी देखने को मिलता है। उस अमर शहीद जन नेता का नाम 'तेलंगा खड़िया' है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इन्हें लोग उस बहुतायत-मात्रा में देश में नहीं जानते हैं, जितना कि बिरसा मुण्डा को। दरअसल सभी आदिवासी विद्रोह प्रारंभिक या अंतिम दौर तक क्षेत्रीय ही रहे, लेकिन किसी वीर शहीद को ज्यादा महत्व दिया गया और किसी को कम, ऐसा क्यों? योगदान तो सबका अपने हिसाब से किसी भी दृष्टिकोण से कम नहीं होता है। कमोबेश सारे आदिवासी समुदाय एक ही तरह की समस्याओं से जूझ रहे थे। यहाँ मेरा मतलब किसी वीर शहीद की वकालत करना हरगिज नहीं है, सिर्फ उनकी जो उपेक्षा हुई उसके संबंध में बात करना चाहता हूँ। क्या तेलंगा खड़िया इसलिए उपेक्षित हुआ कि अंग्रेजों ने उसके बारे में नहीं लिखा। अगर ये मानक अपनाते हैं तो हमारे और अंग्रेजों की सोच में अंतर क्या है?

प्रकारांतर से तेलंगा खड़िया ने उन्हीं समस्याओं को लगभग 50-60 वर्ष पूर्व उठाया था जिसे बिरसा मुण्डा ने 1895-1900 ई. के बीच उठाया। इसके संदर्भ में तेलंगा खड़िया का एक कथन उल्लेखनीय है- “जमीन हमारी, जंगल हमारे, मेहनत हमारी, फसल हमारे, तो फिर ये जमींदार और अंग्रेज कौन होते हैं हमसे लगान और मालगुजारी वसूलने वाले।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट पता चलता है कि तेलंगा खड़िया ने किनका-किनका विरोध किया है। आदिवासी खड़िया लोक गीतों में उनके विरोध एवं संघर्ष का स्वर स्पष्ट दिखाई देता है, जिनकी चर्चा हम आगे अवश्य करेंगे। रूपक के अनुसार तेलंगा खड़िया का जन्म झारखंड के गुमला जिले के मुरगू नामक गाँव में 09 फरवरी, 1806 ई. को हुआ था।

तेलंगा खड़िया अंग्रेजों की शक्ति और नीति से अच्छी तरह परिचित था। इसलिए उसने कभी अंग्रेज और उनके द्वारा पोषित तमाम शोषक वर्गों (जमींदार, साहूकार, महाजन, पुलिस अधिकारियों) से प्रत्यक्ष युद्ध नहीं किया, लेकिन गुरिल्ला युद्ध अपनाया। इसके लिए एक संगठन बनाया था। रूपक के शब्दों में कहें तो

¹ हूल गुलानो के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 26

“जोड़ी पंचाईत की स्थापना की। जोड़ी पंचाईत एक ऐसा सांगठनिक ढांचा था, जिसमें विद्रोहियों को तमाम तरह की युद्ध विद्याओं के साथ-साथ रणनीतिक स्तर पर विशेष तौर से प्रशिक्षित किया जाता था।”¹

चूँकि तेलंगा खड़िया के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। इसलिए इसे बेहतर ढंग से जानने एवं समझने के लिए हमें लोक स्मृतियों में जीवित लोक गीतों में जाना पड़ेगा, जहाँ वो आज भी जस के तस जिंदा हैं। खड़िया लोक गीतों में जाने के पूर्व इनकी भुईंहरी और खुँटकट्टी छोटानागपुर के किन-किन क्षेत्रों में स्थापित हुए, उसे रोज केरकेट्टा ने बखूबी दिखाने का प्रयास किया है-

1. कुलु	-	गिनीर
2. डुंगडुंग	-	पंडरिया
3. टो:पो	-	बरोया
4. बिलुड	-	कोइनार
5. टेटेटोंहोएज	-	अमकुली
6. बाअ	-	सो:डअ
7. केरकेट्टा	-	पोढ़ा
8. सोरेड	-	सेपड़ा
9. किड़ो:	-	बैघमा ²

उपरोक्त नौ (9) गोत्र खड़िया आदिवासी समुदाय में पाये जाते हैं। इनके निवास स्थान जहाँ गोत्र विशेष की बहुलता के आधार या खुटकट्टी जमीन से संबंध होने का द्योतक है गोत्र और स्थान। जो ऊपर स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

कई खड़िया लोक-गीत जिसे रोज केरकेट्टा ने संकलित किया, अपने अध्यापन कार्य के दौरान, जो तेलंगा खड़िया और उस अवधी की परिदृश्य को समझने में काफी मददगार है-

¹ हूल गुलानो के वीर शहीद - रूपक, पृ.सं. 26

² झारखंड इनसाइक्लोपीडिया (खंड-1), संपा. रणेन्द्र, सुधीर पाल, पृ.सं. 233

“हाय दइया अपअः सका रे
दुरा ते सिपाही डोकोसिई
हो दुरा ते पइः जकोम डोकोसिई
अले से रे पइः जकोम बही-पटा योना तेरे
हो दुरा ते पइः जकोम डोकोसिई”¹

अनुवाद -

हाय दैया पिता का कर्ज
सिपाही दरवाजे पर बैठ गया
हो, सिपाही द्वार पर बैठ गया।
रूको जरा सिपाही जी, बही-पट्टा तो देखने दो
हो द्वार पर सिपाही बैठ गया।

इस खड़िया लोक गीत में मालगुजारी की समस्या स्पष्ट दिखाई दे रही है। सिपाही का उनके गाँव, द्वार में आना यह साबित करता है कि खड़िया आदिवासी समुदाय में लगान का बोझ अत्यधिक रहा होगा और नहीं चुका पाने पर सिपाही या पुलिस वसूली के लिए उत्पीड़ित कर रही है। ऐसा दृश्य हमारे सामने प्रतिबिम्बित होता है। उपरोक्त लोकगीत से इन्हीं के खिलाफ तेलंगा खड़िया ने कर न देने के लिए लोगों को एकजुट और संगठित कर विद्रोह के लिए प्रेरित किया।

एक दिलचस्प खड़िया लोक-गीत है जिसमें तेलंगा खड़िया के लिए जो प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है जिससे व्यवहारिक अर्थ ध्वनित होता है

“रटा टेरेंगा रटा-रटा
बीरू टेरेंगा बीरू-बीरू रे।
राजा बेटा लमलम मुःलएः ज
इना टेरेंगा दबा तारतेम

¹ झारखंड इनसाइक्लोपीडिया (खंड-1), संपा. रणेन्द्र, सुधीर पाल, पृ.सं. 233

इना टेरेंगा बोको:ब रो: डबु: तेमा।”¹

अनुवाद

रटा गिरगिट एक बगान जिसको विशेष प्रकार
की झाड़ी से घेरा जाता है जिसमें रहने वाला गिरगिट
पहाड़ का गिरगिट पहाड़-पहाड़
क्यों गिरगिट, तुम दुबकते हो
क्यों गिरगिट, तुम सिर हिला रहे हो।

इस लोक-गीत में तेलंगा खड़िया के लिए दो प्रकार के गिरगिट, एक घोरना वाला (बगान का दिवाल) दूसरा पहाड़ वाला, प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है। गिरगिट का सिर विपरीत परिस्थितियों को भाँपने में प्रवीण माना जाता है उसी के अनुरूप तेलंगा खड़िया भी घोरना के ओट में पहाड़ के पीछे छिपकर शत्रु या दुश्मन पर वार कर छिप जाने का अर्थ उपर्युक्त लोक गीत में प्रतिबिंबित होता है।

उपर्युक्त लोक गीत की परंपरा से मिलता-जुलता दूसरा लोक-गीत जिसमें तेलंगा खड़िया दुश्मन की गोली से धोखे से मारा जाता है-

“टुकुवा: ओलथा ते डोकोकिम रे बोधन सिंह,
कोनोन भैया: सीसा, महा भैया: गोली
ठो: गोड़की रे टेरेंगा, गुर गोड़की रे तेलंगा।।
कोनोन भैया: सीसा, महा भैया गोली
गुर गोड़की रे तेलंगा।।”²

अनुवाद

चट्टान की ओट में बैठा बोधन सिंह
छोट भाई को सीसा (छर्चा)

¹ झारखंड इनसाइक्लोपीडिया (खंड-1), संपा. रणेन्द्र, सुधीर पाल, पृ.सं. 234

² वही, पृ.सं. 237

बड़े भाई को गोली,
लग गई टेटेंगा को
गिर गया तेलंगा।।

उक्त लोकगीत में किस तरह जमींदार और अंग्रेज के दलालों ने मिलकर, तेलंगा खड़िया की धोखे से हत्या कर देते हैं, उसे इस खड़िया गीत में प्रतीक रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

3.7 सामाजिक यथार्थ और कल्पना का समावेश

उपन्यास विधा में सामाजिक यथार्थ को हू-ब-हू न पेश करके, कल्पना के योग से अद्भुत, रोचक, पठनीय, जीवंत एवं युग बोध से जोड़ने का सूक्ष्म प्रयास किया जाता है। सामाजिक यथार्थ और कल्पना का संयोजन लेखक की दृष्टि-बोध, लेखकीय क्षमता और भाषा-शैली पर निर्भर करता है। आदिवासी केन्द्रित उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ और कल्पना कैसे और किन परिस्थितियों में दर्शाया गया है, इसकी पड़ताल करना हमारी प्राथमिकता होगी और सामाजिक यथार्थ और कल्पना को मापने या निर्धारित करने का आधार शोधार्थी का सामाजिक अनुभव एवं क्षेत्रीय विवेक होगा।

झारखंड के अधिकांश ग्रामीण अंचलों में भूमिगत संगठन सक्रिय हैं। इनके संस्थापक, संचालक, निर्णय लेने वाले गैर-आदिवासी हैं। इनका उद्देश्य सरकारी और गैर-सरकारी विकास संबंधी योजनाओं से लेवी वसूल करना है। इसके संबंध में ग्लैडसन डुंगडुंग और संजय कृष्ण अपनी पुस्तक 'क्रॉसफायर' में लिखते हैं- "संगठनों के उभार के पीछे लेवी एक बड़ा कारण है। पीएलएफआई जैसा संगठन अकेले लेवी के रूप में साल में 150 करोड़ रुपये वसूलता है।"¹ इनका दबदबा ग्रामीण आदिवासी क्षेत्रों में किस तरह है, इसके संबंध में लेखक एक जगह लिखते हैं- "इसमें सहायक हैं इलाके में सक्रिय भूमिगत संगठन जिसे जंगल सेना कहते हैं। गाँव के अनपढ़ और सीधे-सादे आदिवासियों पर राज कर रहा है। गैर आदिवासी शक्तियों का गठबंधन।"²

¹ क्रॉसफायर - ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृ.सं. 35

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 127

झारखंड में इस तरह के अनेक भूमिगत संगठन हैं उनमें ‘जयनाथ साहू ग्रुप’, ‘जेपीसी’ ‘पी.एल.एफ.आई.’ ‘माओवादी’, ‘टीपीसी’ और ‘पहाड़ी चीता’ प्रमुख हैं। इस तरह के भूमिगत संगठनों में जमीनी स्तर पर काम करने वाले अधिकांश युवक आदिवासी समुदाय से आते हैं। उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह समाज से बहिष्कृत एक ऐसी औरत के संबंध में लिखते हैं जो विपरीत परिस्थितियों में भी हमेशा आगे बढ़ते जाती है - “रंगेनी तो फिर भी एक स्त्री है। बाल-बच्चों वाली। ऊपर से अकेली! सामाजिक दबावों के आगे तो बड़े-बड़े सूरमा टूट जाते हैं फिर बेचारी रंगेनी को क्यों दोष दे संजीव?”¹

स्वतंत्रता के पश्चात् विकास योजनाओं का जमीनी यथार्थ आदिवासी क्षेत्रों में क्या है? उपन्यास का कथावाचक यथार्थ से रू-ब-रू कराते हुए कहता है - “वे एक ऐसे मुद्दे के लिए संघर्षरत हैं जिसका जंगल के लोगों के लिए कोई महत्व नहीं है फिलहाल। रोजगार, परिवहन, स्वास्थ्य-सुविधाएँ ...कुछ भी तो नहीं है गजलीठोरी में। विकास की बयार मानो इधर से होकर कभी गुजरी ही नहीं। पटना- राँची का भारत कुछ और है, दिल्ली का इण्डिया कुछ और। देश-राज्य की राजधानियों के बाहर गजली ठोरी जैसी जगहों का हिन्दुस्तान वहीं का वहीं ठिठका खड़ा है जहाँ सौ-पचास वर्ष पूर्व था।”²

उपर्युक्त प्रसंग आज के ग्रामीण यथार्थ का जीता-जागता एक नमूना मात्र नहीं है वरन् यह झारखंड के आदिवासी गाँवों की एक सच्ची तस्वीर समग्रता में पेश करती है। आदिवासी समाज में आजीवन अविवाहित रहने पर या किसी दिक्कत के साथ बगैर विवाह के साथ रहने, उसके त्यागने के पश्चात् जो घटनाएं घटती हैं या जो विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उसके संदर्भ में रमणिका गुप्ता का उपन्यास ‘मौसी’ की एक पात्रा रेणुका जी का कहना है- “देखो रुपया बरबाद मत करना। मशीन खरीद लेना या गाय ले लेना। कुछ काम अपने बल पर करो कि कमाई हो जाए। भाई-भाभी ज्यादा दिन नहीं रखेंगे। पैसे खत्म हो गया तो निकाल देंगे या ऐसे तंग करेंगे कि तुम अपने ही भाग जाओ। जब तुम्हारे

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 127

² वही, पृ.सं. 135

मन माफिक मरद मिल जाए तो ब्याह कर लेना पर तब भी कमाना मत छोड़ना। कमाओगी तो सब पूछेंगे, नहीं तो कोई नहीं पूछेगा।”¹

अनब्याही बेटी-बहन, भाई-भाभी के लिए आज के समय में बोझ या भार समझी जाती हैं यह बदलते समय का यथार्थ है। गैर-आदिवासी दलालों के संपर्क से आदिवासी समुदाय में हो रहे नकारात्मक परिवर्तन के यथार्थ को रेखांकित करते हुए रमणिका जी लिखती हैं- “औरत इस समाज में हमेशा ही ज्यादा खटती रही हैं। अब थोक माल में उन्हें सस्ते मजदूर के रूप में सप्लाई करना या व्यक्तियों के हाथ बेचना या अन्य गलत पेशों में लगाना भी शुरू हो गया है। बाहरी दलालों की तरह इनके समाज में भी एक दलाल जमात पनप गई। यह दलाल जमात बाहर के शहरी सपने समाज को दिखाकर, पुराने मूल्यों को नष्ट कर रही है। सपने तो सपने ही होते हैं, जिन्हें पाना संभव नहीं, पर सपनों से भटकाव भयंकर रूप से पनपता है। भटकाव से उपजती है निराशा और फ्रस्ट्रेशन, जो अपराध-वृत्ति की जननी है। लोग समूह से हटकर व्यक्ति बन रहे हैं।”²

उक्त पंक्तियाँ आज के जटिल यथार्थ, महानगरीय जीवन की त्रासदी को व्यक्त करती हैं। मुण्डा आदिवासियों की वैसी जमीन जो राँची शहर के आस-पास थी वो नेता, अधिकारी, पुलिस, भू-माफिया और कचहरी के बाबुओं की गठजोड़ से किस प्रकार बहुत तेजी से गायब होते जाती है, उसके संदर्भ में रणेन्द्र लिखते हैं -

“शुरू के दिनों में इन बाबुओं ने नमक के बदले, तौलिया के बदले, रिक्शा और घड़ी के बदले जमीन लिखवा लीं। कचिया (रुपया) इनके पास, कलम इनके पास, साहब-सूबा, हाकिम-हुक्काम सब इनके पास फिर दिक्कत क्या थी? खतियान में जो जमीन पसंद आ रही हो उसी के आगे छप्परबंदी लिख लो। सन् चौरानबे में भी सन् सैंतालीस के हुकुमनामा का सरअंजाम मौजूद। धुआं दिखाकर नये कागज को

¹ मौसी - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 146

² वही, पृ.सं. 151

सौ साल पुराना बनाने का जादू कचिया के एक फूंक में साठ-सत्तर साल पुराना स्टॉप पेपर हाजिर। जो मांगोगे वही मिलेगा।”¹

उपन्यासकार रणेन्द्र वैश्वीकरण के जटिल और क्रूर यथार्थ को बहुत बारीकी से परत दर परत उधेड़ते चले जाते हैं, जो उनकी सबसे बड़ी खासियत है।

मधु काँकरिया अपने उपन्यास ‘खुले गगन के लाल सितारे’ में नक्सली समस्या पर प्रकाश डालते हुए देश के महानगरों में आये नकारात्मक परिवर्तनों पर केन्द्रित यथार्थ को व्यंग्यात्मक ढंग से रेखांकित करते हुए लिखती हैं- “आज कलकत्ता में देख लो, हर गली में एक ब्यूटी पार्लर, हर नाली पर हगता कोई बच्चा और बढ़ते रेड लाइट एरिया के हर लैंपपोस्ट के नीचे ग्राहक के इंतजार में खड़ी लड़की मिल जाएगी। हर पाँचवां आदमी सड़क पर थूकता नजर आ जाएगा। जितनी मुद्रास्फीति नहीं हो रही है उससे कहीं ज्यादा सौंदर्य स्फीति हो रही है, इस भूखे नंगे आध्यात्मिक देश के महानगरों में।”²

उपर्युक्त पंक्तियाँ महानगरों की मौजूदा स्थितियों की ओर इशारा करती हैं, जिसमें प्रत्येक वर्ग का चेहरा प्रतिबिम्बित होता है। रणेन्द्र द्वारा रचित ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास का एक पात्र रूमझूम द्वारा प्रधानमंत्री को लिखे पत्र का एक अंश असुर समुदाय की जटिल यथार्थ को शिद्दत से बयां करती है- “महोदय, शायद आपको पता हो कि हम असुर अब सिर्फ आठ-नौ हजार ही बचे हैं। हम बहुत डरे हुए हैं। हम खत्म नहीं होना चाहते। भेड़िया अभयारण्य से कीमती भेड़िये जरूर बच जाएंगे श्रीमान्। किन्तु हमारी जाति नष्ट हो जाएगी।”³

कहना न होगा कि आदिम समुदाय का अस्तित्व समाप्ति के कगार पर है, असुर समुदाय भी उसी की एक कड़ी है।

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 79

² खुले गगन के लाल सितारे - मधु काँकरिया, पृ.सं. 169

³ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 84

3.7.1 काल्पनिक और आदिवासी विरोधी संदर्भ

उपन्यास हो या कहानी, निबंध हो या नाटक, सबमें कमोबेश यथार्थ के साथ कल्पना का समावेश होता ही है, लेकिन जब कल्पना विषय-वस्तु विरोधी होने लगे तो ऐसे समय, विषय के साथ अन्याय ही होगा। ‘वनलक्ष्मी’ उपन्यास में योगेन्द्रनाथ सिन्हा एक जगह लिखते हैं- “दिकु जनों में ही (जो ‘हो’ जनजाति के बारह हैं) बुदनी को अधिक अपनापन लगता, वहीं उसे अपने असाधारण सौंदर्य की सार्थकता मिलती।”¹ ऐसा मिथ्य, आदिवासी विरोधी सोच रखने वाला लेखक पूर्व में भी लिखता है- “सबसे खास बात बुदनी में यह थी कि वह अपने आकर्षक सौंदर्य का मूल्य समझती थी और अपने समाज के गँवारों के बीच इसे नष्ट होते देख क्षुब्ध और हताश होती।”²

सरकारी सेवा में आदिवासियों के बीच लम्बे अर्से तक रहकर लेखक किस कुंठित और कामुक नजरिये से उनको देखता है उपर्युक्त पंक्तियां उसी का नतीजा है। ‘दिकु’ शब्द घृणा युक्त समस्त शोषक वर्ग का द्योतक है। एकटीविस्ट, चिंतक, वीर भारत तलवार ‘दिकु’ शब्द की ऐतिहासिकता पर लिखते हैं- “आदिवासियों ने इस समस्त शोषकों को ‘दिकु’ कहा और बार-बार इनके खिलाफ विद्रोह किए। आदिवासियों का पिछली दो शताब्दियों का इतिहास अंग्रेजों सहित इन तमाम ‘दिकु’ शोषकों के खिलाफ संघर्ष का इतिहास है। एक आदिवासी मजदूरिन की भावनाओं को इस तरह चिह्नित करना कि उसे अपने समाज के लोग गँवार लगते हैं और दिकु लोगों के बीच उसे अपनी और अपने सौंदर्य की सार्थकता मिलती है- यह केवल मूर्खतापूर्ण और दुष्ट कल्पना जन्य चित्रण है।”³ आलोचना जारी रखते हुए तलवार जी आगे लिखते हैं- “दिकु लोगों के बीच एक आदिवासी मजदूरिन को ‘अपनापन’ लगता है, ऐसा कहना सरासर पाजीपन है। दो-दो रुपयों में आदिवासी रेजाओं को खरीदने वाले ‘दिकु’ लोगों के बीच ही आदिवासी रेजा को अपने सौंदर्य की सार्थकता मिलती है- यह किसी भ्रष्ट ठेकेदार सरीखे ‘दिकु’ का अपनी लम्पटता को ढांपने के लिए किया गया बेहूदा प्रलाप है।”⁴

¹ वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 46

² वही, पृ.सं. 45

³ शालपत्र - संपा. मनमोहन पाठक, वीर भारत तलवार, अंक 1, 1977, पृ.सं. 37

⁴ वही

एक आदिवासी मजदूरिन शोषक के संग अपनापन और अपनों के बीच परायेपन कैसे सोच सकती है? यह लेखक की कल्पना युक्त, स्वार्थपूर्ण मिथ्य दृष्टि के अलावा कुछ और नहीं है।

योगेन्द्रनाथ सिन्हा अपने मिथ्या कल्पना द्वारा, आदिवासी दर्शन को पूरी तरह समझे बिना मन के मुताबिक लिखते चले जाते हैं- “उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि पूरे पैसों की मजदूरी छोड़ यह क्यों पहाड़-पहाड़ कन्दा कोड़ते फिरती हैं। ऐसे तो इन आदिवासियों की चिंता-विहीन जीवन धारा से जेफरन परिचित थे। दो दिनों से भोजन नसीब न हुआ हो फिर भी ये हंसते नजर आएंगे।”¹

कहना न होगा मजदूरी मिलते कोई भी आदिवासी मजदूरी के काम को छोड़कर बिना किसी खास प्रयोजन के सिर्फ फल और कंदा के लिए जंगल-पहाड़ की छान नहीं मारेगा। दो दिनों से भूखे रहकर भी वे हँसते नजर आयेंगे में कल्पना की अतिश्रयता नहीं तो और क्या है? हँसी, भरे पेट वालों को आती है, खाली पेट वालों को नहीं। उत्सवी प्रवृत्ति वाले आदिवासियों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना लेखक के पूर्वाग्रह युक्त कल्पना का परिणाम है। नरभक्षी बाघ के शिकार वाला प्रसंग भी कल्पना के अलावा कुछ नहीं है- “जम्बीरा ने समझा कर कहा- वह शिकारी गाँव की औरत के कपड़े पहन हँसुआ से घास काटने और गाने लगता था और बगल में घास में छिपा अपना भरा राइफल रखे रहता था। ज्योंही उस पर बाघ झपटता कि हँसुआ फेंक वह राइफल से एक गोली में काम तमाम कर देता था।”² फुर्तीला बाघ के झपटते या छलांग मारते ही हँसुआ फेंककर राइफल लेकर जाम्बीरा द्वारा बाघ को मार डालना गले से नहीं उतरता क्योंकि ऐसा कल्पना में संभव है, वास्तविक जिंदगी में नहीं।

योगेन्द्रनाथ सिन्हा अपने दूसरे उपन्यास ‘वन के मन में’ एक पात्र लुकना को बहुत अधिक मेहनती दिखाया है, वह भी धनलोलुप रूप में सोना, खाना आराम करना छोड़कर सिर्फ कुटीर उद्योग के पीछे भागता है- “कई महीने तक लुकना का कुटीर-कारखाना चलता रहा। उसका शारीरिक परिश्रम घटने के बदले बढ़ता ही गया। अब तो शायद एक-आध घंटा ही रात को सोता था। बिल्कुल मशीन हो गया

¹ वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 48

² वही, पृ.सं. 110

था।”¹ आदिवासी मेहनती हैं इसमें कोई शक नहीं है, लेकिन उन्हें मानसिक तौर पर धार्मिक ग्रंथ की घुट्टी पिलाकर अपने लाभ के लिए उन्हें मशीन में तब्दील करना, आध्यात्मिक पाठ पढ़ाकर समय से अधिक काम लेना दूसरे तरह का शोषण ही होगा, जिस प्रकार वनलक्ष्मी का शिवदत्त गीता का पाठ पढ़ाकर हाथ टूटे मजदूर से भी अवकाश देने के बदले काम करवाता है।

इस तरह आदिवासियों की मेहनती प्रवृत्ति का रस लेते हुए, लेखक काल्पनिक वर्णन जारी रखता है- “यहां लकड़ी के मोटे-मोटे बोटों को उठाते समय एक ओर पसीना टपक रहा है तो दूसरी ओर मुस्कान के मोती झर रहे हैं! ये आदिवासी ही अकृत्रिम रूप से सभ्य और पूज्य हैं।”² कहना न होगा भारी काम करते समय थकान से शरीर चूर-चूर हुआ महसूस होता है न कि चेहरे पर मुस्कान नजर आती है। इतना ही नहीं तथाकथित सभ्य समाज की दृष्टि में आदिवासी कितने सभ्य और पूज्य हैं, बताने की आवश्यकता नहीं है।

अपने उपन्यास ‘पाँव तले की दूब’ में संजीव एक कथा में संताली युवक से जेलर के बेटी की शादी का प्रसंग रखते हैं जो प्रेम तक तो सही प्रतीत होता है- “जेलर अंग्रेज था - दया-माया रहित, लेकिन उसकी बेटी ने जेल में बजल के संगीत को सुना तो आकर्षित होती चली गई। अंततः बेटी के अत्यधिक अनुरोध पर बजल को न सिर्फ रिहा किया गया, बल्कि उसी लड़की से शादी कर दोनों को जेलर साहब ने इंग्लैंड भी भेज दिया।”³

भारतीयों को हिकारत की दृष्टि से देखने वाले अंग्रेज अपनी बेटी को एक आदिवासी लड़के से विवाह करा कर, स्वदेश भेजना एक फिल्म के दृश्य में ही संभव हो सकता है, व्यवहार में नहीं। क्योंकि अंग्रेजों की दृष्टि में भारतीय वही थे, जो सवर्णों की दृष्टि में दलित हैं।

अपने पहले उपन्यास ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ से ही सुर्खियों में आये कथाकार रणेन्द्र एक जगह कल्पित और आदिवासी स्त्री विरोध प्रसंग का चित्रण करते हैं- “मैं निसर्ग के इस जामुनी फूल को बासी

¹ वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 106

² वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 126

³ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 55

होते नहीं देखना चाहता था। मैं चाहता था कि चाँदनी बची रहे, गुलाईची की खुशबू बची रहे, आसुरी गीतों की मादकता बची रहे और बची रहे फूलझर झरने की रूनझून। सो मैंने अब रात में किवाड़ की सिटकनी लगाकर सोना शुरू किया तो उसने खिड़की से कनेर की टहनी से पैरों में गुदगुदी लगाकर मुझे जगाया। जब अगली रात खिड़की भी लगा दी तो लोहे की तार से सिटकनी गिरा दी। अब मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मन से पिघलते जामुनी रंगों को कैसे बचाऊँ!”¹

लेखक की वर्णन शैली प्रतीकात्मक एवं ध्वन्यात्मक है। यहाँ जामूनी फूल, एतवारी के लिए प्रयोग किया गया है। वह अतृप्त वासना से इस कदर क्षुब्ध है कि सोये हुए शिक्षक को येन-केन-प्रकारेण जगाकर मानो साथ सोना चाहती है। कहना न होगा लेखक की ऐसी कल्पित, घृणित, मिथ्य दृष्टि, उसके आदिवासी स्त्री के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रसित होने का द्योतक है।

‘वन के मन में’ उपन्यास में एक काल्पनिक प्रसंग शादी के संदर्भ में दिखाया गया है। ‘हो’ आदिवासी के लिए अन्य समुदायों की तरह शादी की तारीख तय किये जाते हैं, लेकिन शुभ-दिन के लिए मुहूर्त नहीं निकाला जाता है- “उन्होंने दिउरी से शुभ दिन विचार कराया और तदनुसार मोटाय हो को संवाद भेज दिया। कोमचोंग भी बेटी का ब्याह, जितना शीघ्र हो कर देना चाहते थे, इसलिए पहला मुहूर्त जो सत्रह दिन के बाद पड़ता था, उसे ठीक किया।”²

कहना न होगा शुभ मुहूर्त की परंपरा हिन्दुओं के बीच प्रचलित है, आदिवासियों में नहीं।

3.8 1970 ई. से अब तक के दस महत्वपूर्ण जनांदोलन

झारखंड के आदिवासी अपने पुरखा-पूर्वजों की ऐतिहासिक लड़ाई जो 200 वर्षों से भी अधिक समय से लड़ी जा रही है, उस परंपरा को जिंदा रखा है। तिलका मांझी का आंदोलन, कोल विद्रोह, सिद्धू-कान्हू का ‘संताल हूल’, बिरसा मुण्डा का ‘उलगुलान’, तेलंगा खड़िया का आंदोलन और टाना भगत आंदोलन से आदिवासी समाज समय-समय पर प्रेरणा और ऊर्जा प्राप्त करता रहा है। यही वजह है कि झारखंड में 1970 ई. से अब तक कई छोटी-बड़ी परियोजनाएं जो आदिवासी विरोधी, विस्थापन जैसी

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 63

² वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 120

विकराल समस्या को उत्पन्न करने वाली, पुनर्स्थापन और पुनर्वास नीति को अंशतः लागू न कर पाने के कारण अनेक परियोजनाएं लम्बित हैं, काम रूका हुआ है। इन दस जनांदोलनों के पीछे कौन-सी प्रबल शक्तियाँ काम कर रही हैं, इन्हें पत्रकार सुनील मिंज और मानवाधिकार के कार्यकर्ता ग्लैडसन, डुंगडुंग द्वारा लिखित पुस्तक ‘झारखंड में अस्मिता संघर्ष’ के आलोक में आंकड़ों का अध्ययन- फिर, विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा, क्योंकि इस तरह के जनांदोलनों पर मुक्कमल पुस्तक नहीं के बराबर है। इसलिए इसका सहारा लिया जा रहा है- इन दस आंदोलनों का अपना अलग-अलग आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व है जो क्रमशः इस प्रकार हैं -

3.8.1 कोयलकारो जल विद्युत परियोजना

यह परियोजना बृहत बांध के अंतर्गत आती है। इसमें 10 करोड़ की लागत से 710 मेगावाट बिजली उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा गया था। इस परियोजना के लिए 55,000 एकड़ जमीन की आवश्यकता थी, जिसमें 256 गाँवों के 1 लाख 50 हजार लोगों के विस्थापित होने का अनुमान था। इसका विरोध करने के लिए बड़ा अभियान प्रारंभ किया जाता है। जिसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “कोईल और कारो दोनों तरफ एक ही समस्या थी। दोनों तरफ एकजुट हो रहे थे। छिटपुट विरोध भी जारी था। 1975-76 में मोजेस गुड़िया ने कोईल और कारो के पृथक संगठनों को मिलाकर एक संगठन बनाया जिसका नाम ‘कोईलकारो जन संगठन’ रखा। पहले कोईल क्षेत्र की अलग समिति थी- जन संयोजन समिति एवं कारो क्षेत्र वाले कोईल क्षेत्र में जाकर उत्साही व रुचिकर लोगों को समझाया। कोईल-कारो जनसंगठन की पहली बैठक कामडारा में हुई और वहीं पर पदाधिकारियों का सर्वसम्मति से चुनाव हुआ। मोजेस गुड़िया कोईल-कारो जनसंगठन के प्रथम अध्यक्ष चुने गये। ... तेतरा के सुलेमान तिकी को कोईल-कारो का क्षेत्रीय उपाध्यक्ष बनाया गया। कोईल-कारो जनसंगठन की एक केन्द्रीय समिति भी बनी जिसमें सोमा मुंडा (लोहाजिमी), सनिका पहान (चंपाबाहा), पालकोट के प्रमुख, सरपंच मदन सिंह, फगनु

बड़ाईक, विशु सिंह (पालकोट) आदि थे। केन्द्रीय समिति के लिए गुटूहातु के कल्याण गुड़िया को मनोनीत किया गया।”¹

इस प्रकार जनांदोलन की गति को तीव्र, मजबूत एवं स्थायी बनाने के लिए व्यापक अभियान चलाकर लोगों में चेतना जगायी गई। कोईल-कारो आंदोलन तीन चरणों में संपन्न होता है। बांध निर्माण की गतिविधि जैसे-जैसे प्रारंभ हुई, जनांदोलन तीव्र एवं व्यापक होता गया। बांध निर्माण कार्य प्रारंभ न हो पाने के पीछे निम्नलिखित आंदोलन की रणनीतियां काम कर रही थीं -

1. “कोईल-कारो आंदोलन का एकीकरण, 2. आर्थिक पुनर्वास के बदले सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पुनर्वास को एजेंडा में सबसे ऊपर रखना। 3. स्थानीय एवं सामूहिक नेतृत्व। 4. धाराबद्ध अहिंसक आंदोलन (रैली, धरना, सत्याग्रह इत्यादि), 5. सी.आर.पी.एफ. का जीना हराम करना। 6. गांवों में हड़िया-दारू बनाने एवं बिक्री पर पाबंदी। 7. आंदोलन में वार्ता के समय पारंपरिक तर्क को रखना। 8. आंदोलन में महिलाओं को आगे करना। 9. क्षेत्र में जनता कर्फ्यू। 10. परियोजना स्थल की ओर जाने वाले रास्ते को सील करना। 11. सील किये गये क्षेत्र के अंदर, बाहर आने वाले लोगों के साथ मुंडारी भाषा में बात करना। 12. मीडिया का उपयोग एवं विरोध। 13. गांवों में बड़े पैमाने पर दीवाल लेखन। 14. एक बैनर तले अलग-अलग जगहों पर एक साथ आंदोलन। 15. सड़क पर सामूहिक खेती करना। 16. क्षेत्र के प्रोपागैंडा से दूसरे लोगों को भयभीत करना। 17. सरकार को 2 (दो) गांवों के पुनर्वास करने की चुनौती देना। 18. काम रोको अभियान चलाना।”²

उक्त रणनीतियाँ व्यापक, जटिल और मजबूत हैं जिन्हें पूरा कर पाना सरकार के लिए आसान नहीं है, इसलिए निर्माण कार्य रुका हुआ है।

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 18

² वही, पृ.सं. 17

3.8.2 नेतरहाट पायलट प्रोजेक्ट फील्ड फायरिंग रेंज

इस परियोजना में सैनिकों के अभ्यास के लिए सैनिक छावनी का निर्माण करना था, इसके लिए 1471 वर्ग किलोमीटर जमीन की आवश्यकता थी। इससे उस क्षेत्र के 245 गांवों के 2,62,853 लोगों के विस्थापित होने की संभावना थी। सैनिक आवश्यकतानुरूप नेतरहाट जाकर गांव वालों को बिना पूर्व सूचित किये अभ्यास शुरू कर देते थे, जिससे उनको कई तरह के जान-माल का नुकसान हुआ। यही नहीं कई महिलाओं के साथ सैनिकों ने बलात्कार किये। इसके विरुद्ध में जनांदोलन होना स्वाभाविक था। जिसके संदर्भ में जेरोम जेराल्ड कुजूर अपने लेख में एक जगह लिखते हैं “नेतरहाट जनांदोलन समकालीन भारतीय समाज एवं देश में चल रहे विस्थापन विरोधी आंदोलन की वह चेतना है जो जनता की शक्ति और सामूहिक नेतृत्व से सर्वोपरि है। इस आंदोलन ने झारखंड के इतिहास-बोध को नई गरिमा प्रदान की है। इसने सामूहिक नेतृत्व, स्त्री-पुरुष सहभाग और सामुदायिक चेतना को आधार बनाकर जनता के मनोबल को सशक्त किया है, जिससे दूसरे जनांदोलन भी जाग उठे। इस जनांदोलन ने न केवल अन्य जनांदोलनों को प्रेरित किया बल्कि झारखंडी जनता की चिंतन धारा को सामने रखा है। ... नेतरहाट ने स्वायत्तता और स्वशासन की आदिवासी विचारधारा को स्थापित किया है।”¹

उक्त लेख से स्पष्ट है कि आदिवासी अपनी पारंपरिक विरासत (जल, जंगल, जमीन) पर सरकार के अनावश्यक हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं करने वाले हैं। ‘जान देंगे, जमीन नहीं देंगे’ का नारा इनके सामूहिक संघर्ष एवं सामूहिक चेतना का परिचायक है।

नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज परियोजना का कार्य लम्बित है। इसके पीछे निम्नांकित आंदोलन की रणनीति कारगर सिद्ध हुई है-

1. “पारंपरिक केन्द्रीय जन संघर्ष समिति के कार्यक्रम के तहत प्रखंड, जिला, प्रमंडल, राज्य एवं देश के स्तर पर प्रदर्शन, रैली एवं धरना का आयोजन।
2. उपायुक्त, राज्य एवं केन्द्र सरकार एवं राष्ट्रपति को स्मार-पत्र देकर पायलट प्रोजेक्ट नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज की योजना को रद्द करने की मांग।
3. जरूरत के मुताबिक फायरिंग अभ्यास के लिए सैनिकों की आवाजाही

¹ झारखंड इन्साइक्लोपीडिया, (खंड-3), संपा. सुधीर पाल, पृ.सं. 226

की सूचना पर धरना, सत्याग्रह स्थान टुटुवापानी जोकी पोखर में प्रदर्शन का आह्वान करना और सैनिकों का वापस जाने पर मजबूर करना। 4. जन जागृति को बरकरार रखने के लिए परिवार के स्तर पर प्रत्येक शनिवार को घर के दरवाजे पर हरा पत्ता खोंसना। 5. ग्राम स्तर पर हर शाम एक विशेष ताल में नगाड़ा बजाना, 6. प्रत्येक रविवार शाम को मशाल जुलूस नगाड़े की ताल के ..., 7. हर स्तर पर मासिक बैठक करना। 8. प्रत्येक परिवार से सहयोग राशि जमा करना। 9. छात्र संगठनों की संपूर्ण सहभागिता। 10. केन्द्रीय जन संघर्ष समिति को संगठनों का समर्थन। 11. धार्मिक संगठनों की सहभागिता। 12. सत्याग्रह स्थल पर अनिश्चित कालीन सत्याग्रह, जिसमें अपने ..., 13. सरकार एवं सैन्याधिकारियों के साथ लगातार वार्ता। 14. आंदोलन में सत्य एवं अहिंसा का प्रयोग। 15. लोगों को जमा करने के लिए विशेष नगाड़े का उपयोग। 16. दिवाल लेखन, पर्चा, पोस्टर एवं फिल्म का निर्माण। 17. मीडिया का भरपूर उपयोग। 18. क्षेत्रीय स्तर पर कई संगठनों का निर्माण। 19. प्रत्येक वर्ष 22 एवं 23 मार्च को सत्याग्रह दिवस मनाना। 20. सेना द्वारा चांदमारी के कारण हुए क्षति का सर्वेक्षण।”¹

जनांदोलन की निरंतरता को कायम रखने के लिए पारंपरिक आधार एवं आधुनिक तकनीकियों का भरपूर इस्तेमाल किया गया। अद्यतन यह परियोजना रूकी हुई है।

3.8.3 ओरंगा जलाशय परियोजना

इस परियोजना में 1260.88 करोड़ की लागत से एक बांध निर्माण की योजना थी। जिसमें 55 गाँवों के 15,000 लोगों के विस्थापित होने की संभावना थी। जनांदोलन शुरू होने के बावजूद 15 अगस्त 1988 ई. को इस परियोजना का उद्घाटन हो गया है। आंदोलन को प्रभावी एवं कारगर बनाने के उद्देश्य से सामाजिक कार्यकर्ता बाबा आम्टे और सुन्दर लाल बहुगुणा को आमंत्रित किया गया है। इस परियोजना के विरोध में अनेक जगह प्रदर्शन भी हुए हैं। संघर्ष समिति अपनी मांग की पूर्ति के लिए डाल्टेनगंज-राँची मार्ग जाम कर दिया है। आंदोलन की सफलता के लिए बनायी गयी रणनीतियाँ -

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 32

1. परियोजना संबंधी निविदा का विरोध। 2. सिंचाई विभाग के पहुंच पथ पर जनता नाका स्थापित करना। 3. परियोजना पदाधिकारियों से समय-समय पर वार्ता। 4. चिह्नित क्षेत्र के गाँवों में डैम और नहर बनाने से संबंधित सभी तरह के कार्यों को रोकना। 5. गाँवों में बड़े पैमाने पर दिवाल, लेखन, पर्चा वितरण एवं प्रचार प्रसार करना। 6. सांस्कृतिक दल द्वारा गीत एवं नुक्कड़ नाटक के माध्यम से जागरूकता फैलाना। 7. परियोजना से संबंधित दस्तावेज इकट्ठा करना। 8. रैली, धरना एवं विरोध प्रदर्शन का आयोजन। 9. आंदोलनकारियों का देश के विभिन्न क्षेत्रों में चल रहे विस्थापन विरोधी आंदोलनों के क्षेत्र में भ्रमण।”¹

आंदोलन का प्रारंभिक उद्देश्य बांध निर्माण परियोजना का विरोध करना नहीं था, बल्कि तुम्बागड़ा सिंचाई विभाग द्वारा बनाये जा रहे कॉलेनी से विस्थापित लोगों के पुनर्वास की मांग करना था किन्तु सरकार द्वारा छले जाने की वजह से आंदोलन की पूरी दिशा ही बदल गई और जनांदोलन बांध विरोधी हो गया, जिससे बांध निर्माण कार्य को पूरी तरह रोकना पड़ा।

3.8.4 चिरोकुकुद बॉक्साइट माईंस

इस परियोजना में बॉक्साइट का खनन करना था और इस बॉक्साइट क्षेत्र में नगेसिया आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं। खनन कार्य के लिए 1175 एकड़ जमीन की आवश्यकता थी। जिसमें 22 गाँवों के 6000 नगेसिया जनजातियों के विस्थापित होने की संभावना थी। विस्थापित होने वाले समुदाय खनन कार्य का डटकर विरोध करने लगे। जनांदोलन को गति प्रदान करने में ईसाई मिशनरियों का अप्रत्यक्ष योगदान रहा, जिससे ईसाई मिशनरियों को माफियाओं का शिकार होना पड़ा।

खनन कार्य को रोकने के लिए निर्मित आंदोलन की रणनीति इस प्रकार है-

1. “परियोजना संबंधी दस्तावेज एकत्र करना। 2. कंपनी की गलत गतिविधियों का पर्दाफाश। 3. सर्वे कार्य पर रोक एवं कंपनी की गाड़ी पर हमला। 4. कंपनी को जमीन बेचने वाले ग्रामीणों पर कार्रवाई। 5. बाहर के मजदूरों पर रोक एवं कार्रवाई। 6. संबंधित पदाधिकारियों से लगातार वार्ता एवं ज्ञापन। 7. बेमियादी धरना। 8. बेमियादी भूख हड़ताल। 9. आंदोलन से अन्य संगठनों एवं

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 46

राजनीतिक दलों को जोड़ना। 10. मीडिया का भरपूर उपयोग। 11. आंदोलन में स्थानीय नेतृत्व। 12. आंदोलन में अहिंसा एवं हिंसा दोनों का प्रयोग।”¹

महुआडांड में विरोध स्वरूप प्रदर्शन और विशाल आम सभा का आयोजन किया गया। आदिवासी, गैर-आदिवासी की खाई को पाटने का हरसंभव प्रयास किया गया। वस्तु स्थिति को देखकर आंदोलन को हिंसक रूप भी अपनाया गया। अंततः खनन कार्य को रोक देना पड़ा।

3.8.5 उत्तरी कोयल जलाशय परियोजना

इस परियोजना के अंतर्गत 439 करोड़ की लागत से बांध निर्माण की योजना थी। इसके लिए 38,508.21 एकड़ जमीन की आवश्यकता थी और इसमें 19 गांव के 6013 लोगों के विस्थापित होने का अनुमान था। पलामू क्षेत्र सूखाग्रस्त होने के लिए बदनाम है इसलिए समस्या से निजात दिलाने के लिए कुटकू नामक स्थान पर बांध निर्माण करने की वजह से कुटकू बांध नाम पड़ा। जनांदोलन का ठोस कारण यह रहा कि बांध का सिर्फ 5 प्रतिशत पानी पलामू को देकर बाकी पानी गया और औरंगाबाद ले जाने की योजना थी। इसलिए कुटकू बांध का आंदोलन मुख्य रूप से पुनर्वास का आंदोलन था।

आंदोलन की रणनीति-

1. डैम के निर्माण कार्य पर रोक लगाना।
2. पुनर्वास की हकीकत से विस्थापितों को रू-ब-रू कराना।
3. सरकार के साथ समय-समय पर वार्तालाप।
4. पुनर्वास के साथ जमीन के बदले जमीन की मांग।
5. बुलडोजर के सामने लेट जाना।
6. जेल भरो अभियान।
7. औपनिवेशिक सिंचाई नीति का विरोध।
8. साहूकारों द्वारा चलाये जा रहे फर्जी संगठन का विरोध।
9. क्षेत्र में शराब बंदी करना।
10. नगद भुगतान के बदले चेक द्वारा भुगतान की मांग।
11. धरना, रैली एवं प्रदर्शन का आयोजन।
12. मामले में कानूनी हस्तक्षेप करना।
13. पर्चा, दिवाल लेखन, फिल्म निर्माण इत्यादि।
14. मीडिया का बृहत पैमाने पर उपयोग।
15. आंदोलन में छात्र संगठन, स्वयं सेवी संगठन एवं राजनीतिक दलों की सहभागिता।²

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 55-56

² वही, पृ.सं. 69

उक्त रणनीति कुटकू बांध निर्माण कार्य को कारगर ढंग से बंद करने के लिए उठाया गया था। यदि पलामू के हित को ध्यान में रखकर यह बांध निर्माण होता तो इतना व्यापक जनांदोलन के बदले कुछ सकारात्मक परिणाम आने की गुंजाइश बनती थी।

3.8.6 काठीकुंड थर्मल पावर प्रोजेक्ट

इस परियोजना से विद्युत उत्पन्न करने की योजना थी, जिसमें 4000 करोड़ की लागत से 1000 मेगावाट बिजली उत्पन्न करने की संभावना थी। इसके लिए लगभग 1000 एकड़ जमीन की आवश्यकता थी। इस विद्युत परियोजना से 6 गांवों के लोगों के विस्थापित होने की संभावना थी। इसके अलावा कोल ब्लॉक एवं बांध निर्माण के क्रम में विस्थापन अवश्यभावी है। इसके आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस परियोजना के लिए झारखंड सरकार और कलकत्ता की एक निजी कंपनी कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाय कॉर्पोरेशन लिमिटेड (सी.ई.एस.सी.) के बीच समझौता-पत्र (एम.ओ.यू.) पर हस्ताक्षर हुए। सी.एस.ई.सी. कंपनी वाले ग्राम सभा को सूचित किये बगैर, दलालों और नेताओं के माध्यम से यह कार्य प्रारंभ करना चाहते थे, जो सरासर मानवाधिकारों का उल्लंघन था। इसके विरोध में विभिन्न क्षेत्रीय और राष्ट्रीय जनसंगठन एक मंच पर उपस्थित होते हैं और भावी कार्यक्रम के लिए तमाम दस्तावेजों के विश्लेषण के बाद अपना जाँच प्रतिवेदन आम जनता के समक्ष रखते हैं। परियोजना को विफल करने के लिए ग्रामीणों के आंदोलन की रणनीतियाँ बेहद सहायक सिद्ध हुईं-

1. “पारंपरिक संगठनों के अगुओं के नेतृत्व में आंदोलन।
2. पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था का उपयोग।
3. पेशा कानून 1996, पांचवीं अनुसूची एवं संताल परगना काश्तकारी कानून 1949 का उपयोग।
4. लोकतांत्रिक तरीकों का इस्तेमाल (धरना, प्रदर्शन, विरोध मार्च, रैली, ज्ञापन सौपना)।
5. बैरिकेड लगाकर पुलिस, प्रशासनिक अधिकारी एवं कंपनी के लोगों का क्षेत्र में प्रवेश वर्जित।
6. विभिन्न गाँवों की यात्रा कर जागरूकता फैलाना।
7. पारंपरिक हथियारों के

साथ प्रदर्शन। 8. सरकार एवं कंपनी दोनों के खिलाफ प्रदर्शन। 9. वैकल्पिक मीडिया का उपयोग। 10. जनसंसद का आयोजन एवं महामहिम को स्मार पत्र।”¹

ध्यातव्य है कि यह ‘दिशोम गुरू’ शिबू सोरेन का संसदीय चुनाव क्षेत्र है। यही नहीं उस समय वे झारखंड के तत्कालीन मुख्यमंत्री भी थे इसलिए निःसंदेह इस परियोजना के साथ उनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संबंध अवश्य बनता है। परिस्थितियाँ जैसी भी रही हों लेकिन जनांदोलन से परियोजना का कार्य बंद हो गया है।

अब तक छः वैसी परियोजनाओं का अध्ययन किया जा चुका है जो जनांदोलन की प्रबल रणनीतियों की वजह से परियोजनाओं का कार्य रूका हुआ है और चार परियोजनाएं बाकी हैं जिनका संक्षिप्त विवरणात्मक परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

3.8.7 इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट

इस परियोजना में बृहत स्टील प्लांट स्थापित करने की योजना थी। इसमें खूंटी जिला के तीन प्रखंड तोरपा, कर्मा और रनिया एवं गुमला जिला के दो प्रखंड कामडारा और बसिया के कुल 12 गांवों के 12,000 लोगों के विस्थापित होने का अनुमान था। इससे इन क्षेत्रों में अलग-अलग रैली, धरना-प्रदर्शन आंदोलन होने लगे। ये सब विरोध करने के लोकतांत्रिक तरीके थे। अन्य आंदोलनों की भाँति, इसके सफलता के लिए भी सोलह रणनीतियाँ तैयार की गईं।

3.8.8 पोटका इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट

पोटका में भी उक्त किस्म का स्टील प्लांट स्थापित करने की योजना थी। इसमें 10,500 करोड़ की लागत से 3 मिलियन टन स्टील उत्पादन का लक्ष्य रखा गया था। इसके (परियोजना) विरोध में विभिन्न स्तरों पर अनेक आंदोलन हुए। यही नहीं विरोध को सफल और कारगर बनाने के लिए आंदोलन की रणनीति इस प्रकार है-

1. “जनता कर्फ्यू का आयोजन। 2. कई जगहों पर बैरिकेड लगाकर कंपनी को घुसने से रोकना। 3.

सूचना अधिकार अधिनियम 2005 का इस्तेमाल। 4. मीडिया का पूर्ण उपयोग। 5. कई

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 80

जनसंगठनों का निर्माण एवं मोर्चा बंदी। 6. सर्वेयरो पर लगातार नजर रखना एवं कानूनी सम्मत कार्रवाई। 7. उपायुक्त एवं राज्यपाल के समक्ष नंग-धड़ंग प्रदर्शन। 8. जन-सुनवाई का व्यापक विरोध। 9. पांचवीं अनुसूची के प्रावधान, पेसा कानून एवं सी.एन.टी. एक्ट लागू करने की मांग। 10. पदयात्रा का आयोजन।”¹

3.8.9 नगड़ी आंदोलन

इस परियोजना के अंतर्गत तीन उच्च शिक्षण संस्थान निर्मित करने की योजना है जिसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “झारखंड सरकार राज्य की राजधानी राँची से सटे कांके थानान्तर्गत नगड़ी मौजा में शिक्षण संस्थान खोलने के लिए आदिवासी किसानों की 227 एकड़ कृषि-भूमि को गैर-कानूनी तरीके से बंदूक की नोक पर कब्जा करने की पूरी कोशिश में लगी है। इस जमीन को सरकार तीन शिक्षण संस्थानों को मुहैया करना चाहती है, जिसमें भारतीय प्रबंधन संस्थान (आई.आई.एम) 76.74 एकड़, भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.) 73.79 एकड़, विधि विश्वविद्यालय 63.76 एकड़ एवं रिंग रोड के लिए 13.10 एकड़ जमीन सम्मिलित है। चूंकि इसमें लॉ यूनिवर्सिटी का मामला भी है इसलिए झारखंड उच्च न्यायालय पक्षपात करते हुए सरकार के पक्ष में लगातार फैसला दे रहा है।”²

उच्च न्यायालय भी आदिवासियों का साथ नहीं दिया, नगड़ी निवासियों के आजीविका का एकमात्र पेशा खेती है। ऐसे में इनके पास आंदोलन के सिवाय कोई दूसरा विकल्प ही नहीं रह गया था। पुलिस-प्रशासन के विरोध करने के बावजूद नगड़ी वासी पूर्ववत अपने खेतों में फसल लगाते रहे और उसकी कटनी भी नियमित करते रहे साथ-साथ में उसके विरोध में धरना, प्रदर्शन, रैली, पोस्टर चिपकाने का काम जारी रहा। इस प्रकार आंदोलन की सफलता के लिए बीस रणनीतियाँ बनायी गयी जिससे परियोजना का काम रुका हुआ है।

¹ झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, पृ.सं. 108

² वही, पृ.सं. 119

3.8.10 पचुवाड़ा कोयला परियोजना

इस परियोजना में प्रतिदिन 25 हजार टन कोयला उत्पादन करने का लक्ष्य रखा गया था। इसके लिए 1127.35 एकड़ जमीन की आवश्यकता थी, जिसमें 9 गांवों के 5000 लोगों के विस्थापित होने की संभावना थी, संख्या इससे अधिक भी हो सकती है क्योंकि यह आंकड़ा अनुमान के आधार पर निकाला गया है। इस आंदोलन की सफलता या परियोजना के खनन कार्य बंद होने के पीछे आंदोलन की बीस ठोस रणनीतियाँ काम कर रही हैं।

अतः उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि दस परियोजनाओं के कार्य बंद होने या योजना के लम्बित रहने के पीछे झारखंड के आदिवासियों और सदानों के बीच वर्षों से चला आ रहा पारस्परिक सौहार्द और एकजुट होकर संघर्ष की भावना, मुख्य भूमिका निभा रही है। इन दस परियोजनाओं के लंबित होने से उसके कुछ लाभ हैं तो कुछ नुकसान भी। यह एक अलग विचारणीय-समाजशास्त्रीय पहलू है।

चतुर्थ अध्याय

झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन-संघर्ष

4.1 आर्थिक जीवन-संघर्ष

संग्रह की प्रवृत्ति न होने की वजह से आदिवासी समुदाय स्थिर और स्थायी नहीं हो सके जिसका उदाहरण देश के किसी भी क्षेत्र में आसानी से देखा जा सकता है। आदिवासी जीवन-दर्शन में कल की चिंता न होने के परिणामस्वरूप आर्थिक संघर्ष दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। संघर्ष के स्वरूप पहले भिन्न थे आज सत्ता, सत्ता की नीति आदिवासी हितैषी कम, विरोधी ज्यादा प्रतीत होती है। जिस समुदाय का आर्थिक पक्ष कमजोर होगा उस समुदाय के अन्य पहलू उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते हैं। आर्थिक संघर्ष आदिवासियों की प्राथमिक एवं मूलभूत समस्या है जिसके संदर्भ में लेखक एक जगह लिखते हैं -

“एतवा का घर छोटा ही था। संभवतः खेती कम थी। घर में चावल भी नहीं था, ऐसा मुझे लगा क्योंकि देर से लौटने पर चावल की व्यवस्था इधर-उधर से एतवा ने ही की। तब तक बच्चे थाली में महुए का लट्टा खा रहे थे। वे लट्टा खाकर ही सो गये। खाना बहुत देर से बना। धान की रोपनी के बाद कुछ मजबूत घरों को छोड़कर धनकटनी तक यही हालत।”¹ कहना न होगा उपर्युक्त पंक्तियाँ आदिवासी समुदाय की आर्थिक स्थिति को बयां करती हैं।

कृषि भूमि पर्याप्त न होने और बंजर होने तथा सिंचाई व्यवस्था की कमी के कारण आदिवासी अपना जीवन-यापन मजदूरी करके करते हैं। जिसके संदर्भ में लेखक पलामू के आदिवासियों के बारे में लिखते हैं- “कुछ लोग बेचू तिवारी की पत्थर तोड़ने वाली क्रशर में लगे हैं। कुछ आसपास के गाँवों के सादानों (गैर-आदिवासी) के खेतों में कमाने जाते हैं। औरतें घर का काम-काज निपटाने के बाद जुते पड़े

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 59

खेतों में लकड़ी के हथौड़ों से ढेले फोड़ती हैं। सदानों के खेतों में रोपनी-कटनी करती हैं। फसल कटने और बोझ उठ चुकने के बाद खाली खेतों में टूटी-गिरी अनाज की बालियाँ बीनती हैं।¹

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. उमेश कुमार वर्मा ने झारखंड के आदिवासियों को आर्थिक दृष्टि से चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है-

1. “शिकारी तथा भोजन-संग्रहकर्ता,
2. अस्थायी कृषि
3. स्थायी कृषक
4. दस्तकारी

1. शिकारी तथा भोजन-संग्रहकर्ता

बिरहोर तथा कोरवा जनजाति के कुछ सदस्य आज भी अपनी आजीविका के लिए शिकार तथा खाद्य संग्रह के लिए वनों पर निर्भर करते हैं।

2. अस्थायी कृषि

पहाड़ी खड़िया, सौरिया पहाड़िया तथा माल पहाड़िया जनजातियाँ पहाड़ियों की चोटियों तथा ढलानों पर जंगलों को काटकर तथा झाड़ियों को जलाकर झूम कृषि (स्थानांतरित कृषि) किया करती हैं। पूर्व में असुर तथा बिरजिया जनजाति के सदस्य भी झूम कृषि किया करते थे।

3. स्थायी कृषक

झारखंड की प्रमुख जनजातियाँ जैसे, उराँव, मुंडा, हो, खड़िया, भूमिज चैरो, बेदिया, किसान इत्यादि मुख्य रूप से स्थायी गाँवों में रहकर स्थायी कृषि किया करते हैं। ये सभी जनजातियाँ मुख्य रूप से हल-बैल की सहायता से खेती किया करते हैं। इन प्रमुख जनजातियों के कुछ सदस्य आजकल ट्रैक्टर, डीजल पम्प, विद्युत पम्प तथा अन्य वैज्ञानिक कृषि उपकरणों का भी प्रयोग करने लगे हैं।

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 47

4. दस्तकार समुदाय

झारखंड की करमाली, लोहरा, महली तथा चीक-बड़ाईक अनुसूचित जनजातियाँ दस्तकारी पर आधारित अर्थव्यवस्था से जुड़ी रही हैं। महली जनजाति का परम्परागत व्यवसाय बांस की टोकरी बनाना, चिक बड़ाईक का परम्परागत व्यवसाय कपड़ा बुनना तथा करमाली तथा लोहरा जनजाति का मुख्य परम्परागत पेशा लौह-कृषि उपकरण तथा अन्य वस्तुएं बनाना रहा है।

झारखंड की जनजातियाँ मधुमक्खी पालन, लाह एवं तसर उत्पादन, पशुपालन (गाय, बैल, भैंसा, बकरी, भेड़, सुअर, मुर्गी, बत्तख पालन इत्यादि), मछली पालन इत्यादि से अनुपूरक रूप से जुड़ी रही हैं।¹

झारखंड के आदिवासियों के जीवन निर्वाह का जरिया अलग-अलग है। कुछ जनजातियाँ अभी भी आजीविका के लिए पूरी तरह वनों पर आश्रित हैं, जिनकी चर्चा डॉ. उमेश कुमार वर्मा ने ऊपर की है।

आदिवासियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय के लिए व्यवस्थित बाजार का सख्त अभाव है। जिसके कारण उन्हें उत्पादित वस्तु का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। इसकी चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी।

समाजशास्त्री डॉ. उमेश कुमार वर्मा द्वारा विभाजित आर्थिक दृष्टि से चार श्रेणियों में, दूसरी श्रेणी यानी अस्थायी कृषि अब झारखंड में नहीं के बराबर होती है। अस्थायी कृषि या झूम खेती उत्तर-पूर्व भारत के कुछ इलाकों में कहीं-कहीं की जाती है।

4.1.1 अर्द्ध-कृषि

आदिवासी समुदाय महज कृषि केन्द्रित एवं उसमें आधारित समुदाय नहीं है। स्थान विशेष, भौगोलिक बनावट एवं परिस्थिति के लिहाज से इनके जीविकोपार्जन के क्षेत्र में प्रायः भिन्नता दिखाई देती है। चर्चित युवा कवि अनुज लुगुन के शब्दों में “आदिवासी समाज विशुद्ध कृषक समाज नहीं है। उसकी कृषि अर्द्ध-कृषि है। वह आज भी कृषि के अलावा अपनी आजीविका के लिए नदी, पहाड़ और जंगल पर आधारित है उनकी समाज व्यवस्था और सांस्कृतिक विरासत तो उसके बिना अब तक संभव ही नहीं हुई है।”²

¹ जनजातीय समाजशास्त्र - डॉ. उमेश कुमार वर्मा, पृ.सं. 228-229

² अरावली उद्घोष - संपा. डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 99, अप्रैल 2013, पृ.सं. 44

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत अर्द्ध-कृषि, लघु पशुपालन और वनोत्पाद प्रमुख हैं। किन्तु वन नीतियों में आये उत्तरोत्तर परिवर्तन से उनका आर्थिक-संघर्ष और अधिक जटिल हो गया है, क्योंकि वनोपज उनकी अर्थव्यवस्था का प्रमुख दूसरा आधार स्तंभ रहा है। परिवर्तित वन अधिनियम से किस कदर आदिवासी समाज प्रभावित हुआ है, इसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं-

“लाह, गोंद, चिरौंजी, गोलोचन, वंशलोचन, शहद, लकड़ियाँ ... पहले जीवन के लिए जरूरी सारे सरंजाम जुट जाते थे जंगलों से। वनोपज बाजार में बेचकर चार पैसे नकद भी हाथ में होते थे। जब से जंगल पर गोरिमिंट का रोका-छेंका लगा है, सब चीजें सपना हो गयी हैं। नमक-भात चलाने के लिए आदिवासियों को अन्य दूसरे कई तरह के काम करने पड़ते हैं अब।”¹

कहना नहीं होगा जंगल की चीजों (वनोत्पाद) को आदिवासी अब आसानी से प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इसके लिए इन्हें फॉरेस्ट गार्ड को तरह-तरह से खुशामद करनी होती है। लकड़ी बेचने के लिए भी आदिवासियों को कितनी मशक्कत करनी पड़ती है इसके संदर्भ में मनमोहन पाठक एक जगह लिखते हैं- “उस गाँव में उनकी लकड़ी नहीं बिकी। आखिर सुरूजपुरवा आकर बेचा तो अच्छी ही कीमत मिली।”² उक्त पंक्तियों से उनके आर्थिक-संघर्ष को आसानी से समझा जा सकता है।

4.1.2 आदिवासी और वन अधिनियम

अनवरत परिवर्तित वन अधिनियम का शिकार सबसे अधिक कोई समुदाय हुआ है तो वह आदिवासी है। आदिवासियों का वन से न केवल आर्थिक संबंध रहा, बल्कि धार्मिक और सांस्कृतिक लगाव भी सदियों से रहा है। संजय बसु मल्लिक झारखंड की नयी वन नीति के कुछ अस्पष्ट पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-

“नयी नीति संयुक्त वन प्रबंधन का ही एक अन्य संस्करण है। बिहार में सन् 1990 में सरकार ने संयुक्त वन प्रबंधन को अपनाया था। प्रत्येक वर्ष औसतन 17 संयुक्त वन प्रबंधन समुदाय बने थे, जो आगे चलकर लड़खड़ा गये। विभाग द्वारा लाभ का 33 प्रतिशत हिस्सा लोगों को देने का वादा किया गया

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 47

² गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 71

था। वह बहुत ही कम था। यही वजह थी कि नयी नीति में लाभ का 90 प्रतिशत तक देने का वायदा किया गया। इसके बाद के इस प्रस्ताव को स्वीकार करने वाला कोई नहीं था। नयी नीति में भी लोगों ने फरेब पाया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि कुल लाभ को किस प्रकार गिना जायेगा।¹

वन अधिकारी और फारेस्ट गार्ड की मिलीभगत से माफिया और ठेकेदारों द्वारा सबसे अधिक क्षति वन को पहुँचायी जा रही है और आदिवासी को दोषी ठहराया जा रहा है। इसके संदर्भ में डॉ. पीटर पौल एक्का उपन्यास में एक जगह लिखते हैं- “तब पाँच कोस दूर उस ओर का जंगल ठेके में उठ गया था। शहर से फारेस्ट गार्ड अपने आदमियों को लेकर आया था जल्द ही उनका एक छोटा-सा घर बन गया था। कामचलाऊ सड़क बना दी गयी थी। महीने भर बाद पेड़ काटना शुरू हो गया था आदिवासी दतवन, पत्तियाँ तक जंगल से लेने से मना कर दिये गये थे।”²

ऐसा प्रतीत होता है नियम-कानून सिर्फ कमजोर वर्ग और आदिवासियों के लिए बनाये जाते हैं। आगे लेखक पुनः लूट की संस्कृति को रेखांकित करते हुए लिखता है- “... फारेस्ट गार्ड का राज चल निकला था दो-तीन टूके लकड़ी ढोने का काम करतीं। देर रात गये अपने आदमियों के साथ फारेस्ट गार्ड जलसा मनाता। लोग खाते-पीते, आराम फरमाते थे। ताश की बाजियाँ बिछी रहतीं।”³

राष्ट्रीय संपत्ति वन की अवैध कमाई को कर्मचारी अय्याशी में उड़ाते थे और आदिवासी को जंगल की मामूली सी मामूली चीजों के लिए रकम वसूलते, लड़की या महिला मिलने पर उसको अपनी हवस का शिकार बनाते थे। जिसके बारे में राकेश कुमार सिंह लिखते हैं- “बाघामुण्डी की लड़कियाँ जंगल के भीतर तक धँस पड़ती थी। करील, गैता, बेल और करौंदे बीनती थीं। बड़े-बड़े बाँस के खाँचों में सूखे पत्ते बटोर लाती थी। कोई उन्हें दिक् नहीं करता था। यह और बात थी कि कोई-कोई वनरक्षक बदमाश भी होता था। केन्दू या भेलवा के पककर चू रहे फलों को भी चुनते देख लेता था तो स्त्रियों-किशोरियों से कुछ न कुछ वसूले करके ही दम लेता था। यह कुछ ‘कुछ भी’ हो सकता था।”⁴

¹ झारखंड अस्मिता के आयाम - संपा. हरिवंश, फैसल अनुराग, पृ.सं. 104-105

² पलाश के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 32

³ वही, पृ.सं. 32

⁴ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 143

जंगल-जमीन से आदिवासी समाज का अंतर्संबंध, उनके संघर्ष को रेखांकित करते हुए मेघनाथ एक जगह लिखते हैं - “झारखंडी आदिवासी समाज के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अस्तित्व का मूल आधार जंगल-जमीन ही है। पर्यावरण एवं आदिवासी जीवन, जीवन-शैली के ताने-बाने को एक दूसरे से अलग करके न तो आदिवासी समाज के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है, न ही पर्यावरण के अस्तित्व की। पर्यावरण तथा आदिवासी जीवन दर्शन को आदिवासी समाज जितनी गहराई से समझ सकता है, दूसरा समाज इसे नहीं समझ सकता है।”¹ उक्त लेख का अंश आदिवासी समाज में जंगल का महत्व और दोनों (जंगल और आदिवासी समाज) के बीच के अंतर्संबंध को रेखांकित करने का सफल प्रयास है।

तेजी से उजड़ते जंगल आदिवासी अस्तित्व के लिए खतरे की निशानी है। जिसे जंगल बचाओ अभियान से जुड़े संजय बसु मल्लिक रेखांकित करते हैं- “भारतीय जंगल सर्वेक्षण की स्टेट ऑफ फॉरेस्ट रिपोर्ट के अनुसार झारखंड में 22 लाख हेक्टेयर में जंगल था। यह रिपोर्ट 1999 में प्रकाशित हुई थी। 1997 की रिपोर्ट के मुताबिक 26 लाख हेक्टेयर जंगल थे। इसका मतलब यह हुआ कि 4800 हेक्टेयर जंगल खत्म हो गये। इनमें से 1400 हेक्टेयर घने जंगल थे।”²

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि वनों का विनाश अत्यंत तीव्र गति से हो रहा है अगर वनों के हास को न रोका गया तो न केवल आदिवासी समुदाय बल्कि पूरी मानव जाति प्रभावित होगी।

4.2 ऋणग्रस्तता

जमींदार, महाजन, साहूकार आदि आदिवासियों के गैर-संस्थागत ऋण के स्रोत हैं। इसी वर्ग ने आदिवासी के भोलेपन, अशिक्षा, गरीबी और सहज विश्वासी प्रवृत्ति का गलत फायदा उठाया। इन दिक्कों ने आदिवासियों के बीच ऋण को शोषण और लूट के लिए सबसे बड़ा हथियार की भाँति प्रयोग किया, जिसे उपन्यासों के विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से आगे स्पष्ट किया जाएगा। मानवशास्त्रीय अध्ययन इसके दूसरे पहलुओं पर भी प्रकाश डालता है “जनजातीय धार्मिक कर्मकांडों तथा अन्य

¹ झारखंड : अस्मिता के आयाम - संपा. हरिवंश, फैसल अनुराग, पृ.सं. 86

² वही, पृ.सं. 100

समारोहों पर काफी व्यय किया जाता है जो उनकी सीमित आय से संभव नहीं है। जब भी उन्हें इस प्रकार की आवश्यकता पड़ती है वे साहूकारों पर इसकी पूर्ति के लिए निर्भर करते हैं। परन्तु एक बार साहूकार के चंगुल में आ जाने पर उनका इस व्यूह से निकलना असंभव हो जाता है। आज उत्तर-पूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारतीय जनजातियाँ ऋणों के बोझ से दबी हुई हैं।¹

आदिवासियों की लापरवाही, कमजोरी और अज्ञानता के कारण ऋण कई प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न करता है, जिसे उपन्यासों के विभिन्न प्रसंगों के मार्फत देखने का प्रयास किया जाएगा।

4.2.1 साहूकार

“कब का कर्जा, कब का पैसा साब! वह पहाड़ी मेरे करीब आ गया है। ऋण क्या लिया जिनगी बिक गया साब। सौ रुपये लिया था साब, अब तक चुकता नहीं हुआ। अब तीन महीने से अपना जवान लड़का-लड़की साहू जी का काम करता। फिर भी कर्जा नहीं भरता। यह तो जैसे जन्म भर का गुलाम हो गया गुलाम।”² दअसल ऋण लेना तो आदिवासियों का गुनाह है साहूजी की कुटिल दूरदृष्टि उनके श्रम और जमीन पर टिकी रहती है, जिसे अंजाम देने के लिए ऋण माध्यम मात्र है जिसे परवती के शब्दों में समझा जा सकता है “यहाँ तो पाँच-दस की उधारी में खेत-डाँड़ तक बंधक में उठ गया है। जहाँ गरीब आदमी कर्जा लिया, तो जन्म भर का गुलाम हो गया।”³

कर्ज की अनेक समस्याएँ उपन्यास में चित्रित की गयी हैं, जिसके बारे में लेखक आगे लिखते हैं “गाँव के उस किनारे मंगल का घर था। लोग उसे मंगलू काका कहते थे। कोई सात साल हुए, घरवाली के गुजर जाने पर अंतिम क्रिया के लिए बाजार के साहूकार से दो सौ रुपये का कर्जा लिया था। सफेद कागज पर अंगूठे का निशान लगवाया गया था।”⁴

जिसे चुकाते-चुकाते मंगलू काका का खेत तक बंधक हो गया, ऐसा कुटिल, अंतहीन ऋण के संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “अगहन के दिनों जैसे बनता मंगलू दो एक मन बना-बनाया चावल पहुँचा

¹ भारतीय मानव-शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, दीपशिखा बरनवाला, पृ.सं. 260

² पलाश के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 30

³ वही, पृ.सं. 31

⁴ वही, पृ.सं. 31

आता। चावल बेचकर पैसा चुका देने की बात उसके भोले मन में कभी नहीं आया। दो-तीन साल वैसे ही निकल गये खाते में तब भी सौ रुपये का कर्जा बाकी था। तब उस साल बरखा ठीक नहीं हुई थी। फिर तो तकाजे पर तकाजे होते रहे। सफेद कागज पर लगे अंगूठे के ठप्पे का डर मिलता रहता। लाचारी में अपना खेत साहूकार के नाम लिख देना पड़ा। गाँव वाले जानते थे, देखते थे, पर खामोश थे।¹

इससे साफ जाहिर होता है कि आदिवासी अपने आदिवासी भाई का साथ नहीं देते हैं। असंगठित हैं परिणामस्वरूप मंगलू खेत छुड़ाने के लिए परदेश जाता है। जो फिर लौटकर नहीं आता। राकेश कुमार सिंह ऋण के दूसरे रूपों की चर्चा करते हुए लिखते हैं- “साहू तो है ही व्यापारी। उसके सरोकार सीधे पूँजी और लाभ से जुड़ते हैं भूखे आदिवासियों की हारी-बीमारी, उत्सव-अनुष्ठानों में धेला उधार देता है और ब्याज में अशर्कियाँ वसूल करता रहता है। मूल अपनी जगह बना रहे, इसी में व्यापारी का भला ...।”²

4.2.2 ठेकेदार

पीटर पॉल एक्का आदिवासियों के शादी-विवाह में अत्यधिक व्यय से उत्पन्न परिस्थितियों को वर्णन करते हुए लिखते हैं- “केसर को व्याह के लिए मनसुख ठेकेदार से हजार रुपये ऋण लेना पड़ा था। सफेद कागज में अंगूठा लगाकर मनसुख ने हँसते हुए ऋण दे दिया था। ‘शादी-बियाह क्या बार-बार आता है। ऐसे समय काम नी आये तो किया!’”³

दुर्भाग्य से ठीक अगले वर्ष मानसून ने साथ नहीं दिया, वर्षा नहीं हुई - “केसर का मन अनदेखे अंदेशे से सिहर उठा था। थोड़ी बहुत फसल होने लायक थी उसमें भी कीड़े पड़ गये। ऋण अदा करने की मीयाद पूरी हो गयी थी। मनसुख दरोगा के सिपाहियों के साथ आया था। जमीन मनसुख के नाम लिख देना पड़ा। बस रहने का घर और छोटा-सा आँगन रह गया था। अड़हुल जितन भी कुछ नहीं कर पाये थे।”⁴

¹ पलाश के फूल - डॉ. पीटर पॉल एक्का, पृ.सं. 32

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 192

³ मौन घाटी - डॉ. पीटर पॉल एक्का, पृ.सं. 42

⁴ वही, पृ.सं. 42

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि ठेकेदार और पहुंच वाले, थाना-पुलिस का भय दिखाकर आदिवासी की जमीन अपने नाम पर लिखवा लेते हैं।

4.2.3 बनिया

शादी में अत्यधिक व्यय के एक दूसरे प्रसंग दिखाते हुए विनोद कुमार लिखते हैं- “धान तो दूँगा, लेकिन धनकटनी के बाद डेवड़ा वापस लूँगा। मंजूर हो तो ले जाओ।”¹

घर में खाने को दाना एक भी नहीं था इसलिए “डोमन ने हामी भर दी। बड़े से लाल खाते पर उसका नाम चढ़ गया। उससे अंगूठे का निशान वहीं पर लगवा लिया गया। उसने पाँच मन धान लिये थे और उसे उस वक्त यह जरा-सा भी एहसास नहीं हुआ था कि इस दस मन धान की वजह से उसके खेत-खलिहान लूट जाएंगे।”²

उपर्युक्त तथ्यों से दृष्टिगोचर होता है कि बनिया ऐसे या धान के बदले आदिवासी के खेत को थाना-पुलिस, कोर्ट-कचहरी का धौंस दिखाकर अपने नाम पर लिखवा लेते थे। इतना ही नहीं उधार पैसा लौटाने में विलम्ब होने पर बनिया मनमानी करने लगते हैं- “मेरे पिता बिन्दा मुण्डा ने सोनपुर परगना के बुरजू बनिया से दो काड़ा उधार लिया। पैसा चुकाने में विलम्ब हुआ तो वह बनिया पचास-साठ लठैतों को लेकर हमारे यहाँ पहुँच गया। उसने छह गाय, चार बैल खोल लिए और मेरे पिता बिन्दा और चाचा सिंघराय को अपने साथ पकड़कर ले गया।”³ बनिया कर्ज में पैसे देकर मुनाफा कमाने वाला एक व्यवसायी वर्ग है। इनका चरित्र जमींदार-सामंत सरीखा है, जो अपने कर्ज की वसूली के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते हैं।

4.2.4 जमींदार और बंधुआ मजदूरी

संविधान में कानून बनाकर जमींदारी प्रथा और बंधुआ मजदूरी को समाप्त करके, गैर-कानूनी घोषित किया जा चुका है, किन्तु यथार्थ धरातल पर इसकी वास्तविकता से रू-ब-रू होना अति

¹ समर शेष है- विनोद कुमार, पृ.सं. 9

² वही, पृ.सं. 9-10

³ वही, पृ.सं. 15-16

आवश्यक है। वरिष्ठ पत्रकार गोकुल वसंत अपने एक लेख में लिखते हैं- “1976 ई. में राष्ट्रपति ने अध्यादेश जारी कर बंधुआ मजदूरी प्रथा को समाप्त कर दिया था। बंधुआ मजदूरी उन्मूलन अधिनियम (1976) के तहत बंधुआ मजदूर रखना दंडनीय अपराध है। केन्द्र सरकार के द्वारा सभी राज्य-सरकारों को बंधुआ मजदूरों की पहचान करके उनकी मुक्ति एवं पुनर्वास का काम प्राथमिकता के आधार पर करने तथा बंधुआ रखने वाले मालिकों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करने का निर्देश जारी किया गया है। लेकिन बंधुआ बहुल पलामू जिले में इस कानून का खुला उल्लंघन होता रहा है। करीब पन्द्रह सौ बंधुआ मजदूरों को खानापूरी के तौर पर मुक्त तो कराया गया है, लेकिन बंधुआ रखने वाले एक भी मालिक के खिलाफ कार्रवाई नहीं की गयी है। मुक्त बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास की भी समुचित व्यवस्था नहीं की गयी है।”¹

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि बंधुआ मजदूर रखने वाले जमींदार, सामंत के ऊपर कार्रवाई न करना प्रकारांतर से अपराध को बढ़ावा देने के सदृश्य है। पलामू में बंधुआ मजदूरी के यथार्थ का वर्णन उपन्यास के जागो के शब्दों में हम देख सकते हैं- “मालिक से दू मन गोंदली और 60 रुपया मैं लाइन रहूं। इकर बाद में जे हो गइल कि नीं, सकलो दइलो। दू मन का तीन साल में बारह मन लौटाया। तबो से कटिये नइखे, बाकिए है। और माँग करते, ग्यारह मन तुम और देओ। ... ‘ग्यारह मन अनाज तुम नहीं दिया सो चलो सेवकिया।’ सो चल गइली।”²

जमींदारों से जिन आदिवासियों ने ऋण या कर्ज लिया वे कभी कर्जमुक्त नहीं हो पाये, चाहे इसके एवज में वे अपनी सारी कमाई, श्रम और संपत्ति होम कर दी। ऐसा ऋण की कुटिल चाल जमींदार अपनाते थे और मरते दम तक बंधुआ को खटवाते थे- “उनका सेवाकिया था ... उनका आदमी था ... ले गये ... जान से मार थोड़े ही देंगे? ... काम ही तो लेंगे। बंधा है तो फिर जैसे नचायेंगे, नाचना होगा। आदमी ही तो है वे भी। ... कमजोर बीमार आदमी को मारा-पीटा है तो भगवान सजा देगा ...।”³

¹ झारखंड अस्मिता के आयाम - संपा. हरिवंश, फैसल अनुराग, पृ.सं. 209

² गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 4

³ वही, पृ.सं. 76

आदिवासी आस्थावादी होते हैं जो कठिन परिस्थिति, निराशा और लाचारी के समय भगवान को याद करते हैं। कुछ आदिवासी समुदाय के लोग प्रत्येक वर्ष जमींदार पर खेती करने के लिए निर्भर रहने के आदी हो चुके हैं- “कमाई की उपज खा जाते हैं मुण्डा। अगली बुवाई के समय यदि बढ़ाई पर भी खेती करें तो बीज चाहिए। बैल चाहिए। खाद-पटवन चाहिए। यह सब मिलता है साहू या बेचू तिवारी के सौजन्य से। परन्तु अनाज के बदले वापस अनाज नहीं, पैसा माँगते हैं जमींदार! जब तक पैसा नहीं चुकता तब तक मुण्डा को जमींदार के घर बंधुआ बनिहार बनकर खटना होता है।”¹ यहाँ मुण्डा आदिवासियों का नियतिवादी चित्र खींचा गया है जो सामंती परिवेश और महाजनी शोषण के गर्भ की उपज है।

इतिहास गवाह है कि महाजनों, साहूकारों और जमींदारों की सूदखोरी प्रवृत्ति का बदला लेने, उन्हें सबक सिखाने के लिए संतालों ने हूल (आंदोलन) प्रारंभ किया था न कि अंग्रेजों के विरुद्ध। डब्ल्यू.डब्ल्यू. हण्टर की रिपोर्ट के एक अंश से उस दौर की सूदखोरी को समझा जा सकता है- “कई संतालों के पास ऋण चुकाने के लिए अनाज या जमीन नहीं बची थी। ऐसे लोगों में से किसी संताल को अपने पिता को दफनाने के लिए कुछ शिलिंग की जरूरत पड़ती तो उसे खुद या अपने परिवार के साथ साहूकार-महाजन के यहां बेगारी के लिए तैयार होना पड़ता था, ताकि वह ऋण चुकाया जा सके। चांदी के कुछ सिक्के पिता के अंतिम संस्कार में लगते, कुछ सामूहिक भोज होता और अगले दिन उस दुःखी परिवार को सूदखोरों के घर जाना पड़ता और बेगारी खटनी पड़ती। साहूकार-सूदखोर की मंशा उसके श्रम से ऋण वसूलने की नहीं होती, इसलिए उससे कड़ाई से पेश आ जाता, उसे फुरसत के क्षण भी नहीं दिये जाते थे। कोई ऋणग्रस्त संताल अपने परिवार को विरासत में ऋण ही प्रदान कर जाता, जो थोड़े से शिलिंग होते थे, लेकिन चक्रवृद्धि ब्याज की दर जो 33 प्रतिशत तक होती थी, वह कई पौंड तक में पहुँच जाती थी।”²

संतालों को एकजुट होकर संघर्ष करने की प्रतिरोधी चेतना का बीजवपन करने का श्रेय, महाजनी संस्कृति के सूदखोरी प्रवृत्ति को जाता है। महाजन ऋण देने और ब्याज लेने के लिए अलग-अलग मापदंड

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 191

² संताल हूल आदिवासी प्रतिरोधी संस्कृति - संपा. हरिवंश, फैसल अनुराग, पृ.सं. 303

अपनाते थे जो उनके कुटिल और लूट प्रवृत्ति का द्योतक है- “कुटिल महाजन अनाज का कर्ज भी देते तो कुछ कम भार वाले बाट ‘बेचाराम’ से तौलकर अनाज देते थे ऋण वसूली के समय बाट बदले हुए होते थे। कुछ अधिक भार वाले बटखरे ‘केनाराम’ से अनाज तौला जाता था। तिस पर इस अधिमाप से भी मात्र ऋण का सूद चुकता हो पाता था।”¹ महाजनों का शोषक प्रवृत्ति, अत्यधिक सूदखोरी और दोहरा कुटिल मापदंड से संतुष्ट ना होकर आजीवन आदिवासी को बंधुआ बनाकर रखने की दुष्चक्र चाल चलते थे- “अपनी पूरी फसल ब्याज में चुका देने के बाद आदिवासी महाजन के घर में ‘कमिऔती’ करता था। कमिऔती... महाजन के घर दास का काम करके ऋण चुकाने की छली प्रथा ...।”²

यह घृणित और छली प्रथा अपने चरम पर क्रय-विक्रय तक पहुँच जाती थी “इतने पर भी बस होता तो भी वनवासियों को स्वीकार्य था परन्तु एक महाजन इच्छा होने पर अपने घर ‘कमिऔती’ खटने वाले वनवासी कर्जदार को किसी दूसरे महाजन के हाथों बेच भी देता था। श्रम के साथ-साथ श्रमिक भी आजीवन दास बना हस्तांतरित किया जा सकता था।”³ कर्जदार का एक महाजन से दूसरे महाजन के यहाँ स्थानांतरण वाली घटना अतिशयोक्ति पूर्ण जान पड़ता है इस प्रकार से चीजों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना, आदिवासियों के प्रति लेखक की हीनता बोध का द्योतक है।

4.2.5 संस्थागत ऋण

बैंक या संस्थागत ऋण लेने और चुकाने की प्रक्रिया आदिवासियों के लिए निश्चित तौर पर जटिल एवं लम्बी होती है इसलिए गरीब, अशिक्षित आदिवासी इस ऋण के चंगुल में पड़ना नहीं चाहते हैं। और सहजता से प्राप्त होने वाले ऋण लेना पसंद करते हैं जिसकी चर्चा पूर्व में विस्तार से की जा चुकी है। जमींदार और ठेकेदार बैंक द्वारा जो ऋण प्रखण्ड के योजनाओं से दिया जाता है, उसको किसी आदिवासी के नाम पर उसका अंगूठा लगवा के प्राप्त कर लिया जाता है, जिसकी जानकारी उसे होती भी नहीं है। इस संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “अरे वही खैराचातर वाला सुदर्शन भगत। तीन-चार वर्ष पहले

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 126

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 126

³ वही, पृ.सं. 126

उसने आसपास के गाँव में घूमकर कुआँ बनाने के लिए बैंक से कर्ज मिलने की बात कही थी। कुछ लोगों से एक आवेदन पर ठप्पा भी लिया था। दलपति का कहना है कि हो-न-हो उसने बैंक से सारा पैसा खुद उठा लिया हो और अब मुसीबत उन पर आ गई है जिन्होंने ठप्पा दिया था।¹

हालांकि बैंक में दूसरे व्यक्ति के नाम पर ऋण के पैसे निकालना आसान काम नहीं है, किन्तु भ्रष्ट अधिकारी और ठेकेदार के साझी समझौते से सब संभव होता है। उपन्यास का एक पात्र शिबू जो प्रतिनिधि एवं केन्द्रीय पात्र, वह कहता है- “बैंक तो सीधे कर्ज देता नहीं। ब्लॉक के अफसर के मार्फत ही कर्ज मिलता है, एक काम करो। एक आवेदन लिखते हैं बी.डी.ओ. के नाम। और जिन लोगों को मुकदमे की धमकी मिली है, उन सबको साथ लेकर ब्लॉक ऑफिस चलते हैं। बी.डी.ओ. को सारी बात बताएँगे।”²

जिस व्यक्ति पर लोन का पैसा निकालकर हड़पने की शुरूआती शक था, बात वही सच निकला। इस तरह की घटनाएं ग्रामीण क्षेत्रों में आदिवासियों के साथ अक्सर देखने को मिलता है। ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास का कथा वाचक संजीव आदिवासियों को साहूकार के सूदखोरी कर्ज से बचने के लिए एक संस्थागत कर्ज व्यवस्था का विकल्प पेश करते हुए कहता है- “फायदा है सुगना। ...साहू तुमसे दस रुपया सैकड़ा सूद हर महीने लेता है। को-ऑरपेटिव सोसायटी तुमसे दो रुपया सैकड़ा सूद सालाना लेगी तो फायदा हुआ कि नहीं।”³ इस तरह की व्यवस्था आदिवासी ऋण के लिए उपयुक्त एवं आवश्यक है किन्तु यथार्थ में ऐसी सुविधा बहुत कम है या नहीं के बराबर है।

महाजनों ने ऋण तले दबे एक ऐसे आदिवासी की बहुत अधिक जमीन साम-दाम-दंड-भेद नीति से पहले कब्जा किया, फिर अपने नाम करवा लिया, उपन्यास का एक पात्र के शब्दों में- “अब क्या बताऊँ। कभी उसने उन लोगों से थोड़ा-बहुत पैसा लिया था। वही रकम साल-दर-साल बढ़कर और सूद के साथ जुड़कर इतनी बड़ी रकम बन गई कि उसका चुकाना असंभव हो गया और उन लोगों ने अपने

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 142

² वही, पृ.सं. 142

³ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 196

नाम जमीन की रजिस्ट्री करवा ली।”¹ उपन्यास का दूसरा सबसे बड़ा महाजन धनेसर मण्डल छद्म पुण्य और महाजनी दर्शन की अभिव्यक्ति इस प्रकार देता है- “देखो भाई! धंधा और धरम में मैं कोई रिश्ता नहीं मानता। इह-लोक सुधारने के लिए धंधा करता हूँ और परलोक सुधारने के लिए धरम। दोनों के बिल्कुल अलग-अलग खाते हैं। भूखे हो तो आओ दो-चार शाम मेरे यहाँ खाना खा लो। कुछ दान-दक्षिणा ले जाओ। लेकिन खाते पर ठप्पा लगाकर कर्ज लिया है तो वह चुकाना ही पड़ेगा। उस मामले में मैं कुछ नहीं कर सकता।”²

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयं को महाजन परोपकारी और दयालु सिद्ध करने का ढोंग रचता है जो कि उसके प्रवृत्ति और व्यवसाय के प्रतिकूल है। धनेसर मण्डल, गणेशी के पैसों को देखकर हड़पने के लिए साजिश रचता है और अपने संदूक में गणेशी को पैसे रखने के लिए प्रेरित करता है। ध्यातव्य है कि गणेशी महाजन के संदूक में एक सौ और पचास रुपये का नोट रखता है और जरूरत के वक्त अपना पैसा माँगने पर धनेसर मण्डल जो कहता है वो दिलचस्प है- “देख, ये दूसरे पैसे हैं। तूने सौ और पचास के एक-एक नोट कागज में लपेट कर रखे थे। वे जहाँ के तहाँ रखे हैं। यह पैसे मैं तुझे अलग से तुझे कर्ज पर दे रहा हूँ। दस-दस के पूरे पद्रह नोट। गिन लो और इस बही पर अँगूठे का निशान लगा दो।”³

गणेशी की कमजोरी यह है कि अपना पैसा लेते वक्त यह प्रतिवाद नहीं करता है कि मैंने आपसे उतना ही पैसा लिया, जितना संदूक में जमा किया था, चाहे नोट जो भी लिया हो। महाजन-साहूकार आदिवासियों की विश्वास का गलत फायदा उठाकर और कोर्ट-कचहरी का धौंस दिखाकर उनका मुँह बंद कर देते हैं- “चल भाग यहाँ से। अब कोर्ट में पैसे वसूलूँगा। तूने पैसे चोरी हो जाने के डर से संदूक में खुद रखा था। जबकि मैंने तुझे सूद पर पैसे दिये थे। पूरे साढ़े पाँच सौ रुपये देने हैं तुझे। यह डेढ़ सौ हुए। चार सौ रुपये लाकर दे, वरना जेल जाने के लिए तैयार रहा।”⁴

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 205

² वही, पृ.सं. 305

³ वही, पृ.सं. 289

⁴ वही, पृ.सं. 290

यह कैसी विडम्बना है कि गणेशी अपना ही पैसा लेकर दो गुणा से भी अधिक कर्ज चुकाने के लिए बाध्य किया जाता है। यह धनेसर मण्डल की पूर्व नियोजित साजिश का परिणाम है।

4.2.6 आदिवासी क्षेत्रों में विपणन संबंधी-संघर्ष

आदिवासी कृषि कार्य के अतिरिक्त फुरसत के क्षण खेती उपयोगी उपकरण, दैनिक दिनचर्या में उपयोग होने वाले सामान तैयार करते हैं किन्तु बाजार एवं व्यापार की सुविधा के अभाव में सामानों के विक्रय के लिए संघर्ष करना पड़ता है जिसे रेखांकित करते हुए लेखक लिखते हैं -

“सन्दु के माँ-बाप इस खाली समय का उपयोग खेती बारी में काम आने लायक साज-सामान जैसे- अरन, सिकुबर, झलकरी तथा हल, हेंगा इत्यादि बनाकर गाँव-गाँव जाकर फेरा लगा करते हैं। इस समय इन सबों की माँग भी काफी बढ़ जाती है क्योंकि ज्येष्ठ के बाद आषाढ़ का आगमन होता है, खेतिहर खेती-बारी के लिए अभी से ही साज सामान का जतन जुगाड़ करने लगते हैं। महीने भर की अवधि में सुरजय एवं बेला इन चीजों का खासा जमाव कर रखे हैं। सुरजय के पास अभी पचास सिकुवर दस झलकरी तथा दो भरन बेचने को हैं। बेला के पास चीरू के बने बीस झाड़ू, ताड़ पत्ते की बनी एक चटाई बनकर तैयार हैं।”¹

इन तमाम चीजों के विक्रय के लिए बाजार की समुचित व्यवस्था, उचित मूल्य के साथ अगर सरकार की ओर से होती, तो आदिवासियों को इतना संघर्ष करना नहीं पड़ता और समय का भी बचत होता। आगे लेखक लिखते हैं “आज बृहस्पतिवार का दिन है। आज के दिन किसान साप्ताहिक छुट्टी मनाते हैं वे प्रायः अपने-अपने घरों में ही समय गुजारते हैं। इसलिए सुरजय आज के दिन ही उन चीजों को फेरा लगाने की योजना बना रखता है। वृद्ध पिता को छोड़ सभी अपने सामान लेकर फेरे में निकले हैं। बेला के सिर झाड़ू की गठरी तथा पीठ पर चटाई बंधी है।”² इस तरह की समस्याओं को लेकर प्रसिद्ध समाजशास्त्री उमेश कुमार वर्मा लिखते हैं कि - “यातायात के वस्तुओं के संग्रहण में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामग्रियों को ले जाने में बड़ी कठिनाई होती है। अतः इनकी आर्थिक क्रियाएं एक निश्चित

¹ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 32

² वही, पृ.सं. 32

भौगोलिक क्षेत्र तक ही सीमित रहती है तथा एक लघु क्षेत्र से बाहर इनके आर्थिक ढांचे का विस्तार नहीं हो पाता।’’¹

सरकार की तरफ से विपणन-व्यवस्था के अभाव में आदिवासियों को मजबूरी वश क्षेत्रीय ग्रामीण हाट या बाजार में साहूकार के हाथ कृषि-उत्पाद और वनोपज सस्ते मूल्य में बेचना पड़ता है- “आगे रास्ते में ही झमकू बनिया का अड्डा है। औरतों-मर्दों की भीड़ लगी है वहाँ। बड़े-बड़े बाट-बंटखरे लगे हैं। बाजार पहुँचने के पहले ही सौदा सुलभ हो जाता है। दो-एक जंगल भटककर बटोरे गये चार के बीज, महुआ, इमली, तेलहन, अगहन के दिनों धान-चावल-नोन-तेल के बदले लोग खुशी-खुशी बेच लेते हैं। कुछ को नकद की जरूरत होती है तो झमकू साहू वह भी फौरन दे देते हैं। हाँ सौदा बेहद सस्ता होता है। बाद में शहर चालान कर झमकू एक की चार बनाता है।’’²

आदिवासियों को अपनी उत्पादित वस्तुओं और वन से संग्रहित चीजों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है क्योंकि साहूकार और दलाल उनसे सस्ते मूल्य में खरीद करके, शहरों में कई गुणा अधिक मुनाफा अर्जित करते हैं “एक ओर बाँस की बनी टोकरियाँ, सूप, दौरा रख दिये गये थे। आगे मिट्टी के घड़ों, सुराही, तवे का अंबर लगा था। उस ओर साग-सब्जी, फल, मछलियाँ बेचने वाले लोग थे।’’³ कहना न होगा कि प्राथमिक विक्रेता को इन क्षेत्रीय बाजारों में उचित मूल्य मिल पाता होगा।

ऐसी आदिवासी औरतें जो सब्जी बेचकर परिवार का भरण-पोषण करती हैं उन्हें अक्सर सब्जी या चीजों के विक्रय के लिए संघर्ष और मुसीबतों का सामना करना पड़ता है- “घण्टे भर में गाड़ी पहुँच जाती है डाल्टेनगंज! रोजहा व्यापारी की तरह दिन भर गली-गली घूमकर सब्जियाँ बेचना पड़ता था या फिर शहर की सब्जी मण्डी में कुजड़ों के हाथ मामूली फायदे पर थोक के भाव सब्जियाँ सौंपकर वापस तुपकाड़ीह लौट आना पड़ता था।’’⁴

¹ जनजातीय समाजशास्त्र - उमेश कुमार वर्मा, पृ.सं. 195

² पलाश के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 29

³ मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 68

⁴ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 30

आदिवासी हो या किसान अपनी उपज के विक्रय के लिए व्यवस्थित बाजार के अभाव में सस्ते मूल्यों, यानी उत्पादन लागत से भी कम मूल्य पर विक्रय के लिए मजबूर हैं।

4.3 झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक संदर्भ

आदिवासी समुदाय में कुछ खास सामाजिक संगठन या संस्थाएं होती हैं। उसके संचालन का दायित्व किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से पूरा आदिवासी समाज करता है। आदिवासी समाज में व्यक्ति विशेष के नाम से नहीं, समूह के आधार पर उसकी पहचान बनती है। संतालों में ग्राम के मुखिया को 'माझी' के नाम से पुकारा जाता है, मुण्डा समुदाय के मुखिया को 'पहान', उराँव समाज में 'महतो' नाम से संबोधित किया जाता है। इन प्रमुखों के ऊपर बहुत से सामाजिक एवं अन्य प्रकार की जिम्मेदारियाँ निर्वाह करने का दायित्व होता है। कहना न होगा सामाजिक जीवन स्तर किसी भी समुदाय में उनकी आर्थिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। बढ़ते आर्थिक जीवन-संघर्ष ने सामाजिक संबंधों को और अधिक जटिल बनाया है।

कभी झारखंड के आदिवासियों की स्वायत्त शासन प्रणाली, भूमि-व्यवस्था, सामाजिक संस्थाएं समृद्ध (पड़हा राजा, पंचायत, मानकी मुण्डा) हुआ करते थे, जिससे इनके समुदाय का सुव्यवस्थित संचालन होता था। इनके बीच उत्पन्न विवाद का समाधान वे स्वयं मिल-बैठकर करते थे। आज भी उनके पूर्व की संस्थाएं हैं, लेकिन उसमें बहुत कुछ बदलाव हुआ है।

4.3.1 पंचायत

आदिवासी समुदाय में किसी कारणवश, किसी भी प्रकार के घरेलु विवादों को सुव्यवस्थित ढंग से निपटाने के लिए प्राचीन काल से चली आ रही सामाजिक संगठन 'पंचायत' कहलाती है। यह आदिवासी समुदायों का प्राचीनतम न्यायालय है। भारत के प्रत्येक आदिवासी समुदाय में यह पंचायत व्यवस्था पाई जाती है। जिसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। पंचायत के अनेक नियम होते हैं। प्रायः पंचायत के पंच बुजुर्ग ही होते हैं। उनका निर्णय ही अंतिम होता है। पंचायत का निर्णय नहीं मानने पर ग्राम एवं समाज से निष्कासित करने का प्रावधान होता है जिसे क्षेत्रीय भाषा में 'छिलन' कहा जाता है। यानी सामाजिक बहिष्कार।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास की नायिका रंगेनी, विधवा है जो गर्भवती है, इसको लेकर गाँव में पंचायत होती है। पंच के रूप में दिक्कू (गैर आदिवासी) भी उपस्थित हैं जो आदिवासियों के पंचायत की न्याय प्रणाली को प्रभावित करते हैं- “तेरे पेट में बच्चा है?” बेचू तिवारी ने पूछा था।

“हैं ... है।” रंगेनी ने सच बोल दिया था।

“हमको नहीं पता।” रंगेनी बोली थी। ... “अरे कैसे नहीं पता?” साहू ने पिनपिनाकर कहा था, “तुझे यह नहीं पता कि तू किसके साथ सोयी? किसने तेरे देह में बिचड़ा रोपा?”

“सच बात है पहाना।” रंगेनी ने अब तक झुका अपना सिर ऊपर उठा लिया था, “बीते दिनों कई मरदों ने हमारी देह खँखोरी है। रेलवर्ड के सिपाही और ...” “... कौन सिपाही?” लोग बेचैन हो उठे, कहाँ के सिपाही?”

सँझली गाड़ी में। पता नई कै गो थे। साइत जितने थे, सबने ... ” रंगेनी की जीभ लड़खाने लगी थी। ...

रंगेनी सोची थी, उसकी दुर्दशा को देखकर उस पर दया करेंगे लोग। कम-से-कम उसके गोतिया-भाई तो जरूर पर सभी चुप बैठे सुन रहे थे। रंगेनी ने कह दिया था -

“... फिर एक दिन औघड़वा भी हमारे साथ ... ”

“... खबरदार ...।” बेचू तिवारी गरजा था, “जबान काबू में रख! आदर से नाम ले बाबा का। पचास जगह सुआरिया की तरह मैला चाटती फिरने की बात अपने मुँह से कबूलती है और कीचड़ फेंकती है सिद्ध महात्मा पुरुष पर ... थ्यू ... !”

पहान भी विचलित हो उठा था, दस आदमीन का नाम धरना ठीक नहीं। ठीक-ठीक एक नाम बता रंगेनी। कौन है इसका बाप ... ?”¹

दरअसल रंगेनी के लिए यह बता पाना आसान नहीं था कि उसके पेट में पल रहा शिशु का बाप कौन है? क्योंकि उनके साथ रेलवे के कई सिपाहियों ने बलात्कार किया था। इतना ही नहीं एक औघड़वा यानी कथित बाबा भी उसे नशीला पदार्थ खिलाकर अपने हवश का शिकार बनाया था। पंच द्वारा रंगेनी

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 68-69

की उक्त सच्चाई को दरकिनार कर किसी एक का नाम बताने का दबाव डाला जाता है ताकि उससे रंगेनी का ब्याह किया जा सके। इस पर रंगेनी पुरुष सत्ता वाले पंचायत का विरोध करते हुए कहती है- “मरद के नाम से धिन आती है हमें” रंगेनी ने तमतमाकर कहा था, अब हमें किसी मरद पर भरोसा नहीं।”¹

रंगेनी का पुरुष के प्रति ऐसा क्षोभ प्रकट करना, पुरुष वर्ग के प्रति उसका विश्वास उठ जाने का द्योतक है, क्योंकि पंचों द्वारा सच्चाई की पड़ताल करने के बदले, सारा दोष रंगेनी पर मढ़ा जाता है। इसमें बेचू तिवारी की भूमिका सबसे अधिक है “बेचू तिवारी की सलाह यह रही कि जोंक जब नमक से ही मर जाए तो संख्या पर नकदी फेंकना बुड़बकाही (मूर्खता) है। राय-सलाह के बाद पंचायत का फैसला हातु-मुण्डा ने सुनाया था -

“आज से रंगेनी का हुक्का-पानी बन्द ...।”²

यानी गाँव वाले रंगेनी से रिश्ता तोड़ लेते हैं। उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। पंचायत के पास सामाजिक बहिष्कार करने का अधिकार भी होता है, लेकिन यहां बेचू तिवारी की सलाह से ऐसा कदम उठाया जाता है। कहना नहीं होगा कि आदिवासियों की पंचायत में गैर आदिवासी की उपस्थिति से न्याय प्रणाली प्रभावित होती है।

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में गंदूरा और परबती एक-दूसरे से प्रेम करते हैं किन्तु परबती के मर्जी बगैर जब उसकी शादी तय होने पर वह गंदूरा के घर में आकर रहने लगती है। वह माँ बनने वाली है। इसको लेकर पंचायत बुलाई जाती है। दोनों गाँव के लोग जमा होते हैं। पड़हापंच धरमू उठकर कहता है- “तो सुनो भाइयों, बहनों, सबको हमारा जोहार हो। आज का पंचायत क्यों बैठा है इ तो सबको पता है। पंचायत तो धर्मस की जगह होता है वही फैसला सुनायेगा ... पीठ पड़हा का महतो उठा। गमछे को सिर पर ठीक तरह से बाँधा चारों ओर देखकर बोला- भाइयों, बहनो, बताना क्या है, सबको ढुकू घुसने का बात पता है - गंदूरा और परबती तुम सबके सामने है। गाँव वालों अब आप ही लोग फैसला सुनाओ।

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 70

² वही, पृ.सं. 70

“फैसला सुनाना क्या है, जो परथा है वही न किया जायेगा। ठोंको जुर्माना! - उस ओर खड़ा रिझवा जोरे से चिल्लाया।”¹

पंचायत के सर्वसम्मति से गंदूरा और परबती से जुर्माने के रूप में दो खस्सी, बीस पैला चावल और एक रुपया वसूला जाता है। आदिवासी समुदाय के पंचायत में लोकतांत्रिक गुणों का समावेश होता है। निर्णय पर किसी को आपत्ति होने पर अपनी राय या बात रखने के लिए स्वतंत्र है। इसलिए तो गंदूरा जुर्माने को केवल खाने-पीने में खर्च करने पर ऐतराज जताते हुए कहता है- “पूरे गाँव में बस एक ही चुवाँ है। क्यों न जुर्माने से मदद करके एक बड़ा साफ चुवाँ तैयार कर लिया जाए।”²

पंचायत में लड़का-लड़की के तरफ से जुर्माने में मिले रकम और गाँव वालों के श्रमदान से गाँव में पीने के पानी की समस्या के समाधान के लिए एक नया कुआँ तैयार किया जाता है। यह कार्य एक युवक गंदूरा की सलाह का परिणाम है, क्योंकि इससे पहले गाँव वाले जुर्माने में मिले रकम खस्सी और चावल को भोज करके ही समाप्त कर देते थे, जिसे गाँव की भलाई के लिए खर्च किया जाता है। दरअसल पानी की समस्या का समाधान करना सरकार की जिम्मेदारी है जो अभी तक पूरा नहीं हो पाया है। उक्त समस्या सरकार की आदिवासी गाँवों की उपेक्षा की ओर भी इशारा करती है।

आदिवासी समुदाय में पंचायत का कार्य सिर्फ आपसी विवादों को सुलझाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि किसी व्यक्ति पर आये विपत्ति से निपटने का रास्ता या हल भी ढूँढ़ा जाता है। प्रायः ऐसी विपत्ति सामंत, जमींदारों के शोषण से उत्पन्न होती है। इससे संबंधित प्रसंग ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में देखने को मिलता है। जमींदार राय साहब जागो को वर्षों से सेवकिया बनाकर अपना स्वार्थ साध रहा है। एक बार अपना घर आने पर जागो को जमींदार के आदमी बीमार अवस्था में भी जबर्दस्ती उठाकर ले जाते हैं। तत्पश्चात यह खबर पूरे इलाके में आग की तरह फैल जाती है कि जागो को बाघ के घर में बंद कर दिया है। इस खबर का पता करने के लिए पंचायत बैठती है कि जागो जिंदा है या मारा गया - “हम पंचमन पंचों को आज बुलाये कि ऐसे समय में क्या करना चाहिए इस पर सोच विचार करें।

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 159

² वही, पृ.सं. 161

पचमों के नेमू ने कहा - “बोले चैतू, तुम्हीं बताओ, तुम लोगों ने क्या देखा-सुना।”

हम तो सबको बता दिये। सबेरे बरवाडीह लकड़ी लेकर बेचने गये थे दोनों भाई। रास्ता में नाका पर बरवाडीह के पांडे से भेंट हुई। उसने कहा उसके घर से माँ का हाल-चाल लेते आना। इसलिए गये। पांडे बूढ़े ने देखते ही कहा कि तुम्हारे गाँव के एक उराँव को गढ़ी में बाघ के घर में बंद कर दिया है। हमको विश्वास नहीं हुआ। बाकी सोनाहातु में भी तिकोड़ी साव के दोकान पर लोग ऐसे ही बोल रहे थे। गाँव में लौटकर देखा तो सच, जागो दादा नहीं था।

- “चैतू सबके सामने अटक-अटक कर बोल रहा था।”

- “लोग झूठ-मूठ क्यों बोलेंगे? हम लोगों ने जो सुना था कह दिया। आँख से नहीं देखे हैं।” दामडू ने जोड़ दिया।

- “लेकिन अगर बात झूठ निकली तो।” झरू बूढ़ा ने शंका प्रकट की।

- “तो जागो को पंख लग गया जो कहीं उड़ गया?” कहीं से कोई दूसरा बीच में बोल पड़ा।

- “नहीं, झूठ नहीं कहते। लेकिन अपने सेवकिया को जान से क्यों मारेंगे? जान मारने से उनका काम तो नहीं होगा न? फिर जागो तो झगड़ालू भी नहीं है।”

“ठीक है, हम झूठ बोलते हैं। जाओ, अपने से देख आओ।” चैतू रूष्ट होकर बोल पड़ा।

“अपना सेवकिया है दवा-दारू करेंगे। सेवा-आद करेंगे। तब क्यों बोलते हो कि मारते-पीटते ले गये। हमने तो ले ... देखा। मारते-पीटते नहीं देखा। बाघ के घर में बंद ... देखा। जो बरवाडीह, सोनाहतू में सुना, कह दिया। अब मानो, चाहो मत मानो। ... फुक-फुक सुझा पी रहे थे दोनों, चैतू और दामडू दोनों परेशान थे। जैसे पंचायत उनके सच-झूठ पर विचार करने के लिए बुलाई गई हो और ... हो रहो। नहीं तो इसमें भला इतनी जिरह ... कौन बात है?”¹

इस प्रकार पंच-गण आपस में आरोप-प्रत्यारोप में ज्यादा उलझ रहे थे। किसी निर्णायक बिंदु पर न पहुँचते देख पंचायत का एक सदस्य सोनाराम खड़ा होकर कहता है- “बात कर-कर के समय गंवाने से

¹ गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 83

क्या होगा, दादा! फैसला करो। अगर सचमुच मार डाला होगा तो हम भी उन लोगों को नहीं छोड़ेंगे। हम गढ़ी में जायेंगे। पूछेंगे। अभी।”¹

आदिवासी समाज में किसी व्यक्ति पर संकट हो और शांतिपूर्ण तरीके से हल नहीं निकलने पर, पंचायत हिंसक रूख भी अख्तियार करने से परहेज नहीं करता। पंचमों के नेमू पुनः पंचों को स्पष्ट समझाते हुए कहते हैं- “तुम लोग आपस में ही बकते-उलझते रहे तो फिर हमें क्यों बुलाया? डुगडुगी क्यों बजाई? बाघ के घर में जागो को बंद करने की बात झूठ है। वह मारा नहीं गया है। वह सब कुछ ठीक है, तो ठीक है। लेकिन अगर तुम लोग उस बड़े आदमी से डरते हो, गढ़ी में जाने से डरते हो, तो साफ-साफ कहो। हम जायेंगे हमारे आदमी को कोई जान से मार डालेगा और हम चुप बैठे रहेंगे!...”²

‘धार’ उपन्यास में एक बहुत ही अलग तरह की पंचायत होती है, जिसके पंच आदिवासी की जगह पंडित हैं। मैना ‘धार’ उपन्यास की नायिका है जो अपने पिता और दलाल पति (फोकल) का पुरजोर विरोध करती है, क्योंकि ये दोनों मिलकर तेजाब फैक्टरी के लिए अपनी जमीन देना चाहते हैं। इसी का विरोध करने के क्रम में मैना जेल जाती है। जेल से जेलर का बच्चा और अपना मन पसंद दूसरा पति मंगर को लेकर जब गाँव आती है तो पंचायत होती है- “मंगर ने सर उठाकर देखा, इर्द-गिर्द मर्द-औरत, बूढ़ों, बच्चों की भीड़ हो चली थी। एक गुंडे आकृतिवाला जवान आदमी पंडित जी के लिए एक बांह की टुटही कुर्सी ले आया, मामा ने बताया, यही फोकल है। पंचायत में उसकी पेशी हो गई। पंडित की टार्च ने इस बार उसका ऊपर से नीचे तक अच्छी तरह मुआयना किया, “तो तुम्हीं को सरकार ने मैना को पहुँचा आने को कहा है?” वह हकला उठा, “जी, जी वो तो, वो तो!”

“हकलाओ मत!...”

“ऊ ठो बच्चा तुमसे है?”

“जी - जी।”

मैना ने कनखियों से देखा, मंगर तनिक गड़बड़ाया जरूर, पर तुरंत ही सध गया।

¹ गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 83

² वही, पृ.सं. 84-85

“हमारे गाँव की बहन-बेटी को बेइज्जत करने का तुम्हारा हिम्मत कैसे हुआ - ऐं!” उनकी आवाज जैसे-जैसे तेज होती जा रही थी, मंगर की वैसे-वैसे धीमी, वे आगे बढ़ते जा रहे थे, मंगर पीछे खिसकता जा रहा था, ... पंडित ने दाहिने हाथ से सर खुजलाया जैसे शास्त्र के पन्ने पलट रहे हों, दूसरे की पत्नी से जो बुरा कर्म करे या पति के रहते पत्नी दूसरे पुरुष से संबंध करे ये सब रौरव नरक के भागी होते हैं। का जी टेंगर, तुम्हीं बोलो, एक तो मैना तुमरी बेटी है, दूसरे तुम साधू-महात्मा, धरम का मरम तुमसे जास्ती कान बूझता है! तुम सौंतालों में तो ऐसी औरत का जीते क्रिया कर्म कर देते हैं ना?”

“हम का बोले पंडिज्जी! हमको तो ई मुंह देखाने के काबिल भी नयं रहने दिया।” दीनहीन कपड़ों में बूढ़ा टेंगर फफक पड़ा।

“हिन्दू शास्तर में ई भी लिखा है कि संतान के पाप-पुन्न का फल पितरों को भोगना पड़ता है।”

टेंगर ने लपक कर उनके पाँव पकड़ लिये।

“मगर शास्तर में ई-हो लिखा है कि पराश्रित करने से पितरों को फिर से सरग मिल सकता है। मैना और फोकल फिर से सत्त नारायन बाबा का कथा सुन लें और बामन और बिरादरी को भोज दे दें तो ...।”

“हम तो तैयार हैं पंडिज्जी - बच्चा तक को सुआकार कर लेंगे, समझेंगे दू के बदले तीन ठो चेंगा है हमारा। पंचाइत के सामने हम कहते हैं कि आज तक हमरा जनाना जो भी गलती किया, हम सबको माफ किया। अब ऊ डब्बा छोड़ के हमारा पास आ के रहे। हम जीतेजी सराध (श्राद्ध) नहीं होने देंगे अपनी पतनी का।” फोकल ने कहा।

“शाबास फोकल! इसको कहते हैं मरद का कलेजा।” पंडित ने कहा और उच्छवास में सप्तपदी के समय नवविवाहित पति-पत्नी के कर्तव्यों की अपनी टीका लगाकर व्याख्या भी कर डाली। फिर उन्होंने फोकल के प्रस्ताव पर पंचों की सहमति जाननी चाही तो कई आवाजें आईं, दूध का दूध पानी का पानी।”¹

¹ धार - संजीव, पृ.सं. 24-25

प्रारंभ से ध्यानमग्न सुनने वाली मैना के मौन को पंडित जी गलत समझकर, मैना की सहमति समझ बैठे। और अंतिम निर्णय देते हुए बोले - “अब मैना, तुम उठो। बारी-बारी से बाप और ‘पति’ का पाँव छू माँफी मांगो।”

“नयं पहले पंडिज्जी का।” कई आवाजें एक साथ उभरीं मैना जो मूर्त की तरह तबसे वहीं खड़ी थी, इस बार हिली। उसने बेटी के हाथ से बच्चे को लिया और मंगर का हाथ पकड़कर उलटे पाँव डब्बे की ओर जाने वाली राह पर मुड़ गई।¹

हालांकि यह पंचायत आदिवासियों का नहीं, मानो गैर-आदिवासियों का प्रतीत होता है। क्योंकि पंडित जी को छोड़कर पंचायत में एक भी ऐसा आदिवासी पंच नहीं नजर आता है जो कभी अपनी बात रखता हो, सब के सब पंडित जी के सुर में सुर मिलाते चले जाते हैं। सत्यनारायण कथा की भाँति चलने वाले पंचायत का विरोध सिर्फ और सिर्फ मैना करती है। वह भी अंतिम और निर्णायक रूप में। मैना का बच्चों और मंगर को साथ लेकर चलना वह भी पंचायत के बीच से, पंचायत को अस्वीकारना उसकी स्त्री-चेतना का प्रतीक है। जो उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का महान पक्ष है।

‘हुल पहाड़िया’ उपन्यास में पहाड़िया आदिवासियों के बीच चेतना जगाने, चावल नहीं बेचने के लिए परगनैत-मांझी पंचायत करके भावी संकट की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं-

“चावल बिक्री पर लगाम लगाने हेतु अकेला सुगना ही नहीं चिल्ला रहा था सारे पहाड़िया सरदार-मांझी चावल की अंधाधुंध बिक्री रोकने का प्रयास कर रहे थे, पर कुएं में मानो भंग घुली हुई थी। हाट में झन्न-झन्न रुपया बरस रहा था। गाँव-गाँव घूमकर जो दलाल आदिवासियों को चावल की बिक्री हेतु प्रेरित कर रहे थे, वे आदिवासी गाँवों में अपने हितू लग रहे थे। दलालों का गुड़ पानी-तम्बाकू से सत्कार किया जा रहा था।

परगनैत भी अपने परगानों में थकी आवाज में मनाही कर रहे थे।

¹ धार - संजीव, पृ.सं. 25

बचाकर रखो चावल, सरसों, मकई और कुल्थी। हाट में बिकती रंग-बिरंगी चीजों से भरमाओ मत। यह चावल गोलादार नहीं खरीद रहा रे! आढ़तियों-गोलादारों के दरवाजों पर खड़ी बैलगाड़ियां भुरंगी साहब लोगों की है।...

पहाड़िया लोगों के एका के प्रश्न पर पहाड़िया सरदारों ने सभा बुलाई थी। चावल की लूट में पहाड़िया एका टूट रहा था। चावल के सत्यनाशी कारोबार में पानी सिर के ऊपर से गुजरने लगा था।

पहाड़िया सभा में कठोर निर्णय लिए गए थे। बिना जरूरत हाट में औरतों-बच्चों का घूमना बंद जंगल के बाहर की रंग-बिरंगी चीजों का खरीदना बंद। गोलमाल का धंधा करने वाले दलालों, गोलादारों और आढ़तियों का पहाड़िया गाँवों में प्रवेश बंद।

पहाड़-पंचायत के आदेशों का उल्लंघन करने वाले को कठोरतम दंड ... बिटलाहा। बिटलाहा। आदिवासी समाज का भयानक दण्ड-विधान! जाति से बहिष्कृत समाज से बाहर। कोई व्यक्ति बिटलाहा हुए घर का पानी तक नहीं पीता। बिटलाहा हुए घर के सदस्यों को सभा-पंचायत-अखड़ा में प्रवेश नहीं मिलता। व्रत-पूजा-अनुष्ठान में बिटलाहा परिवार के सदस्यों की उपस्थिति प्रतिबंधित होती है। विवाह हेतु निषिद्ध होता है। बिटलाहा का कलंकित और निकृष्ट परिवार।”¹ पंचायत का कार्य न सिर्फ आदिवासियों के बीच हुए विवादों को सुलझाना है, बल्कि आने वाले भावी संकट के प्रति भी लोगों को सचेत करना है।

कहना नहीं होगा, आदिवासी समाज में पंचायत के निर्णय की अवहेलना करने पर कठोर से कठोर दंड का प्रावधान है, जिसकी चर्चा उपर्युक्त पंक्तियों में की जा चुकी है। ‘समर शेष है’ उपन्यास में आदिवासी युवती के विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों पर पिता के संपत्ति-संबंधी अधिकार का फैसला पंचायत करती है। उपन्यास में करमू अपनी गर्भवती बहन जीरन को घर में प्रवेश करने नहीं देने पर उपन्यास का पात्र सोबरन कहता है- “यह क्या करके आई है यह बाद में पूछूँगा। पहले यह बता, उसे घर में घुसने से रोकने वाला तू होता कौन है? यह घर जितना तेरा है, उतना इसका भी है। इसने कुछ गलत किया है तो इसका फैसला गाँव की पंचायत में होगा।

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 44-45

करमू और जितन सुन लें। जीरन को वे यदि ऐसी अवस्था में घर से बाहर निकाल बाहर करते हैं तो उसे बाप से मिली जमीन और घर का बँटवारा करना होगा, वरना वह पहले की तरह उसी घर में रहेगी और खटे-खाएगी। वैसे, यह फैसला पंचायत में बैठकर होगा, लेकिन करमू अभी से यह बात समझ ले।”¹

आगे लेखक आदिवासी समुदाय में उत्तराधिकार संबंधी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए पंचायत की शक्ति पर प्रकाश डालते हैं- “गाँव में उत्तराधिकार का प्रश्न अलिखित और स्पष्ट था। आदिवासी औरतों को पिता की संपत्ति में कोई अधिकार नहीं मिलता। धारणा यह थी कि लड़की तो पराए घर में जाएगी। इसलिए जमीन पर उसका हक नहीं माना जाता था। लेकिन साथ ही यह भी सुनिश्चित था कि जब तक वह अविवाहित रहेगी, उसके भरण-पोषण की जिम्मेदारी उठाने से उसका भाई इन्कार कर दे तो गाँव की पंचायत सामूहिक रूप से फैसला लेकर पैतृक जमीन में उसकी हिस्सेदारी तय कर सकती थी।”² अविवाहित आदिवासी लड़की को पिता की संपत्ति में हिस्सा पाने का पूरा हक है। जिस लड़की की शादी नहीं हो पाती है उसे भी भाइयों की तरह उसका हिस्सा प्रदान किया जाता है।

आदिवासी समाज में पंचायत की भूमिका महत्वपूर्ण है। वह समाज में उत्पन्न लोगों के बीच तमाम विवादों को सुव्यवस्थित तरीके से सुलझा कर, शांति और समरसता बनाये रखने का प्रयास करता है। ‘पलास के फूल’ उपन्यास में चैतू और मंगली एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। इस दरम्यान मंगली गर्भवती हो जाती है, इसको लेकर पंचायत होती है

“विशाल बरगद के ठंढी-ठंढी छाँव में पंचायत बैठी थी। दोनों गाँव के सरपंच खटिया में बैठे थे। उस ओर खैनी, तम्बाकू, बीड़ी-हुक्का का इंतजाम है। बड़े-बुजुर्ग एक-एक कर आ रहे हैं। एक-दूसरे से जरा हाल-चाल पूछते और तब कतार में बैठ जाते हैं। कुछ सयानी औरतें भी धीरे-धीरे आ रही हैं। उस ओर आगे दूसरे पेड़ की छाँव में बच्चों का झुंड किसी खेल में खोया पड़ा है। देखते ही देखते बड़ी भीड़ जमा हो जाती है।

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 77

² वही, पृ.सं. 79

देखा उस ओर चटाई में चैतू और मंगली पास-पास बैठे हैं। पंचायत उन्हीं के लिए बैठी है। चैतू की आँखों में आत्म-विश्वास की लहरें हिलोरें लेती अनायास ही दिख जाती है। मंगली जरा शंकित है, जाने क्या हो। हाँ उसे चैतू पर विश्वास है। घर के लोग उनके करीब ही बैठे हैं।

सरपंच पंचधर उठकर पंचायत बैठने के मकसद का एलान करता है। वैसे बातें किससे छिपी रह पाती हैं। सब कोई जानने लगे थे। सरपंच ने बस औपचारिकता निभायी थी। मंगली के दिन चढ़ गये थे, वह आसानी से देखा जा सकता था।

पंचधर औपचारिकता के जवाब तलब शुरू कर देता है- ‘अब तो जीवन भर साथ निभाना होगा, दोनों को मंजूर है न!’

मंजूर है! - चैतू बोला था।

मंगली स्वीकृति से सिर हिलायी थी।¹

अधिकतर ऐसे प्रेम विषयक पंचायत में युवक-युवती की राजी-खुशी पहले से होती है। पंचगन सिर्फ समाज की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए दोनों (लड़के-लड़की) के रिश्ते के स्वीकार्य हेतु माता-पिता को गले लगने को कहते हैं और अंत में सरपंच अंतिम निर्णय सुनाते हैं-

“समाज का नियम सबके लिए होता है। अतः चैतू-मंगली को यह नियम निभाना पड़ेगा। ...ऐसे मामलों में दोनों पक्षों को सौ-सौ रुपये जुर्माना भरना होगा, पंचायत के लिए मदिरा का इंतजाम करना होगा और सप्ताह भर के अंदर पुजारी से शादी की रस्म पूरी करनी होगी।”²

आदिवासी समुदायों में पंचायत का कार्य क्षेत्र व्यापक है लेकिन उपन्यासों में कुछेक प्रसंगों को छोड़ दिया जाए तो ज्यादातर प्रेम प्रसंगों को लेकर ही पंचायत की भूमिका देखने को मिलती है। दरअसल जो लेखक आदिवासी समाज को जितना करीब से देखेगा, उनके अंतर्विरोधों को पकड़ पायेगा, वही उनकी पंचायत व्यवस्था, स्वरूप और उसके कार्यों का विस्तार से विश्लेषित कर पाएगा, अन्यथा नहीं।

¹ पलाश के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 53

² वही, पृ.सं. 54

4.3.2 सामूहिकता

आदिवासी समाज का एक विशिष्ट एवं अभिन्न पहलू है सामूहिकता। आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक, छोड़े-बड़े क्रियाकलाप और अनुष्ठान समूह में किये जाते हैं वैयक्तिक नहीं। इनके नृत्य समूह में ही देखने को मिलते हैं। सौंदर्य सामूहिकता में है, व्यक्तिगत में नहीं। इसका एक सहज एवं व्यावहारिक उदाहरण शिकार या आखेट में शामिल कुत्ते को भी उसके सहयोग के लिए उसका हिस्सा प्रदान किया जाता है। ‘समर शेष है’ उपन्यास में महाजनों द्वारा अवैध रूप से अर्जित किये खेत की फसल आदिवासी रात में सामूहिक रूप से काटकर ले जाते हैं- “चार आदमी मचान के आसपास रहे। जाग पड़े तो काबू में रखो और लोग खेत में चारों तरफ उतर जाएँ। जितनी जल्दी हो कटाई पूरी करो।

अगले ही क्षण युवतियाँ एक-दूसरे को कोहनी से ठेलती खेत में उतर जाती हैं और कटाई शुरू हो जाती है। बीरबल की नींद के झोंके में बीच-बीच में फसल कटने की खच-खच सुनाई देती है लेकिन उसकी आँख नहीं खुलती। उँह ... अब सुबह देखा जाएगा।

और सुबह आँख खुलती है तो सन्न रह जाता है। वह कोई सपना तो नहीं देख रहा। पूरा खेत साफ है। एक बार आँख मलता है लेकिन सामने का दृश्य नहीं बदलता। पूरी फसल कट चुकी है। खेत में सिर्फ ठूठ बचे हैं। किससे कहें ... क्या कहें। भागा-भागा अपने सुथरपुर जाता है, बाप को बताता है, फिर दोनों विष्टू साव के यहाँ जाते हैं।”¹

कहना न होगा आदिवासी नृत्य श्रम और विद्रोह या संघर्ष सामूहिक रूप से मिलकर करते हैं। ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में चम्पिया का वन रक्षकों द्वारा पहले बलात्कार और फिर हत्या कर दी जाती है, जिसका विरोध पूरे गाँव वाले मिलकर करते हैं -

“बाघामुण्डी में बजते नगाड़े आसपास की बस्तियों तक संदेश पहुँचा चुके थे। निकटवर्ती गाँवों से भी आदिवासियों की टोलियाँ डाकबँगले की ओर निकल पड़ी थीं।

डाकबँगले को चारों ओर से घेर लेने के बाद आदिवासियों ने घेरे को छोटा करना प्रारंभ किया। जलती मशालों का खण्डित वलय संकीर्ण होने लगा परन्तु अंग्रेज पदाधिकारी और मित्रों को साहस देते

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 151

रहे वनरक्षक। उनके पास भरी बंदूकें थीं।”¹ आदिवासी समुदाय जिस काम को करने का प्रण ले लेते हैं उसे करके ही दम लेते हैं।

‘धार’ उपन्यास में आदिवासियों द्वारा एक बेहद महत्वपूर्ण पहल प्रारंभ किया जाता है जिसके संदर्भ में वीर भारत तलवार लिखते हैं- “बेशक, सहारजोड़ी की जन-खदान का निर्माण और नाश हमारे समाज की महान त्रासद घटना है। देश में करोड़ों लोग बेरोजगार हैं जिन्हें सरकार और व्यवस्था रोजगार नहीं दे सकती। ऐसी हालत में एक जन-संगठन के नेतृत्व में एक हजार से भी ज्यादा स्त्री-पुरुषों ने-जिनमें ज्यादातर आदिवासी थे- खुद अपने साहस, परिश्रम और सूझबूझ से एक कोयला खदान शुरू की और उसका संचालन-प्रबंधन इतने अच्छे ढंग से किया कि वह किसी भी राष्ट्रीयकृत कोयला खदान के संचालन-प्रबंधन से अधिक कुशल साबित हुआ। वह खदान मजदूरों के सिर्फ रोजगार का साधन नहीं थी, बल्कि वह उनकी सृजनशीलता और उनके अंदर छुपे भव्य गुणों की भी अभिव्यक्ति थी। मजदूरों ने कोयले के उत्पादन के अलावा वहाँ प्रबंधन कार्यालय खोला, स्कूल, अस्पताल, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र और शिशुपालन केन्द्र भी खोला। वहाँ काम करने वालों को वेतन कोयले के रूप में दिया गया और वेतन देने के बाद बचे हुए कोयले को सरकारी संपत्ति मानकर सुरक्षित जमा रखा गया।”² इतना बड़ा प्रायोजित एवं संतुलित पहल आदिवासियों की सामूहिकता की अन्यतम मिसाल है।

उपन्यास का एक पात्र उस सामूहिकता के बारे में कहता है- “पहले पूरी बात ध्यान से सुन लीजिए, फिर जो पूछना हो पूछिए। हम लोगों ने सोचा है एक पोखरिया खाद शुरू किया जाए। इसमें बीस गाँव के लोगों को रोजी-रोटी मिलेगी। इसके लिए काली माटी की सरकारी कोलियरी और सुब्बाराव के जंगल के बीच चतरपुर की जगह चुनी गई है। यह खदान किसी एक की नहीं बल्कि सभी काम करने वालों की साझा होगी। चूंकि यह हमारी अपनी होगी, इसीलिए कोयला न निकलने तक सबको अपने घर से खा-पीकर आना होगा। जो खर्च झूड़ी, गइंता में लगेगा, उसको भी हमीं लोग देंगे। जब कोयला

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 152

² झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, पृ.सं. 435-436

निकलना शुरू होगा तो मजदूरी भी कोयले से मिलेगी। इस खान के जरिए आपका डॉक्टरी इलाज, रिन, करज, पढ़ाई-लिखाई का भी बंदोबस्त होगा।”¹

इतना बड़ा सार्वजनिक कार्य प्रारंभ कर सुचारू रूप से संचालन एवं प्रबंधन कर पाना आदिवासियों की सामाजिकता एवं सामूहिकता का ही परिणाम है।

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में सामूहिकता कृषि कार्य में देखने को मिलती है, जिसमें गाँव वाले जमींदार के बनाये सामंती नियमों को तोड़कर, सबसे पहले खेती करना प्रारंभ करते हैं-

“सांझ को पूरे गाँव में एलान कर दिया गया। कल ‘कादलेता’ उत्सव के साथ धान की रोपनी शुरू कर दी जाएगी। समय बीतता जा रहा था, सभी किसान उस निर्णय से खुश लग रहे थे। हाँ, अंदर कहीं, किसी अनदेखी आशंका से रह रहकर सिहर भी उठते थे। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था कि जमींदार की पूजा के पहले किसी ने रोपा शुरू करने का स्वप्न भी देखा हो।

सुबह होते ही पहान बीड़ा वाले टाँड़ के पास आ गया था। गाँव भर के लोग जमा हो गये थे। आज सितुवा महतो का रोपा करना था। गाँव की लड़कियाँ-औरतें घुटनों तक मोटियारी से सजी कितनी खूबसूरत लग रही थीं। हल जोतने का समान संभाले युवकों की टोली में उत्साह खेल रहा था।”² आदिवासी स्त्री और पुरुष कुछ कार्यों को एक साथ मिलकर करते हैं और कभी-कभी पुरुषों का कार्य समाप्त होते ही स्त्रियाँ अपने कार्य को प्रारंभ करती हैं- “पहाड़ की तराईयों में धुँधलका घिरने तक खेतों में युवतियों की कतारें रोपा करने में खोयी रहीं। बीच-बीच में औरतें छोटे, नन्हें बच्चों को दूध पिलाने के लिए आड़ में बैठकर दो पल सुस्ता लेती थीं। ... हल चलाते युवक घुटने तक मोटियारी, लपेटे झुके-झुके रोपा करती अल्हड़, खूबसूरत बालाओं को जब तक देख लेते थे।”³

¹ धार - संजीव, पृ.सं. 137

² जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 167

³ वही, पृ.सं. 168

सामूहिकता आदिवासियों की कार्य प्रणाली का अभिन्न अंग है, जो उनके विशिष्ट जीवन-दर्शन का द्योतक है। आदिवासियों में कृषि से संबंधित सारे कार्य स्त्री-पुरुष साथ मिलकर करते हैं। केवल जुताई और बुआई को छोड़कर।

औद्योगिक संस्कृति ने आदिवासियों की सामाजिक संरचना को तोड़कर रख दिया। जिसके संदर्भ में रणेन्द्र लिखते हैं- “केंद्रीकृत पूँजीवादी उत्पादन प्रणालियों ने न केवल सामुदायिकता को बल्कि परिवार की अवधारणा को भी तोड़ा है। औद्योगीकरण और सर्विस सेक्टर ने न्यूक्लियर परिवार की अवधारणा दी तो सूचना प्रौद्योगिकी ने ‘लिविंग टूगेदर’ विवाह विहीन, जिम्मेदारी विहीन जीवन शैली को जन्म दिया। समृद्धि के साथ अकेलेपन ने कई नई बीमारी, मानसिक-विकारों को जन्म दिया। आत्महत्या को उकसाया किन्तु आदिवासियत सामुदायिकता के साथ नाभिनाल के रूप में जुड़ी है। वही उसकी जिजीविषा है, वही आपदा-विपदा उसकी रक्षा करता है। कृषि और वन आधारित आर्थिकी बिना सामुदायिकता के चल नहीं सकती।”¹ सामुदायिकता की अवधारणा को पूँजीवाद ने समग्र रूप से तोड़ने का प्रयास किया है, जिससे आज अनेक तरह की विसंगतियां आदिवासी समाज में प्रवेश करने लगी हैं।

4.3.3 युवागृह

यह आदिवासी समुदाय के युवक-युवतियों का एक ऐसी सामाजिक संस्था है, जहाँ इन्हें सर्वांगीण शिक्षा प्रदान की जाती है। इसमें विवाहितों का प्रवेश निषेध है। इस संस्था के विशेष नियम-कानून होते हैं जो पारंपरिक हैं एवं इसे सभी मानने के लिए बाध्य हैं। भारत में ही नहीं, विश्व में भी इस तरह की संस्था आदिवासी समाज में पायी जाती है। भारत के आदिवासियों में इस संस्था को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, इसे इस प्रकार मजूमदार ने रेखांकित किया है- “कोयाक नागा बालकों के युवागृह को ‘बान’ नाम से पुकारते हैं तथा बालिका युवा गृह को ‘यो’ कहते हैं। ओओ नागा इसको ‘अरीच’ तथा ‘मेमिस’ दो नामों का प्रयोग करते हैं। पुरुषों के युवागृह को ‘इकूची’ तथा महिलाओं के युवागृह को ‘इलोइची’ कहते हैं। अंगामी नागा इसे ‘किचूकी’ पुकारते हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोगों में भी युवा-गृह पाये जाते हैं जो इसे ‘रंगाँग’ कहते हैं। छोटानागपुर की मुण्डा तथा ‘हो’ जनजातियाँ

¹ पहल - संपा. ज्ञानरंजन, राजकुमार केसवानी, अंक 100, जून-जुलाई 2015, पृ.सं. 156-157

भी इसे रखती है तथा इसे 'गितिओरा' नाम से पुकारती हैं। ओराँव लोग इसे 'जोन्करपा' अथवा 'घुमकुड़िया' मुइया इसे 'छंगरवासा' तथा गोंड 'गोटुल' कहते हैं।'¹

इस प्रकार युवागृह नामक सामाजिक संस्था के अनेक स्वरूप एवं नाम हैं, जो आदिवासियों की विविधता का परिचायक है। जिसका उद्देश्य है युवक-युवतियों के व्यक्तित्व का विकास करना एवं बाह्य शत्रुओं से गाँव की रक्षा करना। यह संस्था अब विलुप्ति के कगार पर है। जिसके संदर्भ में राकेश कुमार सिंह लिखते हैं "गितिओरा की परंपरा तो अब जंगल में रही नहीं। बस्तर के घोटुल की तरह झारखंड के आदिवासी समाज में पहले होता था गितिओरा अविवाहित किशोर-किशारियों के शयनस्थल होते थे गितिओरा। प्रशिक्षण केन्द्र भी, जहाँ भावी जीवन की तैयारी करते थे मुण्डा युवक और युवतियाँ। बनासकाँठा में भी घुमकुड़िया होता था, कभी गितिओरा की तरह!"²

युवा गृह नामक संस्था का समाप्त होते जाना आदिवासियों के सामाजिक उत्थान या पतन का द्योतक है। इस पर स्पष्ट राय देना थोड़ा मुश्किल है, क्योंकि परिस्थितियाँ अभी बहुत बदल चुकी हैं। इसकी प्रासंगिकता क्या है? इस पर अलग से शोध करने की आवश्यकता है। इसके संरचना के संदर्भ में मजूमदार लिखते हैं "आवासों के अन्तर्निश्चित, गहन, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक प्रयोजन है। सायंकाल युवक युवागृह में एकत्र होते हैं तथा नृत्यांगन, खेल, लोक-कथाएँ तथा लोकवार्ता जैसे कार्यक्रमों में शामिल होते हैं तथा वाद को रात में साथ सोते हैं। इसके सदस्य वरिष्ठ तथा कनिष्ठ दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। वरिष्ठ लोग जो जनजातीय संस्कृति तथा परंपरा में पारंगत होते हैं, जो वह सीख चुके हैं तथा अनुभव किया है, कनिष्ठ को स्थानान्तरित कर देते हैं। जिन अधिकारियों से युवागृह की व्यवस्था की अपेक्षा की जाती है उनका चयन वरिष्ठों में से किया जाता है। उनसे युवागृह के अंदर की क्रियाओं का नियंत्रण करने तथा अनुशासन बनाये रखने की अपेक्षा की जाती है।"³

¹ जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ.सं. 74

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 198

³ जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ.सं. 75

जिस प्रकार संस्थाओं को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक अगुवा या प्रतिनिधि की भी सख्त जरूरत होती है। कनिष्ठ युवाओं को वरिष्ठों के हुक्म का पालन करना पड़ता है। ‘जंगल के गीत’ उपन्यास में इस तरह का प्रसंग आया है- “एतवा बीड़ी बनाने में जुट गया। अभी वह नया-नया ही घुमकुड़िया का सदस्य बना था। पुना जोंखेर (नया जवान) को बड़ों से आज्ञा मिलते ही काम पूरा करना होता था, नहीं तो सजा जो मिल जाती। बड़ों की खातिरदारी न करे तो आफत आ जाये। दिन भर काम से थके वे बदन की मालिश की इच्छा करें, तो उन्हें करना होगा। उनके बाल बनाना, लकड़ी लाना, करंज के बीज चुनना, घड़े में पानी भरना- कितने सारे काम करने पड़ते थे। शुरू के दिनों में यह सब तो निभाना ही पड़ेगा। खुद कोंहा जोंखेर (उच्च स्तर का जवान) हो जायें तब उनकी भी बारी आयेगी। एतवा ने तेंदू के पत्ते की बीड़ी बनायी, तंबाकू भरा, सुलगा कर दो-एक सुरता खींचा फिर करमा को दे दिया।”¹

घुमकुड़िया के वरिष्ठ युवक निरंकुश नहीं होते और न ही इनके अगुवा या व्यवस्थापक। नये युवाओं को सिखाने, सामाजिक कार्यों में हाथ बंटाने के लिए उन्हें हरसंभव तैयार किया जाता है। घुमकुड़िया न केवल मनोरंजन का केन्द्र है और न ही जीवन साथी चुनने का एकमात्र विकल्प। यह संस्था युवक-युवतियों को जिम्मेदारी संभालने के लायक तैयार करने वाला पारंपरिक शिक्षण संस्थान है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में घुमकुड़िया के प्रांगन में नृत्य-गीत संबंधी सुन्दर वर्णन आया है- “घुमकुड़िया के आँगन में नाच रहे ये युवक-युवतियाँ। चाँदनी में नहायी कृष्णवर्णी मूरतें ...। घेरा बाँधे उराँव युवक, माँदल की थाप पर मण्डलाकार घूमते हुए नाच रहे थे। माँदल की थाप के साथ थिरक रहा था उनका तोलोंग। कमर से बँधा लटकता कपड़े का तोलोंग।”²

घुमकुड़िया में अनेक क्रियाएं होती हैं, नृत्य-गीत भी उसका एक अभिन्न अंग है। दूसरे गाँवों के घुमकुड़िया में युवकों द्वारा अनाधिकार प्रवेश का प्रयास करना दंडनीय अपराध है, फिर भी कुछ युवक जीवन साथी की तलाश में ऐसे जोखिम भरा कदम उठाने में नहीं हिचकते हैं। ऐसे संदर्भ का भी वर्णन

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 111

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 94

हुआ है “इसी प्रकार साहसी आदिवासी युवक दूसरे गाँव की घुमकुड़िया में भी प्रविष्ट हो लेते थे। किसी लड़की से मन मिला तो एक दूसरे को समझते थे। मन-तन को टटोलते थे। आपसी समझ और तालमेल बैठ सका तो ऐसे संबंधों का निर्वाह भी किया जाता था। बात ब्याह तक भी पहुँच सकती थी अन्यथा पहली ही भेंट में बात समाप्त और प्रातः दोनों पक्ष एक-दूसरे के लिए नये-नये हो लेते थे।”¹

युवक का किसी युवती से बिना पहचान के अचानक किसी घुमकुड़िया में प्रवेश करने वाली घटना तार्किक प्रतीत नहीं होती है। मसलन हारिल मुरमू, लाली को पहले से जानता है। और उसे मन ही मन पसंद भी करता है, इसलिए वह लाली से मिलने के लिए घुमकुड़िया चला आता है- “थोड़ी देर और प्रतीक्षा करने के बाद भी जब सब कुछ शांत रहा तो साहस कर हारिल मुरमू वृक्ष से नीचे उतरा और दबे पाँव लड़कियों के ‘पेल-एरपा’ की ओर बढ़ा ... हारिल मुरमू निडर उस झोंपड़ी में जा घुसा जिसके भीतर थी लाली। अठारह वर्ष का हारिल मुरमू वयस के उस पड़ाव पर था जहाँ खड़े युवक की आँखें से दुःसाहस झाकने लगता है ... लाली की पहचान तय होते ही हारिल मुरमू ने झुककर लाली का हाथ पकड़ लिया। धीरे से खींचा ... उठने का संकेत। लाली ने मनोवांछित प्रतिक्रिया व्यक्त की।”²

तत्पश्चात लाली को कुछ दूर लेकर एकांत में बैठकर अपनी पुरानी यादों को ताजा करते हैं। भावी जीवन के बारे में विचार करते हैं। घुमकुड़िया के सदस्य किसी उम्रदार पुरुष अथवा महिला के संरक्षण में रहते हैं। डॉ. बी. वीरोत्तम के अनुसार “घुमकुड़िया समुदाय में बातें गोपनीय रखी जाती थीं। अनावश्यक अफवाह फैलाने पर कन्याओं को दंडित किया जाता था। अपराध करने वालों को सामुदायिक नृत्यों से वंचित कर दिया जाता था... दूसरी ओर सयाने लड़के तथा लड़कियाँ छोटे-बच्चों को अनुशासन तथा कुशल नागरिकता का पाठ पढ़ाती थीं। दुर्भाग्यवश बाद की बदलती परिस्थितियों में घुमकुड़िया संस्था का हास होता गया। घुमकुड़िया में वाद्य-यंत्रों के अतिरिक्त हाथी, घोड़ा, मछली तथा मगरमच्छ के लकड़ी के

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 95

² वही, पृ.सं. 97

प्रतीक तथा मुखौटे भी रखे जाते थे। लड़कियों के लिए एक अलग घुमकुड़िया होती थी जिसकी जानकारी केवल इसके सदस्यों तथा लड़कों की घुमकुड़िया को रहती थी।¹

इससे स्पष्ट होता है कि युवक-युवतियों के अधिकतर क्रियाकलाप साथ-साथ होते थे, लेकिन सोना अलग-अलग होता था अर्थात् युवक और युवती दोनों के लिए अलग-अलग घुमकुड़िया की व्यवस्था होती थी। नये सदस्यों का घुमकुड़िया में प्रवेश विशेष अवसरों (फागुसेन्द्रा एवं बिसु शिकार) पर होता था। घुमकुड़िया में अनुशासन एवं विधि व्यवस्था बनाये रखने की विशेष जिम्मेदारी मुखिया एवं कोतवार की होती है।

4.3.4 विवाह

विवाह एक सामाजिक संस्था है जो सृजन प्रक्रिया को व्यवस्थित और नियंत्रित करने का प्रयास करती है। यौन इच्छाओं की नियमित पूर्ति की सामाजिक स्वीकृति ही विवाह नामक संस्था को जन्म देती है।

आदिवासी समुदायों में विवाह की पारंपरिक रीति-रिवाज अलग-अलग है, कुछेक समानताओं को छोड़कर जैसे झारखंड के आदिवासियों में वधू मूल्य चुकाने की परंपरा सामान्य है। सामाजिक संबंधों तथा सांस्कृतिक आधारों पर विवाह के स्वरूप बदलते रहते हैं। मानवीय समुदायों में विवाह सार्वभौमिक है। समाजशास्त्रियों का मत है कि विवाह केवल यौन संबंधों की संतुष्टि का साधन ही नहीं है वरन् यह व्यक्ति की यौन इच्छाओं को नियंत्रित भी करता है।

4.3.4.1 परिभाषा

वेस्टरमार्क के अनुसार “विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध है जो प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृत होता है तथा जिसमें संगठन में आने वाले दोनों पक्षों तथा उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।”²

¹ झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति - डॉ. बी. वीरोत्तम, पृ.सं. 465

² जनजातीय समाजशास्त्र - डॉ. श्रीनाथ शर्मा, पृ.सं. 30 उद्धृत

लावी के अनुसार “विवाह स्पष्टतः उन स्वीकृत संगठनों को प्रकट करता है जो यौन संबंधों की संतुष्टि के पश्चात भी अस्तित्व में रहता है तथा बाद में पारिवारिक जीवन की आधारशिला के रूप में आता है।”¹

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार “विवाह एक प्रजनन मूलक परिवार की संस्थापना की समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विधि है।”²

उक्त परिभाषाएं अपने आप में पूर्ण नहीं हैं, उनकी सीमाएं स्पष्ट हैं। तीनों परिभाषाओं में सामान्य तौर पर यौन-संबंध को जोर दिया गया है, जो विवाह का एकमात्र और अंतिम उद्देश्य नहीं है। विवाह के संदर्भ में आदिवासियों की अपनी सामाजिक मान्यताएं और रीति-रिवाज हैं, जो हर आदिवासी का दूसरे आदिवासी से भिन्न है।

4.3.4.1.1 विवाह के प्रकार या स्वरूप

4.3.4.1.2 एक-विवाह

“जब तक समय में एक पुरुष एवं यौन संबंधों की तुष्टि तथा बच्चों के लालन-पालन का कार्य सामाजिक अनुमति से पूर्ण करते हैं। इसे हम एक विवाह कहते हैं। विवाह का यह स्वरूप वर्तमान में सर्वाधिक प्रचलित है। संपूर्ण सभ्य समाज इस प्रकार के विवाह को उचित मानता है।”³ झारखंड के आदिवासियों में एक विवाह का प्रचलन है, कुछ विशेष परिस्थितियों (बांझपन, असामयिक मृत्यु) में दूसरा विवाह किया जाता है।

4.3.4.1.3 क्रय विवाह

इस तरह के विवाह में वधू-मूल्य चुकाना अनिवार्य होता है। जिसे आदिवासी शब्दावली में ‘पोन’ या ‘सुखमुढ़’ कहा जाता है। झारखंड के लगभग सभी आदिवासियों में वधू-मूल्य चुकाने के पश्चात् ही विवाह संपन्न होता है। प्रारंभ से वधू-मूल्य के रूप में गाय या बैल देने की परंपरा रही है, किन्तु आज लेन-

¹ जनजातीय समाजशास्त्र - डॉ. श्रीनाथ शर्मा, पृ.सं. 31 उद्धृत

² वही, पृ.सं. 31 उद्धृत

³ वही, पृ.सं. 36

देन की प्रक्रिया को आसान और सहज बनाने के उद्देश्य से राशि निर्धारित की जाती है। राशि निर्धारित या तय करने में दोनों पक्षों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शादी के पश्चात लड़के का लड़की के यहाँ जाकर रहने को 'घरजमाई' या 'घर दामाद' कहा जाता है। ऐसे विवाह में वधू-मूल्य नहीं चुकाया जाता है।

4.3.4.1.4 इटूट बापला (अपहरण विवाह)

इस विवाह में लड़की और लड़के की आपसी सहमति होती है किन्तु लड़की के घर वालों की विवाह के लिए सहमत न होने पर लड़का, लड़की को भगाकर ले जाता है उसे इटूट बापला कहते हैं। 'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास में एक प्रसंग है-

“यदि लाली मान गयी तो समाज-गोतिया लाली से हारिल के विवाह की अनुमति दे या न दे, बिचौलिया न सही, मत रहे बाजा-गाजा। नायके, माँझी, गोड़ाईत या परानिक की भी आवश्यकता नहीं होगी यदि हारिल मुरमू लाली से 'इटूट बापला' कर लेगा।

‘इटूट ब्याह’ में न किसी मध्यस्थ की भूमिका आवश्यक थी, न ही परिजनों की उपस्थिति अनिवार्य। हारिल को अकेले पलाशखाँड़ जाना था, लाली को कंधे पर उठाकर भागना था और घने जंगल में जा छुपना था। ब्याह के लिए सहमत होने के बाद भी लाली को दिखावे के लिए तनिक ना-नुकुर करना था। इसके बाद हारिल को लाली की माँग में सिंदूर डाल देना था।”¹

4.3.4.1.5 पलायन विवाह

पारस्परिक सहमति से लड़के और लड़कियाँ कमाने के लिए परदेश पलायन करते हैं और साथ में पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं। जिन्हें गाँव लौटने पर घर वाले स्वीकार कर लेते हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में मजीत और जीरन कमाने के लिए ईंट के भट्टे में जाते हैं। इस दरम्यान जीरन गर्भवती होती है। कहना न होगा ये दोनों पहले से प्रेम करते थे। मजीत थोड़ा और कमाने के उद्देश्य से अकेले जीरन को गाँव वालों के साथ घर भेजता है- “तीन दिन बाद वहाँ से कुछ लोग वापस रामगढ़-गोला की तरफ जा रहे थे। मजीत ने जीरन को उन लोगों के साथ कर दिया। रास्ता तो जैसे-तैसे कट गया लेकिन मजीत के गाँव बड़लगगा की तरफ बढ़ते हुए उसके पैर बार-बार जकड़े जा रहे थे। मजीत के घर वह इसके पहले भी कई

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 90

बार गई थी और उसके बूढ़े माता-पिता से मिली थी। क्या पता उन्हें उसकी स्मृति हो भी या नहीं। इस तरह की अवस्था में बगैर मजीत के बड़लग्गा की तरफ बढ़ते उसके पैर बार-बार काँप उठते थे लेकिन जाना तो था ही।’’¹

जीरन, मजीत के घर पहुँचकर उसकी माँ से साहस जुटाकर कहती है- “मजीत ने मुझे यहीं भेज दिया है। हम दोनों ने ब्याह कर लिया है।...

मैं उसके बच्चे की माँ बनने वाली हूँ।

मजीत की माँ ने आगे बढ़कर उसे अंक में लेते हुए बोली- तो इसमें घबराने की क्या बात। मजीत का घर तेरा घर है।’’² गरीबी या अन्य समस्याओं की वजह से युवक-युवती पलायन विवाह का चयन करते हैं जिसे परिवार और समाज बाद में स्वीकार कर लेता है।

4.3.4.1.6 अगोत्रीय विवाह

आदिवासी समाज के अधिकतर समुदायों में वैवाहिक प्रथा अंतर्विवाही है किन्तु सगोत्रीय नहीं। सगोत्रीय लड़का-लड़की, भाई-बहन के सदृश्य हैं। इसलिए उनका समाज ऐसे वैवाहिक संबंधों की अनुमति नहीं देता है। विवाह के संबंध में ग्राम पंचायत की स्वीकृति बहुत आवश्यक है। जिस विवाह को ग्राम पंचायत स्वीकृति नहीं देती वह विवाह जाति-बहिष्कृत, अमान्य, त्याज्य और असामाजिक मान लिया जाता है।

4.3.4.1.7 विधवा विवाह

आदिवासी समाज में विधवा विवाह की प्राचीन परंपरा रही है। विधवा अपने भावी जीवन के निर्णय लेने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र होती है। ‘जंगल के गीत’ उपन्यास की एक पात्र ‘झरियो’ अपने पति और पुत्र के मृत्युपरान्त दूसरा विवाह फगुवा से करती है- “झरियो बच्चों की सी मासूम निगाहों से फगुवा को टटोलने लगी थी। आगे अनदेखे भविष्य का एक लम्बा, बेतरतीब सिलसिला था। अकेली औरत कब तक उन टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में चल सकती है। नारी तो एक लता होती है, जिसे किसी दरख्त की

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 75

² वही, पृ.सं. 75

परछाइयाँ और सहारे की बेहद जरूरत होती है। वह हाँ कह दे या ...। फगुवा उसकी आँखों में झाँक रहा है। सारा जीवन एक हाँ या ना पर आकर सिमट गया था।’’¹

झरियो भविष्य के बारे में सोच-विचार कर फगुवा के प्रणय निवेदन को अंततः स्वीकार कर लेती है- “फगुवा-झरियों के विवाह से गाँव का हर जन खुश था। पूरे गाँव ने उत्सव में हाथ बंटाय़ा। एक उजड़ा घर फिर से बस रहा था। करमा, गदूरा ने अपने दोस्त के साहस, अच्छे विचार के लिए उसे शाबाशी दी। वैसे झरियो भौजी पहले से ही सबकी भौजी थी, अब तो वह और ही करीब के रिश्ते में बंध गयी थी।’’²

आदिवासी समाज में विधवा विवाह सामान्य और सरल तरीके से संपन्न किया जाता है।

4.4 राजनीतिक जीवन-संघर्ष

एक ऐसा समुदाय जो सदियों से अपने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को अक्षुण्ण रखने के लिए अनवरत संघर्ष करता रहा, उसके राजनीतिक जीवन की कल्पना बेमानी होगी। संविधान निर्माण के समय एडवाइजरी कमिटी (सलाहकार समिति) में आदिवासी प्रतिनिधियों की संख्या मात्र छः थी जिसके संदर्भ में आदिवासी नेता जयपाल सिंह मुण्डा ने अपने भाषण में कहा था, वह द्रष्टव्य है “हमें उस राजनीतिक दृष्टिकोण पर विचार करना चाहिए कि क्यों इस संविधान सभा में सिर्फ 6 ही आदिवासी प्रतिनिधि मौजूद हैं। इसके कारण क्या हैं? संविधान सभा में भी आदिवासियों की बराबर की भागीदारी हो, इसके लिए राष्ट्रीय कांग्रेस ने क्या किया? क्या और आदिवासियों की सहभागिता के लिए कोई प्रावधान या नियम के बारे में सोचा जा रहा है? इस सभा में बैठे हुए सभी पुरुष हैं। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित की तरह हमें यहां इस सभा में और महिलाएं चाहिए ... हमारे लोग आपके नस्लवाद से, हिन्दुओं और उन जैसे बाहरी लोगों के नस्लवादी से पिछले छह हजार सालों से उत्पीड़ित हैं। उससे जूझ रहे हैं। हमारे आदिवासी लोग भी भारतीय हैं और उनका भी उतना ही इस देश से सरोकार है जितना

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 135

² वही, पृ.सं. 136

कि किसी और का। इसलिए एडवाइजरी कमिटी में जिसके लिए सदस्यों का चयन होना है, हमारे लोगों को भी जगह दी जानी चाहिए।’¹

जयपाल सिंह मुण्डा के भाषण में अभिव्यक्त यह राजनीतिक चिंता को समस्त भारत के आदिवासियों के राजनीतिक चेतना का प्रस्थान बिंदु कह सकते हैं। क्योंकि उस समय देश का सुचारू रूप से संचालन और नवनिर्माण किस तरह से हो, इसके लिए संविधान का निर्माण हो रहा था। संविधान सभा के सलाहकार समिति में आपकी सार्थक सहभागिता से बेहतर होने की उम्मीद थी, पर वैसा कुछ नहीं हुआ। उस समय से आज तक आदिवासी समुदाय छले जा रहे हैं।

संविधान प्रदत्त प्रावधान के तहत झारखंड राज्य में आदिवासियों के लिए विधान सभा में 27 सीट और संसद में 4 सीट आरक्षित किये गये हैं। देश की दो बड़ी राष्ट्रीय पार्टियाँ कांग्रेस और भाजपा हैं। लम्बे अर्से से झारखंड में आदिवासी समुदाय कांग्रेस का वोट बैंक हुआ करता था, लेकिन अब परिस्थितियाँ बदली हैं। भाजपा पार्टी ने ‘ईसाई’ बनाम ‘सरना’, धर्मांतरण जैसे मुद्दों को खड़ाकर आदिवासी एकता में खाई पैदा की, जिसके अपने राजनीतिक स्वार्थ हैं, जिसका लाभ भाजपा को चुनाव के समय मिलता है।

4.4.1 क्षेत्रीय दल

झारखंड में घोषित तौर पर चार क्षेत्रीय राजनीतिक दल हैं जो आदिवासी और सदानों में राजनीतिक चेतना पैदा करते हैं। ये दलों के नाम इस प्रकार हैं -

1. झारखण्ड पार्टी (झापा)
2. झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (झामुमो)
3. ऑल झारखण्ड स्टूडेंट यूनियन (आजूस)
4. झारखण्ड विकास मोर्चा (झाविमो)

¹ आदिवासी साहित्य - संपा. गंगा सहाय मीणा, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015, पृ.सं. 4-5

4.4.1.1 झारखण्ड पार्टी

जे. बारथोलमन एक जागरूक और चेतनशील छात्र था। अनेक विद्वानों का मानना है कि जे. बारथोलमन ढाका छात्र यूनियन से प्रभावित होकर एक 'क्रिश्चियन स्टूडेंट यूनियन' का गठन किया, जिसका उद्देश्य प्रारंभ में गरीब विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता करना था। उस यूनियन के विस्तार होने के संदर्भ में अनुज कुमार सिन्हा लिखते हैं - “आदिवासियों का मानना था कि बगैर संगठित हुए आंदोलन नहीं चलाया जा सकता। इसलिए उस छात्र यूनियन का नाम बदलकर छोटानागपुर उन्नति समाज कर दिया।”¹

छोटानागपुर उन्नति समाज का वर्षों बाद अखिल भारतीय आदिवासी महासभा के रूप में परिवर्तित होना झारखंडियों में राजनीतिक चेतना के विकास का द्योतक है। अनुज कुमार सिन्हा आगे फिर लिखते हैं “20 जनवरी 1939 को राँची में अखिल भारतीय आदिवासी महासभा की विशाल रैली आयोजित की गई। इसी सभा में जयपाल सिंह को आदिवासी महासभा का अध्यक्ष चुन लिया गया।”²

अध्यक्ष चुने जाने के पश्चात् जयपाल सिंह मुण्डा के आंदोलन का फोकस अलग झारखंड राज्य पर केन्द्रित हो गया। इनकी रैली में उपस्थित विशाल भीड़ से जन-चेतना को समझा जा सकता है। 1950 ई. में जमशेदपुर में दो दिवसीय आदिवासी महासभा के सम्मेलन में अखिल भारतीय आदिवासी महासभा का नाम बदलकर ‘झारखंड पार्टी’ कर दिया गया। राजनीतिक मांगों एवं राजनीतिक दल के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा कदम उठाया गया। यह एकलौती राजनीतिक पार्टी थी जो झारखंड आंदोलन के लिए आदिवासियों, गैर-आदिवासियों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व कर रही थी। फलतः जयपाल सिंह मुण्डा के नेतृत्व में पार्टी ने पहली बार 1952 विधानसभा चुनाव में 32 सीटों पर कब्जा कर बड़ी विपक्षी पार्टी के रूप में सामने आई। कांग्रेस जयपाल सिंह के नेतृत्व शक्ति को देखकर कुछ प्रलोभन देकर पार्टी को अपने में विलय कर लिया। कांग्रेस में झारखंड पार्टी का विलय जयपाल सिंह मुण्डा की सबसे बड़ी पराजय थी, जिसे मृत्यु पूर्व मुण्डा ने स्वयं स्वीकार किया। इसके साथ ही झारखंड आंदोलन का बिखराव

¹ झारखंड आंदोलन का दस्तावेज - अनुज कुमार सिन्हा, पृ.सं. 30

² वही, पृ.सं. 31-32

प्रारंभ हो जाता है। बावजूद इसके एनई होरो और बागुन सुब्रई जैसे कार्यकर्ताओं ने झारखंड आंदोलन को हर हाल में जिंदा रखने की कोशिश की। उन्हीं के अथक प्रयास से बृहत झारखण्ड के प्रतिनिधियों का सम्मेलन होता है, जिसमें ठोस निर्णय लिया जाता है। “28 दिसम्बर 1967 को अखिल भारतीय झारखंड पार्टी का गठन किया गया। बागुन सुब्रई इसके अध्यक्ष और एनई होरो इसके महासचिव बनाये गये। बागुन कोल्हान में एक सशक्त नेता के रूप में उभरे।”¹

इन प्रमुख आदिवासी नेताओं में बागुन सुब्रई अभी भी जीवित हैं। सम्प्रति वे झामुमो के नेता हैं। झापा फिलहाल नाममात्र की रह गई है जिसके नेता एनोस एक्का हैं।

4.4.1.2 झारखण्ड मुक्ति मोर्चा

‘आदिवासी सुधार समिति’ और ‘शिवाजी समाज’ को मिलाकर ‘झारखण्ड मुक्ति मोर्चा’ की स्थापना 1972 ई. में की जाती है। इससे पहले आदिवासी सुधार समिति का प्रतिनिधित्व शिबू सोरेन और शिवाजी समाज का प्रतिनिधित्व विनोद बिहारी महतो कर रहे थे। ‘झारखंड मुक्ति मोर्चा’ के पहले अध्यक्ष विनोद बिहारी महतो और महासचिव शिबू सोरेन हुए। पार्टी के निर्माण में शिबू सोरेन, ए.के.राय और विनोद बिहारी महतो का योगदान अमूल्य है। तीनों की पृष्ठभूमि और कार्यक्षेत्र अलग-अलग होने पर भी एक मोर्चे पर मिल गये जिसे ‘समर शेष है’ उपन्यास में विनोद कुमार ने बखूबी चित्रित किया है। शिबू सोरेन के व्यक्तित्व और उसके विकास के संदर्भ में हेमंत ने अपनी पुस्तक ‘झारखंड’ में लिखा है, जो द्रष्टव्य है “शिबू सोरेने नीचे से उठे। माटी के आदमी के रूप में। आदिवासी संस्कृति और परंपरा में निहित सोच और संस्कार के बल पर उन्होंने संघर्षों के जरिये जीवन की शिक्षा पायी।”²

शिबू सोरेने की शिक्षा की नींव जन संघर्षों पर आधारित थी। आज भी कायम है सिर्फ उसके स्वरूप बदल गये हैं। शिबू सोरेन दल के मुखिया हैं। शिबू सोरेन ने धनबाद, हजारीबाग और गिरिडीह क्षेत्र में आदिवासियों के वैसे खेतों पर धन कटनी अभियान (आंदोलन) चलाया, जिन खेतों पर महाजन, साहूकारों ने अवैध रूप से कब्जा कर रखा था। महाजनी संस्कृति के खिलाफ मुक्तिकामी संघर्ष, रात्रि

¹ झारखंड आंदोलन का दस्तावेज - अनुज कुमार सिन्हा, पृ.सं.

² झारखण्ड - हेमंत, पृ.सं. 98

पाठशाला और नशामुक्ति जन-आंदोलनों पर इन्होंने सबसे अधिक जोर दिया। शिबू सोरेन का कार्य क्षेत्र संताल परगना और छोटानागपुर के कुछ हिस्से रहे हैं। 1980 ई. में शिबू सोरेन 'झारखंड मुक्ति मोर्चा' के टिकट से पहली बार दुमका संसदीय सीट से सांसद चुने जाते हैं। सम्प्रति वे दुमका संसदीय क्षेत्र के सांसद एवं झामुमो के केन्द्रीय अध्यक्ष हैं। झामुमो का चुनाव चिह्न 'तीर-धनुष' है। पार्टी की स्थापना का उद्देश्य शोषण मुक्त झारखंड का नवनिर्माण था, जो अभी बाकी है।

शिबू सोरेन के आंदोलन-धर्मिता और नेतृत्व क्षमता को रेखांकित करते हुए केदार प्रसाद मीणा लिखते हैं- “धानकटिया आंदोलन बिरसा मुण्डा के ‘उलगुलान’ के बाद का सबसे बड़ा आदिवासी संघर्ष है। बिरसा मुण्डा के बाद के सबसे बड़े आदिवासी जननायक भी शिबू सोरेन ही हैं। जयपाल सिंह तो अभिजात वर्ग से आये थे। वे केवल एक राजनेता थे, जननायक नहीं। बिरसा मुण्डा के बाद शिबू सोरेन ने ही आदिवासियों के दर्द को समझा है। उन्होंने अपनी जान की बाजी लगाकर धानकटिया आंदोलन खड़ा किया था।”¹ उक्त मूल्यांकन सटीक है, लेकिन शिबू सोरेन की सोच आज वह नहीं है, जो पहले थी।

4.4.1.3 आजसू

शिबू सोरेन के सांसद बनने के चंद दिनों बाद, विनोद बिहारी महतो और उनके बीच मतभेद हो जाने पर विनोद बाबू पार्टी से अलग हो जाते हैं, तत्पश्चात शिबू ने निर्मल महतो को झामुमो का अध्यक्ष बनाया और स्वयं महासचिव बने रहे। निर्मल महतो एक काबिल और जुझारू नेता थे, उनकी दूरदृष्टि के संदर्भ में अनुज कुमार सिन्हा ने लिखा है “नये अध्यक्ष निर्मल महतो ने महसूस किया कि सिर्फ जेएमएम के बल पर झारखंड राज्य पाना मुश्किल होगा। इसके लिए उग्र आंदोलन की जरूरत पड़ सकती है। इसलिए बेहतर होगा कि झारखंड मुक्ति मोर्चा का एक छात्र संगठन बने। 1986 में 22 जून को जमशेदपुर में ऑल असम छात्र यूनियन (आसू) के तर्ज पर ऑल झारखंड स्टूडेंट यूनियन आजसू का गठन किया गया। इसके अध्यक्ष प्रभाकर तिर्की और महासचिव सूर्य सिंह बेसरा बनाये गये।”²

¹ आदिवासी : समाज, साहित्य और राजनीति - केदार प्रसाद मीणा, पृ.सं. 156

² झारखंड आंदोलन का दस्तावेज - अनुज कुमार सिन्हा, पृ.सं. 40

निर्मल महतो की कार्यप्रणाली से स्पष्ट होता है कि वे सीधी कार्रवाई पर यकीन करते थे। इसलिए आजसू के नेता-कार्यकर्ताओं को गोरखालैंड बोडो असम से छापामार युद्ध में प्रशिक्षण के लिए वहाँ भेजा गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निर्मल महतो वस्तुस्थिति को देखते हुए अपने कार्यकर्ताओं को उसी के अनुरूप ढालने का प्रयास में संलग्न रहे।

निर्मल महतो की कार्य प्रणाली, जुझारू एवं समर्पित व्यक्तित्व से घबड़ाकर विरोधी तत्वों ने 8 अगस्त 1987 ई. को उसकी हत्या कर दी। उसकी हत्या के साथ झारखंड आंदोलन के तमाम संभावनाओं का अंत हो गया। वर्तमान में आजसू के केन्द्रीय अध्यक्ष सुदेश कुमार महतो हैं। इनके अध्यक्षत्व काल के आंकड़े बताते हैं कि इन्होंने प्रत्येक सरकार से गठबंधन किया सिर्फ सत्ता में मंत्री पद के लिए। यह पार्टी झारखंड की बेहद अवसरवादी, सिद्धांतहीन एवं मूल्यहीन पार्टी है।

सुदेश कुमार महतो सत्ता तक पहुँचने या सत्ता में मंत्री पद की प्राप्ति के लिए किसी भी दल से गठबंधन कर सकते हैं। पिछले विधान सभा चुनाव इसका सटीक उदाहरण है। इसी लालच के फेरे में वे अपनी सीट भी नहीं बचा पाये। आजसू के संरक्षक-संस्थापक निर्मल महतो की सोच और सुदेश कुमार महतो की सोच में जमीन आसमान का फर्क है। इस किस्म के नेतृत्व से न जनता का कल्याण होगा और न ही पार्टी का। जबकि पार्टी की स्थापना का उद्देश्य झारखंड का नवनिर्माण करना था।

4.4.1.4 झारखंड विकास मोर्चा

यह पार्टी झारखंड बनने के बाद अस्तित्व में आयी। झारखंड के प्रथम मुख्यमंत्री बाबूलाल मरांडी इसके संस्थापक एवं केन्द्रीय अध्यक्ष हैं। मुख्यमंत्री काल में डोमेशाइल मुद्दे को लेकर पार्टी में आंतरिक विवाद होने के पश्चात् इन्होंने पहले मुख्यमंत्री पद से, फिर बाद में भाजपा पार्टी से इस्तीफा दे दिया। इन्होंने एक किताब लिखी है 'ग्रेटर राँची क्यों' इस पुस्तक के संदर्भ में प्रसिद्ध चिंतक, विचारक और आलोचक खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है "बाबूलाल मरांडी ने ग्रेटर राँची के बहाने वास्तव में पूरे झारखंड के विकास के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं जाहिर है कि राजधानी के बारे में सोचते समय राज्य भर के बारे में सोचना चाहिए। लेकिन पुस्तक 'ग्रेटर राँची क्यों' पढ़ने पर पता चलता है कि कहीं किसी मुद्दे पर कोई गंभीर बात नहीं कही गयी है और कोई अपेक्षित योजना तो एकदम नहीं है। मसलन सिंचाई के

सवाल पर लिखते हुए पूर्व मुख्यमंत्री लिखते हैं- सिंचाई क्षमता का सृजन एक महंगा निवेश है। इसमें किये गये खर्च की उगाही यद्यपि शत-प्रतिशत संभव नहीं है, फिर भी उपभोक्ताओं को इस सुविधा के उपयोग के साथ-साथ इसके खर्च का बोध कराना आवश्यक है। इस कथन पर विचार करें तो यह समझ में आएगा कि सिंचाई और खेती के संबंध पर भी मरांडी जी बाजारतंत्र की दृष्टि से सोच रहे हैं। इसलिए इसमें निवेश, उपभोक्ता और उगाही शब्द आये हैं।¹

जाहिर है बाबू लाल मरांडी ने अपने मुख्यमंत्री काल में कारपोरेट घरानों से अनेक एम.ओ.यू. किए होंगे, ऐसे में उनकी सोच ही किताब में प्रतिबिंबित होगी इसमें कोई दो मत नहीं है। गाँव से कहीं ज्यादा, शहर के विकास की चिंता उसके केन्द्र में है। यह तथाकथित मुख्यधारा के दिक् सोच का द्योतक है।

4.4.2 उपन्यासों में चित्रित राजनीति

‘रेड जोन’ उपन्यास में बड़े नेताओं के असली चरित्र, उनके प्रकार, उद्देश्य, जनता को मूर्ख बनाते रहने की चाल, लुभावना आश्वासन, रैली या मंच में दिये गये भाषण के पीछे का असली सच को लेखक परत-दर-परत उघाड़ने का प्रयास किया है। ‘मिशन झारखंड’ उपन्यास में दल के अध्यक्ष द्वारा भाई-भतीजावाद को बढ़ावा देना, समर्पित कार्यकर्ताओं की उपेक्षा, उपेक्षित कार्यकर्ताओं का दल त्यागना, चुनाव में असामाजिक तत्वों का सहयोग लेना, विधायकों का खरीद-फरोख्त, सत्ता तंत्र द्वारा पुलिस-प्रशासन का राजनैतिक हित के लिए दुरुपयोग आदि विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

‘रेड जोन’ उपन्यास में राजनीति में किस तरह के लोगों का पदार्पण होता है, उनकी प्रबल इच्छाएं क्या होती हैं, राजनीति का मिजाज कैसे बदलता है उसके संदर्भ में उपन्यास का एक पात्र कॉमरेड महेन्द्र सिंह कहता है- “देखिए राजनीति में तीन तरह के लोग आते हैं। एक तो वे जो अपनी आर्थिक-सामाजिक हैसियत को बनाये रखना चाहते हैं, दूसरे वे जो आर्थिक और सामाजिक हैसियत बनाना चाहते हैं और तीसरे वे जो आर्थिक और सामाजिक स्थिति को बदलना चाहते हैं। ए.के. राय, शंकर गुहा नियोगी जैसे

¹ झारखंड इन्साइक्लोपीडिया (खंड-3) - संपा. सुधीर पाल, पृ.सं. 415

लोग सामाजिक-आर्थिक स्थिति को बदलना चाहते हैं। नामधारी में उस शुचिता को खोजने की कोशिश करना मूर्खता है।’¹

कहना नहीं होगा यहां पर वामपंथी नेता द्वारा सत्ता पक्ष के एक नेता के जनहितैषी पक्ष पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है। यह उस समय के राजनीतिक माहौल (परिवेश) का चित्रण है जब बाबूलाल मरांडी की सरकार गिरने वाली थी।

‘रेड जोन’ उपन्यास में विस्थापितों के सरना स्थल पर सीआईएसएफ के जवानों द्वारा लगातार शौच कर अपवित्र करने के विरोध में विस्थापित आदिवासी दो जवानों की खूब पिटाई करके बंधक बना लेते हैं। इसकी सूचना मिलते ही सीआईएसएफ के जवान दो-तीन मिलीटरी गाड़ियों में भरकर गाँव आकर खूब उत्पात मचाते हैं, घरों को तोड़ा जाता है, महिलाओं से जबरदस्ती की जाती है। इसके पश्चात गुरुजी विस्थापितों (पीड़ितों) को न्याय दिलाने और दोषियों पर फौरन कार्रवाई करने की मांग लेकर लोगों को गोलबंद करते हुए कहते हैं “उन्हें यहाँ से जाना होगा। घटना के लिए जिम्मेदार सीआईएसएफ के जवानों और अधिकारियों को सजा देनी होगी। सीआईएसएफ के डीआईजी को गिरफ्तार करना होगा। 15 दिनों के अंदर सीआईएसएफ का कैंप यहाँ से नहीं हटा तो हम यहाँ फिर जुटेंगे। तुम अकेले नहीं हो। पूरे झारखंड से लोग यहाँ आएँगे। कोयलांचल के मजदूर यहाँ आएँगे। इस कारखाना को ठप कर देंगे। पूरे बैरक की घेराबंदी करेंगे। बोलो, तुम सभी तैयार हो न? भीड़ ने जवाब दिया- हाँ हम तैयार हैं।”²

उक्त आश्वासन देने के पश्चात् गुरुजी यानी शिबू सोरेन सिरे से गायब हो जाते हैं, गायब तो होना ही था, क्योंकि वे कारखाना-प्रबंधन से पहले ही मिले हुए थे। विरोध में भाषणबाजी तो महज सहानुभूति प्रकट करने का नाटक था। इसे वर्तमान राजनीतिक आश्वासन के संदर्भ से जोड़कर देखा जा सकता है।

‘मिशन झारखंड’ उपन्यास में चुनाव के पूर्व और चुनाव के पश्चात् विजयी निर्दलीय विधायकों का महत्व एवं उनकी चरम इच्छा क्या होती है, इसके संदर्भ में ‘जमो’ यानी जनहित मोर्चा का अध्यक्ष

¹ रेड जोन - विनोद कुमार, पृ.सं. 321

² वही, पृ.सं. 328

शंकर मांझी कहते हैं - “इस जोसेफ की यह हिम्मत! मेरे मुकाबले खड़ा हो गया। मेरे सामने कल तक बोलने की हिम्मत नहीं होती थी। अब मुख्यमंत्री बनने का ख्वाब देखने लगा। राजनीति में खींचकर उसे मैंने लाया। बोलना सिखाया। विधायक बनवाया ... अब इतरा रहा है। भाड़ में जाये राजनीति। भाड़ में जाये सरकार, मुझे नहीं करनी किसी की खुशामद।”¹

शंकर मांझी के उक्त कथन से उनका स्वाभिमान कम, अहं और स्वार्थ ज्यादा जाहिर होता है, क्योंकि जोसेफ अपने बलबूते पर निर्दलीय चुनाव जीतकर आया था। सरकार बनाने के लिए निर्दलीयों की खरीद-फरोख्त किस कदर होती है और मुख्यमंत्री बनना कौन नहीं चाहता है, उसके संदर्भ में उपन्यास का पात्र अबोधकान्त कहता है “कोई भी निर्दलीय विधायक एकाध करोड़ से कम पर अभी नहीं मानने वाला है। शंकर गाँठ ही नहीं खोलना चाहते। स्टील मंत्रालय में करोड़ों का वारा-न्यारा किया, लेकिन सब डकार जाना चाहते हैं। उन्हें प्लेट में सजाकर मुख्यमंत्री पद सौंपा जा रहा है। लेकिन खाना तो उन्हें ही हाथ बढ़ाकर खाना पड़ेगा। मुँह में भी हम ही डाल दें? अगर आप लोग तय करते हैं कि मुख्यमंत्री मुझे बनना है तो मैं पैसे की व्यवस्था कर लूँगा। अब पैसा खर्च करना चाहते नहीं और मुख्यमंत्री बनना चाहते हैं। क्यों जोसेफ बाबू... आप भी बगैर धेला खर्च किये मुख्यमंत्री बनना चाहते हैं।”²

उक्त पंक्तियाँ चंद वर्ष पूर्व झारखंड के राजनीतिक हालात की ओर इशारा करती हैं, क्योंकि यहाँ निर्दलीय मुख्यमंत्री रहे, उनका क्या हश्र हुआ यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

4.4.2.1 मतदाताओं में अंतर्विरोध

आज यह वाक्य धड़ल्ले से सुनने को मिलता है कि राजनीति में अपराधीकरण हावी होता जा रहा है, लेकिन सवाल यह है कि आपराधिक छवि या प्रवृत्ति वाले उम्मीदवार को कौन वोट देता है? उसकी विजय कैसे होती है? जिसके संदर्भ में लेखक एक जगह लिखते हैं “अब इनमें ऐसी कौन सी अनहोनी हो गयी कि रंजीत यहाँ इन लोगों के साथ है। राजनीति में अपराधी भरे पड़े हैं। एक रंजीत क्या, दर्जनों रंजीत जनता के वोट से चुनकर विधानसभाओं और संसद को सुशोभित कर रहे हैं। जनता ही उन्हें वोट देकर

¹ मिशन झारखंड - विनोद कुमार, पृ.सं. 41

² वही, पृ.सं. 51

विधायक और सांसद बनाती है और फिर इस बात का रोना रोया जाता है कि राजनीति का अपराधीकरण हो रहा है।¹ उक्त पंक्तियाँ आज के मतदाताओं के अंतर्विरोधों को स्पष्ट ढंग से उजागर करती हैं।

4.4.2.2 नवनिर्वाचित विधायकों का अपहरण

सुफल मरांडी राष्ट्रीय पार्टी (रापा) के तत्कालीन मुख्यमंत्री हैं। वह अपनी सत्ता और प्रशासन का प्रयोग नवनिर्वाचित विधायक मनीष तिकी के अपहरण के लिए इस प्रकार करते हैं “सुफल ने एक हँसी से उनका जवाब दिया और बोले : मनीष से मिलना है जितनी जल्दी हो उन्हें यहाँ लेकर आओ। कहना मुख्यमंत्री मिलना चाहते हैं। आने के लिए तैयार न हो तो थोड़ा बल प्रयोग भी कर सकते हो।”²

विजय जुलूस निकलने से पहले ही एस.पी. साहब मनीष तिकी को मुख्यमंत्री के समक्ष ले आते हैं फिर मुख्यमंत्री कुछ बातचीत करने के बहाने, उसे राँची ले आते हैं। दूसरी ओर हरकिशोर को पहले ही राँची के एक होटल लाकर ठहराया जाता है। बाद में इनकी रखवाली अपराधी रंजीत के जिम्मे सौंप दी जाती है। रंजीत इनका पूरा ख्याल रखता है और धमकी भरे स्वर में समझाते हुए कहता है “तुमने जो माँगा वह मिल गया है। जिस दिन सुफल मुंडा मुख्यमंत्री पद की शपथ लेंगे, उस दिन तुम दोनों भी मंत्री पद की शपथ लोगे। कोई कसर रह गयी हो तो वह बोल दो, पूरी कर दी जाएगी। लेकिन यदि कोई गड़बड़ी की तो भेजा उड़ा दिया जाएगा। मैं और मेरे कुछ लोग हमेशा तुम पर और तुम्हारे परिवार पर नजर रखेंगे। और हमें, तुम्हें गोली मारते जरा भी देर नहीं लगेगी। उसके बाद खबर फैला दी जाएगी कि जमो के गुण्डों ने तुम्हें गोली मार दी।”³

कहना नहीं होगा बहुमत जुटाने के लिए विधायकों का अपहरण कर अपने वश में रखने के लिए बड़े नेता, अपने पोषित अपराधियों का इस्तेमाल करते हैं। यह उसका सटीक उदाहरण है। लेकिन आज विधायकों को अपने वश में करने के तौर-तरीके बदलते जा रहे हैं।

¹ मिशन झारखंड - विनोद कुमार, पृ.सं. 75

² वही, पृ.सं. 27

³ वही, पृ.सं. 68

रामो (राष्ट्रीय मोर्चा) के प्रति राज्यपाल के उदासीन रवैये और जमो (जनहित मोर्चा) के प्रति सहयोगात्मक रूख को देखकर सुफल मुंडा उमेश यादव को सारे बंधक बनाये विधायकों को झारखंड छोड़कर छत्तीसगढ़ जाने की हिदायत देते हैं “ठीक उसी वक्त उमेश, चन्द्रमोहन, साधु, मनीष और हरिकिशोर तीन कारों में सवार राजधानी के बाहर निकल रहे थे। शाम का अंधकार पहले वाहनों के भीतर घुसा और फिर कारों की तेज रोशनी के साथ सड़कों पर फैल गया। राजधानी के कोलाहल का कहीं दूर-दूर तक पता नहीं था।”¹

उक्त कदम इसलिए उठाया गया कि जनहित मोर्चा दल शपथ ग्रहण करने के बाद, दो विधायक मनीष तिकी और हरिकिशोर को छुड़ाने का हरसंभव प्रयास करते।

4.4.2.3 वामपंथियों का प्रभाव

विभिन्न उपन्यासों में वामपंथी विचारधारा के कार्यकर्ताओं के प्रभाव और उनके योगदान को संदर्भानुसार अध्ययन कर, विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा। साथ-ही-साथ वामपंथियों के प्रति लोगों के नकारात्मक एवं भ्रामकपूर्ण धारणा को भी रेखांकित करने का प्रयास किया जाएगा। वामपंथी विचारधारा के कार्यकर्ताओं ने गरीबों, किसानों और कारखाना-खदानों के मजदूरों को शोषण के खिलाफ लामबंद कर, शोषकों का विरोध करने के लिए संगठित करते हैं। और मजदूरों को उनके हक और बुनियादी सुविधा की मांग करने के लिए चेतना से लैश करते हैं। वामपंथी अपनी जान को हथेली में रखकर माफिया, खदान-मालिकों और ठेकेदारों के विरुद्ध एवं शोषितों के पक्ष में खड़े होते हैं। ‘समर शेष है’ उपन्यास में कम्युनिस्टों का आगमन झारखंड में कैसे होता है उसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की अनुशंसा पर धनबाद एक अलग जिला बनकर बिहार में शामिल कर लिया गया। लेकिन बिहार में शामिल किए जाने के बावजूद सांस्कृतिक और भाषायी दृष्टि से बंगाल से प्रभावित था और राजनीति में प्रभावी थे कम्युनिस्ट। धनबाद में चिन्मय मुखर्जी, सिंदरी में ए.के. राय, निरसा में निर्मलेन्दु भट्टाचार्य, मुरलीडीह कतरास आदि क्षेत्रों में साधन गुप्ता, झरिया में एस.के. राय, जिले

¹ मिशन झारखंड - विनोद कुमार, पृ.सं. 99

से सटे हजारीबाग जिले से महेन्द्र भारती, मंजूर हसन आदि। बाद में इस काफिले में झरिया राज स्कूल के शिक्षक एस.के. बख्शी का सत्यनारायण सिंह आदि भी शामिल हो गये।¹

उक्त मार्क्सवादियों ने प्रत्यक्ष व व्यावहारिक तौर पर समाज के लिए कार्य नहीं किया। चंद लोगों ने प्रत्यक्ष तौर पर शोषकों के खिलाफ आवाज उठाई और सामाजिक कार्य को ही अपना कर्तव्य मान बैठे। उनका अध्ययन-विश्लेषण इस प्रकार किया जा रहा है। “यासिन खाँ ने दो विवाह किया। पहली बेगम से मंजूर हसन हुए और दूसरी बेगम से तीन और बच्चे। मंजूर को बहुत शौक से पढ़ाया-लिखाया और ऊँची तालीम के लिए अलीगढ़ यूनिवर्सिटी भेजा। लेकिन वहाँ की तरक्की पसंद वातावरण में बेटा पढ़-लिखकर हाकिम बनने के बजाय खाटी कम्युनिस्ट बन गया और पढ़ाई पूरी कर लौटने के बाद सबसे पहले अपने वालिद की जमींदारी और शोषण के खिलाफ ही उठ खड़ा हुआ। कहते हैं नया मियाँ प्याज ज्यादा खाता है। तो, अलीगढ़ से लौटने के कुछ ही दिन बाद एक सुबह मंजूर ने देखा कि हवेली के सामने निरीह नंग-धड़ंग आदिवासियों की भारी भीड़ लगी है। दरियाफ्त की तो पता चला कि वे सब के सब उनके वालिद के देनदार हैं। कुछ की जमीन उनके पास रहन रखी है, तो कुछ ने कर्ज ले रखा है।

आव देखा न ताव, मुंशी के हाथ से सारा खाता बही छीना और जाकर पोखर में फेंक आए। लौटकर हवेली के सामने खड़ी भीड़ के समक्ष पहली तकरीर दी- तुम किसी के देनदार नहीं। तुम्हारा कोई कर्ज नहीं। जाओ निडर होकर अपने खेत जोतो।²

मंजूर हसन एक व्यावहारिक कम्युनिस्ट थे। जिन्होंने शोषण का विरोध अपने घर से प्रारंभ किया। जाहिर है पिताजी प्रारंभ में नाराज हुए, लेकिन चंद दिनों के बाद स्वयं को पुत्र के अनुरूप ढाल लिये। मंजूर हसन घर में नौकरों की संख्या कम कर दी, वे अपना काम स्वयं कर लेते थे। ये सैद्धांतिक कम्युनिस्ट नहीं थे, इन्होंने स्वयं को गरीबों के अनुरूप ढाल कर गरीब, आदिवासियों के वैसे जमीन, जिनको महाजन, सूदखोरों ने अपना लिया था उसे वापस दिलाये। आदिवासियों के महान नेता शिबू सोरेन भी

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 124

² वही, पृ.सं. 138

मंजूर से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए। आदिवासियों की मूल समस्याओं के बारे में वे समझाते हुए कहते हैं-

“शिबू असली समस्या यह है कि आदिवासी नशे की लत में बुरी तरह जकड़े हैं। सैकड़ों वर्षों से लगातार संघर्ष करते, मार-काट करते और जेल की सलाखों में बंद होकर उन्होंने समझ लिया है कि उनके शोषण का कोई अंत नहीं। ... नशे की लत से मुक्त करना, उन्हें शिक्षित करना एक बहुत बड़ा जेहाद होगा। उसके बाद वे खुद अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर लेंगे।”¹

उक्त समस्याएं आदिवासियों को दिनों-दिन निर्धन एवं कमजोर बना रही है। दरअसल साहूकार और ठेकेदारों ने शराब को आदिवासियों के शोषण के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। मंजूर हसन के विचार और कार्य व्यवहार, न केवल शिबू सोरेन को प्रभावित किया, बल्कि उनके तमाम शंकाओं को स्पष्ट कर दिया “शिबू ने अपने भीतर एक नई ताकत महसूस की। अजीत दा से मिलकर-बतियाकर वे ऊहापोह में फँसकर रह गये थे। लेकिन मंजूर हसन के साथ व्यावहारिक स्तर पर सब कुछ देख-समझकर उनकी तमाम भ्रांतियाँ दूर हो चुकी थीं। जीवन का लक्ष्य बिल्कुल साफ था - मानव विकास की मुख्यधारा में रहते हुए अपने अस्तित्व के लिए निरंतर समझौता विहीन संघर्ष ...”²

शिबू सोरेन प्रारंभ से ही कम्युनिस्टों के संपर्क में रहे, विशेषकर ज्योति बसु और ए.के. राय से बेहद प्रभावित हुए। उनसे उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला, लेकिन वे कम्युनिस्ट नहीं बने। कम्युनिस्टों की बात की जाए और ए.के. राय का नाम न लें असंभव है। अनुज कुमार सिन्हा अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं- “शोषण-अत्याचार ठेकेदारी प्रथा, महाजनी प्रथा के खिलाफ अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग संगठन आंदोलन चला रहे थे। इनमें से एक थे ए.के. राय। युवा इंजीनियर थे। जब देखा कि मजदूरों का शोषण हो रहा है तो उन्होंने नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और आंदोलन में कूद पड़े।”³

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 141

² वही, पृ.सं. 141

³ झारखंड आंदोलन का दस्तावेज - अनुज कुमार सिन्हा, पृ.सं. 35

ऐसा समर्पित, जुझारू व्यक्तित्व वाले बहुत कम देखने को मिलते हैं जो इतना बड़ा त्याग करे। इन्होंने नौकरी में रहकर भी प्रतिष्ठान के बड़े अधिकारियों की खुलकर आलोचना की और मजदूरों के हितों को लेकर कभी समझौता नहीं किया- “सभाकक्ष में लोग स्तब्ध रह जाते हैं। मुख्य अतिथि अपनी नाराजगी का सार्वजनिक प्रदर्शन करते हुए मंच से उठ जाते हैं। चारों तरफ अफरा-तफरी मच गई है। संचालक एक तरह से जबरन वक्ता के हाथ से माइक छीन लेता है। ...

ए.के. राय - यहीं केमिकल इंजीनियर हैं इनको माइक दी किसने? कौन बुलाया था उन्हें? अरे भइया, यहाँ के अभियंता हैं, काबिल आदमी हैं। अब कौन जानता था कि मंच पर पहुँचकर अधिकारियों की ही खिंचाई करने लगेंगे।”¹

इस प्रकार वे अपने उसूलों के साथ कभी समझौता नहीं किया। सुदूर गाँवों में जन-जागृति लाने के लिए उन्होंने रात्रि पाठशाला भी शुरू किया, जिसका उद्देश्य ग्रामीणों को न केवल अक्षर ज्ञान प्रदान करना, बल्कि उनमें राजनीतिक चेतना भी पैदा करना था।

‘धार’ उपन्यास की नायिका ‘मैना’ वामपंथी कार्यकर्ताओं के संपर्क में आकर एवं उनके साथ कार्य करते-करते विरोधियों का तार्किक और व्यवहारिक एवं मुँह तोड़ जवाब देने लगती है। वह गंधक के तेजाब फैक्टरी से उत्पन्न समस्याओं के बारे में लोगों को समझाती है तथा अपने समुदाय के लोगों को संगठित करने का प्रयास भी करती है जिसके संदर्भ में मधुरेश एक जगह लिखते हैं “अविनाश शर्मा और उसके सहकर्मियों का वामपंथी दल बस्ती में लोगों को संगठित करके, राजनीतिक दृष्टि से सचेत करते हुए, इस कारखाने के विरोध को एक तरह से केन्द्रीय मुद्दा बनाता है ... ऐसी स्थितियाँ पैदा की जाती हैं कि आतंक और भय के कारण उसे कोई जनसमर्थन नहीं मिल पाता। शर्मा के प्रोत्साहन पर जब मैना अपना कच्चा-पक्का भाषण देती है और मोड़ल घोषणा करता है कि कोई आदमी फैक्ट्री में काम करने नहीं जाएगा, तो उनके विरुद्ध दमनात्मक कार्रवाई की जाती है।”²

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 129

² वागर्थ - संपा. एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, अंक 225, अप्रैल 2014, पृ.सं. 54

इस प्रकार मैना के व्यक्तित्व में वामपंथियों का विशेषकर अविनाश शर्मा का बेहद प्रभाव देखने को मिलता है। मैना और शर्मा के संयुक्त प्रयास से एक महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ किया जाता है, जिसके संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं “शर्मा और मजदूरों के सामूहिक प्रयास से खड़ी की गयी जनखदान को गैरकानूनी बताकर तोड़ दिया जाता है। उन लोगों के इस प्रस्ताव को भी अनसुना कर दिया जाता है कि सरकार उस खदान का राष्ट्रीयकरण करके मजदूरों की नौकरी को स्थायी करे।”¹

व्यवस्था की विडम्बना यह है कि गैरकानूनी कार्य को प्रोत्साहन दिया जाता है और नेक इरादे के सामूहिक पहल को गैरकानूनी।

4.4.2.4 साहूकार की दृष्टि में कम्युनिस्ट

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास का कथावाचक संजीव वामपंथी विचारधारा का शिक्षक है जो शोषण एवं भ्रष्टाचार का प्रबल विरोधी है। भ्रष्टाचारियों द्वारा संजीव का तबादला राँची के तुपुदाना स्कूल से गजलीठोरी कर दिया जाता है। जहाँ पर स्कूल के नाम पर न कोई भवन है और न ही बच्चे। स्कूल सिर्फ कागजों में जिंदा है, शिक्षक का तो सवाल ही नहीं उठता। और स्कूल का कागज, साहू गगन बिहारी के दुकान में रहता है। साहू संजीव के गजलीठोरी पहुँचने के पूर्व उसके बारे में अनेक भ्रामक धारणाएं फैला रखा है।

“आदमीन जैSSसा क्या रे? जैसे सभी दीकू आदमीन होते हैं, वैसा ही कोमनिस्ट भी होता है। पर खाँटी कोमनिस्ट दीकू होता है बड़ा जहरीला ... नया मास्टर बंगाली है। बंगाली का मतलब समझे बहिरू बूढ़ा? बंगाल देश का आदमी! ... एक तो बंगाली की माटी छिनार, ऊपर से कौमनिस्ट। समझो, माघ में बरसात ... ले जड़इया... !”²

साहू इतना बताकर संतुष्ट नहीं होता है। वह गाँव के स्त्री-पुरुष बच्चे-युवकों, उन सबसे जो उसकी दुकान आते हैं, उनसे कहता है “नहीं, कौमनिस्ट माने बात-बात पर रार-पसारने-वाला दीकू। जो कौमनिस्ट के मन को रूच जाता है, माँगता-उँगता नहीं है - जोर-जबरई से ले लेता है। ... गाँव की

¹ वागर्थ - संपा. एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, अंक 225, अप्रैल 2014, पृ.सं. 54

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 14-15

छौड़ियों को चेता देना, बच के रहेंगी उसकी नजर से ... ध्यान रखना हमारी बात मुलकी। नयका मास्टर से होशियार! समझ ले, खूनी बाघ है वह। जो बाघ को छुए, उसे सतरह घाव और जो कौमनिस्ट को छुए, उसे सत्तर घाव ... तीन बीसी के ऊपर दस और ... ! वह राह-बाट भी पूछे तो कोई मत बतावे। पानी भी माँगे तो कोई पानी न पिलावे ... ।’’¹

संजीव के भ्रष्टाचार विरोधी प्रवृत्ति एवं शोषितों के साथ खड़ा होने के साथ-साथ लोगों में चेतना जगाने की वजह से साहू गगन बिहारी और बेचू तिवारी पहले से भयभीत थे। इसलिए दोनों संजीव के बारे में मिथ्यापूर्ण, तथ्यहीन भ्रामक अफवाहें फैलाते हैं, ताकि गाँव में आने पर कोई उसका साथ न दे और वह अकेला कुछ न कर पाये।

4.4.2.5 पुलिस की दृष्टि में वामपंथी

वामपंथी विचारधारा के कार्यकर्ता गाँव के लोगों को अक्षर-ज्ञान देने के साथ-साथ उनमें सामाजिक-राजनीतिक चेतना जगाने का कार्य करते हैं, जिसे पुलिस इंस्पेक्टर बढ़ा-चढ़ाकर इस प्रकार पेश करते हैं- “यह कम्युनिस्टों का अड्डा है। वे लोग अराजक तत्व हैं। पाठशाला के नाम पर तुम लोगों का ‘ब्रेनवाश’ करने यहाँ आते हैं ... अरे भाई, इन दोनों का कोई दीन-धरम नहीं होता ... जात-पात नहीं मानते ये लोग ... किसी के यहाँ खाने-पीने से इन्हें इन्कार नहीं ... मैं तो ऐसे कम्युनिस्टों को भी जानता हूँ जो गौ-माँस भी खा लेने से परहेज नहीं करते ... बसे-बसाए घर को उजाड़ने-अपने दोस्त की ही लुगाई को ले भागना इनका काम।’’²

कम्युनिस्ट जातीयता, भेदभाव, ऊँच-नीच की भावना नहीं रखते हैं। ये शोषितों के पक्षधर और शोषकों के प्रबल विरोधी हैं। दोस्त या दूसरों की पत्नी को भगाने का आरोप निराधार है, ऐसी घटना समाज में अपवाद स्वरूप देखने को मिलती है। दरअसल पुलिस-प्रशासन, सत्ता तंत्र के शोषण व्यवस्था का सशक्त माध्यम है। छत्तीसगढ़ राज्य इसका सटीक उदाहरण है।

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 18-19

² समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 199-200

4.4.2.6 वामपंथियों में अंतर्विरोध

शराब के महफिल में वामपंथी व्यक्ति की दबी सोच जो अंदर से आती है, वह अपने ही विचारधारा की विरोधी जान पड़ती है, जो उसकी सीमा या खामी है। उपन्यास का पात्र उज्ज्वल राय सुदीप के संदर्भ में कहता है “खुद को सच्चा कम्युनिस्ट, पक्का आदिवासी हमदर्द घोषित करने वाला उज्ज्वल, फिलिप के मरते और डायरेक्ट एक्शन के असफल होते ही अपने पूरे कुनबे के साथ कैसा मुखर हो गया था। एक दिन क्लब में वह मेरे और शीला के संबंधों की चटखारेदार व्याख्या कर रहा था कि मैं खुद को रोक न सका। कंधे पर हाथ रखकर मैंने कहा, मिस्टर राय, तुम बाहर से जितने प्रगतिवादी बनते हो, काश अंदर से भी होते।”¹

वामपंथी अपने कथनी और करनी में सामंजस्य नहीं बैठा पाने के कारण अक्सर आलोचना के शिकार होते हैं। और कभी-कभी वे अपने ही उसूलों के खिलाफ जाते नजर आते हैं, जो उनके अंतर्विरोध का परिचायक है। तन-मन-धन से समर्पित वामपंथी बहुत कम दृष्टिगत होते हैं।

4.4.2.7 मजदूर आंदोलन और राजनीतिक चेतना

औद्योगिक क्रांति ने मजदूर आंदोलन को जन्म दिया। जहां खनिज पदार्थ है, वहां कारखाना होगा, बिना पूंजी के उद्योग की कल्पना नहीं की जा सकती। और मजदूरों के बिना कारखाना चलना असंभव है। पूंजीपति शोषितों के शोषण से आगे बढ़ता है। शोषण के खिलाफ आंदोलन अवश्यंभावी है। मजदूर आंदोलन के गर्भ में राजनीतिक चेतना के बीज छिपे रहते हैं, जो धीरे-धीरे पल्लवित और पुष्पित होते हैं। प्रसिद्ध वामपंथी ए.के. राय एक जगह लिखते हैं “आज झारखंड आंदोलन के इतिहास की खोज हो रही है जो होनी भी चाहिए लेकिन यहाँ के मजदूर आंदोलन का इतिहास भी उतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों को एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। देश-विदेश के घटनाक्रम तथा राजनीतिक उतार-चढ़ाव के बीच झारखंड के मजदूर आंदोलन विशेषकर कोलियरी मजदूरों के आंदोलन को हम चार भागों में बाँट सकते हैं।”²

¹ पाँव तले की दूब - संजीव, पृ.सं. 100-101

² झारखंड इन्साइक्लोपीडिया (खंड-3), संपा. सुधीर पाल, पृ.सं. 401-402

उपन्यासों में चित्रित विभिन्न मजदूर आंदोलन का चित्रण निम्नलिखित प्रकार से किया जा रहा है- “मजदूरों के प्रति आक्रमण और पुलिस को घटना स्थल पर पहुँचा देख गुण्डे भागने लगे थे। दो-चार मजदूरों के हाथों पड़ गये थे। उनकी जबर्दस्त पिटाई हुई। मजदूरों से उन्हें छुड़ाकर पुलिस उन लोगों को अपने साथ ले गई। मजदूरों ने जयघोष किया। मजदूर एकता जिंदाबाद, विनोद बाबू जिंदाबाद। ए.के. राय जिंदाबाद के नारों से वातावरण गूँज उठा ... सभी मजदूर अपने धौरा में वापस चलो। कोई नहीं तुम्हें वहाँ से हटा सकता। लेकिन इसी तरह मुकाबला करने के लिए तैयार रहो। भागकर जाओगे कहाँ?”¹

मजदूरों की लड़ाई का प्रारंभ लठैतों और गुण्डों से होती है जिसकी अगवाई ए.के. राय और विनोद बिहारी महतो करते हैं। ये दोनों वामपंथी विचारधारा से लैस कार्यकर्ता थे।

अधिकांश कोयला खदान निजी मालिकों के द्वारा संचालित हो रहे थे। मालिक प्रबंधकीय कार्य के लिए अफसरों की नियुक्ति किये थे, बाकी मजदूरों को हांकने के लिए लठैत और गुण्डे पर्याप्त थे जो मालिक-ठेकेदारों द्वारा पोषित थे। कोयला खदान के राष्ट्रीयकरण के बाद समस्याएं और बढ़ी, क्योंकि मान्यता प्राप्त मजदूर यूनियन एक ही था ‘इंटक’। इंटक के संचालक सिर्फ अपने लोगों को लाकर भर देते हैं, जिससे स्थानीय उपेक्षित रह जाते हैं, जिसके संदर्भ में ‘समर शेष है’ उपन्यास का पात्र शक्ति कहता है “हम मजदूरों को भड़का रहे हैं? विवाद आप लोग पैदा करना चाहते हैं। खदान हमारी जमीन पर होगा और काम करेंगे बाहर के लोग। खदानों से बर्बाद हो रही है हमारी जमीन, हमारा जीवन। और नौकरी मिलेगी बाहरी लोगों को। यह सब हम नहीं चलने देंगे।

मैनेजर ने भी उसी लहजे में जवाब दिया - हम तुम लोगों से बात के लिए बाध्य नहीं। इंटक हमारे यहां मान्यता प्राप्त यूनियन है। उनकी ही बात हम सुनेंगे।”²

इंटक के नेता दूसरे यूनियन के मजदूरों को बहुत सताते थे जिससे सभी छोटे-छोटे मजदूरों के समूह लामबंद होने लगते हैं “हमें करना यह होगा कि सभी कोलियरियों में अपना संगठन तेजी से मजबूत करना होगा और वर्षों से काम करने वाले सभी कोलियरियों में अपना संगठन तेजी से मजबूत करना होगा

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 236

² वही, पृ.सं. 278

और वर्षों से काम करने वाले मजदूरों की दावेदारी पेश करनी होगी ... इन सबसे मुकाबला करने के लिए हमें अपने संगठन को मजबूत करना होगा।”¹

संगठित होकर ही आंदोलन को आगे बढ़ाया जा सकता है, जिससे अधिकार भावना व राजनीतिक चेतना का प्रस्फुटन होता है।

4.4.2.8 ‘सीता’ की सक्रिय भूमिका

अक्षर-ज्ञान से रहित होकर भी सीता अपने अधिकारों के प्रति सजग और सक्रिय है, यही वजह है कि केदला कोयला खदान के मजदूरों को एकजुट करके ठेकेदारों के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करती है तथा उनका प्रतिनिधित्व भी करती है। और स्वार्थी तत्वों को लताड़ते हुए कहती है- “साले जब ठेकेदारवन से लड़ना था तो कोई नेता नहीं आया, तब गुप्ता मैया ही मार खाई। अब खावे-पकावे खातिर सब चोरवन रातों-रात नेता बन गेल हैं! ... हमनी सब एक बाप की औलाद हैं, दुई बाप के नाया हड़ताल न टूटतै, जब तलक हमर माँग नाय मिलतै!”²

सीता अपने माँगों पर अटल रहने वाली कार्यकर्ता है कभी समझौता नहीं करती है। वह अपनी निजी और सार्वजनिक दोनों जीवन में शोषकों का डटकर प्रतिकार करती है, जिसके संदर्भ में रोहिणी अग्रवाला एक जगह लिखती हैं- “1968 में शुरू हुई यूनियन की गतिविधियों से प्रशिक्षित सीता खदानों के राष्ट्रीयकरण के बाद 1973 ई. में सक्रिय आंदोलन में जिस तरह व्यस्त चित्रित की गई है, वह उसका आरोपित कायांतरण नहीं, उपार्जित आत्मविश्वास है जो दो-दो हड़तालों के सफल नेतृत्व, जेल भरो आंदोलन की सुचारू व्यवस्था, समयानुरूप सटीक रणनीति बनाने के विवेक से लेकर अपने दायित्वों और क्षितिजों के विस्तार तक दिखाई पड़ता है।”

सीता अपने सीमित ज्ञान और व्यापक अनुभव से प्रबंधन और शोषक विरोधी क्रियाकलापों में जैसे धरना-प्रदर्शन, घेराव, सभा और हड़ताल में हमेशा आगे रहती है।

¹ समर शेष है - विनोद कुमार, पृ.सं. 277

² सीता - रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 44-45

4.5 सांस्कृतिक जीवन-संघर्ष

आदिवासी समुदाय अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए सदियों से संघर्षरत है। देश के लगभग हर कोने में जहाँ आदिवासी निवास करते हैं, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की लड़ाई जारी रखे हुए हैं। इनके लड़ाई के स्वरूप और चुनौतियाँ दिनों-दिन बदलती जा रही हैं। उत्तर-पूर्व भारत के पहाड़ी राज्यों में उनके संघर्षों को आसानी से देखा जा सकता है। इसी तरह झारखंड के आदिवासियों की सांस्कृतिक लड़ाई की बहुत लम्बी श्रृंखला रही है।

आदिवासियों के सांस्कृतिक कारकों का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। अब धीरे-धीरे उन्हें संग्रहित कर पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जा रहा है, वो भी बहुत लघु मात्रा में, सतही तौर पर उपलब्ध हैं। इनके संस्कृति के विविध पहलुओं को गहराई से जानने और विश्लेषित करने के लिए उनके लोक-कथाओं, लोकगीतों, लोकनृत्यों, लोककलाओं, पर्व त्योहारों और संस्कारों को करीब से जाकर पड़ताल करने की सख्त जरूरत है, क्योंकि इनके समस्त सांस्कृतिक परंपरा वाचिक रूप में प्रवाहमान हैं। पूर्वजों की अविरल वाचिक परंपरा को आधुनिकता ने बुरी तरह प्रभावित किया है। मनोरंजन के भौतिक साधनों की प्रचुरता ने आदिवासी संस्कृति को बहुत हद तक प्रभावित किया है। आज उसी का नतीजा है कि युवा वर्ग अपने गीत, नृत्य, भाषा, वाद्य यंत्रों से दूर होते जा रहे हैं, अखड़ा का सन्नाटा और सुनापन उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

4.5.1 आदिवासी लोक कथाएँ

लोक कथाएँ आदिवासी संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। संभवतः लोक कथाओं का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ है। जाहिर है इसकी प्राचीनता के संदर्भ में अनुमान ही किया जा सकता है। किसी भी आदिवासी समुदाय का साहित्य उनके मौखिक लोक-कथाओं, लोक-गीतों, लोक-कलाओं, त्योहारों, लोकनृत्यों में ढूँढा जा सकता है, जिसे आज लोक-साहित्य के नाम से जाना जाता है। आदिवासी जीवन की सामूहिक चेतना, उनकी आकांक्षाएँ, दुःख-सुख, अनवरत संघर्ष, उनकी जिजीविषा को लोक मानस की गहराइयों में पहुँचकर ही व्याख्यायित किया जा सकता है। यह कार्य कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं।

लोक कथाएँ आदिवासी पुरखों की वैचारिकी और पारंपरिक जीवन-दर्शन के आधार पर निर्मित होती थीं। जो काल विशेष के लोक मानस के प्रतिबिंब हैं। जटिल समस्याओं का समाधान हमारे पूर्वजों ने उस समय कैसे निकाला, उसे उपन्यासों में चित्रित विभिन्न प्रसंगों के आधार पर समझा जा सकता है।

डॉ. सत्येन्द्र अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘लोक साहित्य विज्ञान’ में कथा-तत्व का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं “लोक-कथा में कथानक एवं भाव तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण है। लोक-कथा का परंपरागत रूप भी उसके कथानक में ही अधिक सुरक्षित है। यदि यह कहा जाए कि लोक-कथा की जितनी भी विशेषताएँ हैं वे अधिकांशतः कथानक में ही व्यक्त हुई है तो अत्युक्ति न होगी।”¹

उक्त विचार में लोक-कथा के कथानक के विश्लेषण में अत्यधिक जोर दिया गया है जो निश्चित रूप से लोक-कथा की पृष्ठभूमि को समझने में मददगार साबित होगा। आदिवासी लोक कथाओं के संदर्भ में श्रीचन्द्र जैन अपनी पुस्तक ‘लोक कथा विज्ञान’ में एक जगह लिखा है “चमत्कार इन काननवासियों को अधिक प्रिय हैं। ये कथाएँ वैदिक साहित्य से भी प्रभावित हैं तथा विभिन्न भारतीय दर्शनों से भी इनका संबंध दिखाई देता है। सतत सहचर्य के कारण वृक्ष-पुष्प, पशु-पक्षी, नदियाँ-नाले, छोटे-बड़े पर्वत आदि इन कथाओं के अभिन्न अंग बन गये हैं। बड़े-बड़े वृक्ष इन आदिवासियों के साथ नाचते-गाते हैं और विभिन्न रूप-रंगों के पशु-पक्षी इनके साथ भोजन करते हैं और सुख-दुःख की घड़ियों में साथी बनते हैं। चील इन अरण्यवासियों के संदेश को लेकर सागर पार जाती है, कबूतर मधुर गीत सुनाता है तथा काग भविष्य का संकेत करता है।”²

उक्त विचार आदिवासी लोक कथाओं के न केवल समानांतर हैं, बल्कि उनकी विषय-वस्तु को चंद शब्दों में ध्वन्यात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया है। झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों में चित्रित लोक कथाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण विभिन्न वर्गों में विभाजित कर संदर्भानुसार किया जाएगा।

¹ लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, पृ.सं. 226

² लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 43

4.5.1.1 औषधीय पहाड़ की चमत्कारिक कथा

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में एक ऐसे पहाड़ का चित्रण हुआ है जिसमें घायल जानवर या इंसान उस पर्वत पर पहुंचते ही स्वतः ठीक हो जाते हैं, बिना औषधि का प्रयोग किये। वह संदर्भ इस प्रकार है “यदि किसी सुअर को तीर लग जाए और वह भागकर उस बुरू (पहाड़/पहाड़ी) की तरफ चला जाए तो तीर अपने आप झड़ जाता है। उसका घाव भी ठीक हो जाता है वह बच जाता है ...”¹

जड़ी-बूटियों से बीमारी या जखम ठीक होने की बातें हमें अक्सर सुनने को मिलती हैं, लेकिन औषधीय पहाड़ में घुसते ही सुअर के शरीर से तीर का गिर जाना और उसका जखम शीघ्र, स्वतः ठीक हो जाना लोक-कथा में ही संभव है।

ठीक इसी तरह का दूसरा संदर्भ उपन्यास में आया है जो इस प्रकार है- “सच्ची। एक बार शिकार का पीछा करते करते हम उस पहाड़ी पर जा चढ़े थे। रास्ते में किसी पौधे के नुकीले कांटे से मेरे बाएं हाथ में थोड़ा गहरा और लंबा सा चीरा लग गया। काफी खून बहने लगा था। मैंने कोई खास परवाह नहीं की और शिकार के पीछे दौड़ता रहा। शिकार तो मिला नहीं पर जब उस पहाड़ से उतरा और अपने घाव पर नजर पड़ी तो यह देख हैरान रह गया कि हाथ में घाव का नामोनिशान नहीं था। मुझे हैरान होते देख मेरे दोस्त ने कहा - ‘किसी औषधीय पत्ते का स्पर्श मिला होगा दौड़ते समय।’ मुझे तो लगता है वहाँ की हवा में... महक में दवा है और यह बात इस जंगल के सभी जानवरों को पता है।”²

आदिवासी अपनी अधिकांश बीमारियों का इलाज जंगल-पहाड़ की जड़ी-बूटियों से करते हैं, इसलिए ये प्रकृति (जंगल-पहाड़) को इसी रूप में देखने के आदी हैं, जो प्रकृति से उनके सहज संबंध होने का द्योतक है।

4.5.1.2 असुरों के विनाश की लोक-कथा

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में असुर लोग लोह गलाने के लिए अत्यधिक वृक्षों की कटाई करने लगे, जिससे वन तेजी से समाप्त हो रहे थे और प्रदूषण तीव्र गति से फैल रहा था, इससे

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 67

² वही, पृ.सं. 67

पेशान होकर सभी प्राणियों ने सिंगबोंगा से अपनी रक्षा के लिए गुहार (अनुनय-विनय) की। उनकी गुहार सुनकर सिंगबोंगा ने असुरों को समझाने के लिए अपने दूतों को भेजा, लेकिन असुरों ने नहीं सुना। यहाँ तक कि सिंगबोंगा ने अपने उड़ने वाले घोड़े को भी उन्हें समझाने के लिए भेजा लेकिन असुरों ने इनकी भी एक न सुनी। इससे परेशान होकर सिंगबोंगा स्वयं दूसरा रूप धारण करके आते हैं- “फिर उन्होंने एक खुजली वाले नौकर का रूप धारण किया और असुरों की बस्ती में जाकर एक बूढ़ा-बूढ़ी के घर में काम करना आरंभ किया। वहाँ काम करने के दौरान सिंगबोंगा ने कई चमत्कार कर दिखाये पर कोई उन्हें पहचान नहीं पाया। एक दिन असुरों ने उस खुजली वाले नौकर को मारने के लिए उसे लोहे की भट्टी में डाल दिया। जब थोड़ी देर बाद वह बिना जले भट्टी से सोना लेकर बाहर निकल आया तो असुर भौंचक्के रह गये। सोने के लालच में वे सभी भट्टी में कूद पड़े और जलकर भस्म हो गये। इस तरह चालाकी से सिंगबोंगा ने जंगल का नाश करने वालों का नाश किया था...”¹

वनों के समाप्त होने से प्रदूषण बढ़ा है, इसी का दुष्परिणाम है ग्लोबल वार्मिंग। यह अतिरिक्त चाह, अतिरिक्त उत्पादन और अतिरिक्त मुनाफा का दुष्परिणाम है। उक्त लोक कथा का मूल बिंदु भी इसी ओर इंगित करता है।

4.5.1.3 गोत्र-निर्धारण की लोककथा

तुबिद एक गोत्र है, जिसका अर्थ चूहे का बिल है। इसके नामकरण के पीछे एक लोक-कथा इस प्रकार है- “धत्! मैं क्यों जन्मूंगी चूहे के बिल में? वो तो एक बार आदिकाल में कुछ ही लोग कोल्हान की ओर आ रहे थे। रास्ते में एक हो औरत ने बच्चे को जन्म दिया। चूंकि हमारे समाज में जन्म के बाद बच्चे की नाल एवं पुरइन को घड़े में रखकर जमीन में गाड़ दिया जाता है, इसलिए एक घड़े की आवश्यकता पड़ गई। अब उस घने जंगल के बीच घड़ा कहाँ से मिलता? इसलिए नाल पुरइन को एक चूहे के बिल में गाड़ दिया गया। उस समय से उस बालक का गोत्र तुबिद रखा गया। हम लोग उसी बालक के वंशज हैं।”²

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 129-130

² वही, पृ.सं. 135

संभवतः किसी कारणवश हो आदिवासी अपने पुराने निवास स्थान छोड़कर नयी जगह अर्थात् कोल्हान बसने के लिए जा रहे होते हैं, इसी बीच एक औरत बच्चे को जन्म देती है। पुरइन अर्थात् नाल को सुरक्षित रखने के ख्याल से, चूहे के बिल में डाल दिया जाता है, जिससे कालांतर में उस बालक के वंशज तुबिद कहलाते हैं। तुबिद गोत्र वाले अपने टोटम यानी चूहा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते हैं। यह टोटम संबंधी दर्शन प्रत्येक आदिवासी समुदाय में देखने को मिलता है।

4.5.1.4 संताल जाति की उत्पत्ति की लोक-कथा

‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास का प्रारंभ एक पौराणिक संताली कथा से होता है। वैसे यह लोक-कथा, लोक-गीत के रूप में दिखाई देती है ढाँचागत तौर पर, लेखक ने इसे पौराणिक कथा माना है जो संताली भाषा में है -

“हिहिड़ी-पिपिड़ी रेबोन जानाम लेन

खोज कामान रेबोन खोज लेन

हराराता बुरू रेबोन खोजलेन

सासाड बेड़ा रेबोन जात लेना

अर्थ - संताल जाति की उत्पत्ति हाँस-हाँसिल नामक पक्षी-युगल के अण्डे से ‘हिहिड़ी-पिपिड़ी’ नामक किसी स्थान पर हुई। ‘खोज कामान’ में आकर संतालों को उनकी पहचान मिली। ‘हराराता’ के पहाड़ों में संतालों के आदि पुरुष ‘पिलचु हड़ाम’ तथा आदि नारी ‘पिलचु बूढ़ी’ ने वंशवृद्धि की। ‘सासाड बेड़ा’ नामक स्थान पर पहुँचकर संताल जाति का विभिन्न गोत्रों में विभाजन हुआ। (एक पौराणिक कथा)’¹

उक्त लोक-कथा संताल की उत्पत्ति, वंश वृद्धि, उनके निवास स्थान और गोत्रों के विभाजन का संक्षिप्त परिचय है।

4.5.1.5 पशु-पक्षियों की लोक-कथा

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास की नायिका रंगेनी अपने बेटे को एक पण्डुक की कहानी सुनाती है। पण्डुक प्रत्येक दिन पीसी का तेल पेरकर राजा के यहाँ पहुँचाया करती थी “तो एक दिन की बात ... !”

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 17

कहानी आगे बढ़ी, पण्डुकी का बच्चा भूखा था। हाथ-पैर पटक रहा था भूख से। गलती से बच्चे का पैर तेल के बासन में लग गया। थोड़ा-सा तेल छलककर बाहर गिर गया...। जाSSSS तेरी।

पण्डुकी डर गयी। तेल घटेगा तो राजा गोस्सा जाएगा। राजा का कोप गिरा तो बहुत मोसकिल...। अब का होगा ददा ... ? पण्डुकी ने हाथ में पकड़ी मूसल से एक मूसल बच्चे की पीठ पर धर दिया। बच्चा 'चेंह' करके घोलट गया और हड़बड़ायी पण्डुकी राजा के घर तेल पहुँचाने निकल गयी। राजा के घर तेल नापा गया। ले मजा, तेल तो तनिको घटा ही नहीं, उल्टे थोड़ा बढ़िए गया।''¹

उपर्युक्त लोक-कथा के पण्डुक में इंसान जैसे सोचने-समझने की क्षमता, काम करने की प्रवृत्ति और डर, भय और प्रेम की भावना विद्यमान है, जो मूलतः मनुष्य के सहयोगी रूप में चित्रित हुआ है।

4.5.1.6 आग से बारिश होने की कथा

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में आग की बारिश होने से मुण्डा आदिवासियों की रक्षा सिंगबोंगा कैसे करते हैं, यह संदर्भ इस प्रकार है “सेंगेलदा में कभी भयानक आग बरसी थी। आसमान से आग की बरखा हो रही थी। मुण्डा लोगों के दादा-परदादाओं पर। तब प्रकट हुए थे सिंगबोंगा। सर्वशक्तिमान देवता। मुण्डा लोगों के रक्षक... !

सिंगबोंगा ने मुण्डाओं को केंकड़े के छिछले गढ़े में छुपा दिया था। मुण्डा लोगों की जान बचायी थी, नहीं तो आज मुण्डाओं के ‘बंसबिरिख’ (वंश-वृक्ष) का नाश हो चुका होता।’’²

उक्त कथा से स्पष्ट है कि सिंगबोंगा ने मुण्डाओं को नष्ट होने से बचा लिया यही वजह है कि इनके सबसे बड़े और लोकप्रिय देवता सिंगबोंगा हैं।

4.5.1.7 दो रानियों की लोक-कथा

‘छैला सन्दु’ उपन्यास में रानीकिंग बुरू अर्थात् दो रानियों का पहाड़। नाम से स्पष्ट है दो रानियों का निवास स्थल। ये दोनों रानी अपनी परोपकारी प्रवृत्ति के लिए अत्यंत प्रसिद्ध थीं। लाढ़ो और हुज्जा नामक दंपति संतान प्राप्ति के लिए हरसंभव प्रयास किये, यहाँ तक कि अनेक देवी-देवताओं के आगे

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 99

² वही, पृ.सं. 95

जाकर माथा टेके लेकिन सब व्यर्थ साबित हुआ। अंत में वे दोनों उन रानियों के पास पहुँचते हैं जिनके बारे में उन्होंने सुना था, अपनी समस्या बताने के पश्चात् रानी उन्हें झिड़की देते हुए कहती हैं- “ऐ मूर्ख औरत! हमारी बात मान। वरना तुम्हारी एक न बनने को है, जाओ, खुशी-खुशी घर जाओ। पूर्णिमा चाँद की तरह हँसमुख और झींगे के पीले-पीले फूल की तरह स्वर्ण-वर्ण एक औलाद प्राप्त होगी।”¹

देवी के वरदान से हुज्जा गर्भवती होती है। लाढ़ो और हुज्जा खुशी से फूला नहीं समाते हैं और वरदान के बदले भेंट स्वरूप लाल कपड़ा और धान अर्पित करते हैं। इस पर देवी नाराज होकर कहती है “हे मूर्ख! हम वरदान का बदला स्वीकार नहीं करती। ऐसा करना हमारे नीति-वचनों के खिलाफ है ... दुष्ट! पापी! बुद्धिहीन मानव! यह क्या किया? तुम नहीं जानते कि हम ऐसी रक्तरंजित लाल वस्तुओं से शक्त नफरत करती हैं और यह जला हुआ धान कहाँ से लाए? क्या तुम्हें ऐसी ही बदसूरत चीजें वरदान में मिली थीं? जाओ तुम्हें इस अपमान के लिए अभिशाप दिया जा रहा है। हम अपना दिया हुआ वरदान वापस लेती हैं। तुम फिर कंगाल बन जाओगे। उस होने वाली औलाद का माँ के पेट में ही देहांत हो जाएगा और इस प्रसव पीड़ा में माँ की भी असमय मृत्यु हो जाएगी।”²

लाढ़ो और हुज्जा अतिरिक्त संपत्ति के लोभ में, प्राप्त वरदान और संपत्ति से असंतुष्ट होकर देवीजन को भेंट चढ़ाने के बहाने उनसे और अधिक वरदान रूपी-संपत्ति प्राप्त करना चाहते हैं, जो उनके विनाश का कारण बनता है अर्थात् अधिक लालची प्रवृत्ति का परिणाम ऐसा ही होता है।

4.5.1.8 परियों की लोककथा

‘गायब होता देश’ उपन्यास में परियों की कथा एक विशेष वन क्षेत्र पर केन्द्रित है जो इस प्रकार है- “यह जंगल इस घाघ की तरह दिन में जितना सुन्दर लगता है, रात में उतना ही खतरनाक है। बाबा आज्ञा बताते हैं कि रात में जंगल में परियाँ उतरती हैं। एक तो रात में इधर आना नहीं चाहिए। आ भी गये

¹ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 79

² वही, पृ.सं. 82

तो जंगल की तरफ ताकना नहीं चाहिए। क्योंकि अगर परियों की नजर पड़ गई तो वे जिंदा आदमी को पेड़ बना देती हैं। इसलिए पानी के तेज बहाव के बावजूद पहाड़ पर पेड़ों की संख्या बढ़ती ही जाती है।’¹

लोक-कथाओं में हमारे पुरखे कुछ शिक्षा की बातें कह गये जो उनकी सोच थी, भावी समाज के लिए वे उसे कथा में मूर्त रूप प्रदान किये।

4.5.1.9 पृथ्वी की उत्पत्ति की लोक-कथा

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में एक ‘हो’ बुजुर्ग सगेन को पृथ्वी की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कहता है- ‘‘फिर सिंगबोंगा ने अपनी जांघ से दो केंचुए पैदा किए। पानी के अंदर जाकर केंचुओं ने मिट्टी निकालना आरंभ किया और धीरे-धीरे मिट्टी का पहाड़ बना डाला। जब मिट्टी सख्त हुई तो धरती बन गयी। जो गड्ढे बचे रहे, वे समुद्र बन गये। धरती बन गयी तो उसमें घास, पेड़, पौधे, पशु, पक्षी और आदमियों की सृष्टि की ... उस सृष्टि की भी अलग कहानी।’’²

आदिवासी लोक-कथाओं का कोई अंत नहीं है। सृष्टि के अधिकतर पदार्थों को लेकर लोक कथाएँ कही गयी हैं जिनके बारे में हम कल्पना नहीं करते, उनसे संबंधित भी लोक कथाएँ उपलब्ध हैं जो आज भी मौखिक परंपरा में जीवित हैं। उन्हें यथाशीघ्र लिपिबद्ध करने की आवश्यकता है।

4.5.1.10 सामूहिकता के उल्लंघन की लोककथा

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास का प्रमुख पात्र सगेन जब एक झरने के नीचे जलाशय में नहाने के लिए छलांग लगाता है वैसे ही पीछे से एक लड़की उस जलाशय में नहाने से मना करने लगती है। सगेन द्वारा मना करने की वजह पूछने पर, बहुत देर के बाद लड़की उस कथा के बारे में कहती है ‘‘एक बार हमारे गाँव का एक आदमी इस जलाशय में उतरा था मछली पकड़ने। उसकी बेटी किनारे खड़ी थी। वह आदमी पानी में डुबकी लगा-लगाकर गमछे से मछली पकड़ रहा था और मछली की गर्दन मरोड़-मरोड़कर उसे किनारे फेंकता जा रहा था। बेटी उन मछलियों को उठा-उठाकर अपने गमछे में रखती जा रही थी। मछली उठाते-उठाते अचानक बेटी ने देखा कि मछली की जगह उसके पिता का सिर आकर

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 139

² मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 146

गिरा है धप्प से। किसी ने उसके पिता के सिर को मरोड़कर फेंक दिया था मछली की तरह। धड़ गायब था। बहुत ढूंढने पर भी वह धड़ नहीं मिला गांव वालों को। यह भी पता नहीं चला कि किसने उसका सिर मरोड़ा। बड़ी विचित्र बात है। बड़ी ही रहस्यमय!’¹

दरअसल वह व्यक्ति गाँव की सामूहिकता के अनुशासन को भंग करके, अधिक मछली के लालच में अकेले पकड़ने गया था। जिसके संदर्भ में लड़की बताती है “हमेशा की तरह गाँव वालों के सामूहिक शिकार पर जाने का दिन निश्चित हो चुका था। समूह में मछलियाँ भी पकड़नी थीं। पर वह आदमी ज्यादा मछलियों की चाह में चुपके से आकर मछलियाँ चुरा रहा था। अब जब हमारे जंगलों पर, नदियों पर, जलाशयों पर पूरे गाँव का, समूह का अधिकार होता है तो कोई कैसे उसका उल्लंघन कर सकता है? उसकी सजा तो उसे मिलेगी ही। कहते हैं, उस एक आदमी के कुकृत्य से यहाँ का बोंगा अब तक नाराज है ...”²

सामूहिकता आदिवासी जीवन दर्शन का महत्वपूर्ण एवं अभिन्न अंग है। सामूहिकता के उल्लंघन और अतिरिक्त चाह की भावना से उनके देवता किस कदर नाराज होते हैं, यह लोक-कथा उसका जीवंत उदाहरण है।

4.5.1.11 गाय के भूल की सजा संबंधी लोककथा

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में सिंगबोंगा ने संपूर्ण सृष्टि करने के पश्चात् गाय को एक जिम्मेदारी सौंपी जो इस प्रकार है- “हां रे होनकोवा। सिंगबोंगा ने धरती, कीट, पतंग, पेड़-पौधा, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि का निर्माण करने के बाद उन्होंने एक गाय को नियुक्त किया और उसे यह जिम्मेदारी दी कि वह जाकर ‘होको’ (आदमियों) को यह संदेश सुनाए कि वे एक दिन में एक बार खाएं और दो बार सोएं। गलती से गाय ने मनुष्यों के बीच जाकर उन्हें उल्टा संदेश सुना दिया। कहा - ‘तुम लोगों को दिन में एक बार सोना है और दो बार खाना है।’ सिंगबोंगा गाय पर नाराज हुए। बोले तुम्हारी इस गलती की सजा

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 133

² वही, पृ.सं. 134

यही है कि तुम्हें मनुष्यों के पालन पोषण की जिम्मेदारी उठानी होगी। मनुष्यों को उनके कृषि कार्य में मदद करनी होगी।”¹

यही वजह है कि गाय-बैल प्राचीन काल से अब तक मनुष्यों के कृषि कार्य में साथ देते आए हैं, लेकिन अनवरत कार्य करने से अत्यधिक थकान महसूस होने लगी तो गाय ने सिंगबोंगा से कहा- “हे सिंगबोंगा हमारी एक गलती की इतनी बड़ी सजा तो मत दीजिए। कम से कम हमारे लिए काम के बीच-बीच में थोड़ा सुस्ताने की तो व्यवस्था कर दीजिए। सिंगबोंगा को उन पर दया आई। बोले - ठीक है ठीक है। मैं कोई बंदोबस्त करता हूँ। ... और उन्होंने खैनी बनाकर दी। मनुष्यों को खैनी की लत लगा दी। अब हल जोतते समय भी खैनी की तलब होने लगी और वे थोड़ी-थोड़ी देर में खैनी खाने के लिए रुकने लगे। इस तरह गाय बैलों को सुस्ताने का मौका मिलने लगा।”²

मनुष्य के खैनी खाने के पीछे उक्त लोक-कथा के अनुसार ऐतिहासिक कारण यह है कि मनुष्य के कृषि कार्य में लगातार साथ देने वाले गाय-बैलों को बीच-बीच में थोड़ी आराम की आवश्यकता पड़ी, इसलिए सिंगबोंगा अर्थात् देवता ने इंसान के लिए खैनी का इजाद कर, उसे उसको खाने का आदी बनाया। इसलिए प्रायः आजकल भी हलवाहे हल चलाते वक्त बीच में कई बार खैनी का सेवन करते हैं।

इंदिरा विरूवा जी ने अपने एक लेख ‘हो लोक परंपरा और लोक साहित्य’ में लिखा जो द्रष्टव्य है- “हो कथाओं में विषयों की विविधता, पात्रों की अनेकता, सामान्य व्यक्ति द्वारा अपने सामर्थ्य से राजा तक को झुकाने की शक्ति आदि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों के पात्र मनुष्य के अलावे पशु-पक्षी, राक्षस, पेड़, पौधे आदि भी होते हैं। इन कथाओं को रोचक बनाने के लिए कथानक रूढ़ियों या अभिप्रायों का भी प्रयोग किया जाता है। इन कथाओं में आपातकाल में सिंगबोंगा द्वारा मदद करना, साँप का रस्सी बन जाना, परी का फूल में निवास करना, आदमी का सर्प में रूपांतरण, आम खाने से गर्भ धारण करना, सियार या

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 139

² वही, पृ.सं. 139

लोमड़ी द्वारा न्याय करना, हड्डी के अवशेष से पुनर्जन्म हो जाना आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हो लोक कथाओं में हो समाज का सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन का जीवंत दर्शन हो जाता है।¹

उक्त लेख में इंदिरा विरूवा ने हो लोक-कथाओं को समग्रतः में वर्गीकृत कर, व्यापक रूप में विश्लेषित करने का प्रयास किया है, जो निश्चित रूप से सराहनीय है।

4.5.2 आदिवासी लोकगीत

प्रायः लोकगीत में काल विशेष की परिस्थिति, भूगोल, सुख-दुख, इतिहास, पुरखों के दर्शन और विचार समाहित रहते हैं। लोकगीत और लोककथा हमारे पूर्वजों एवं पुरखों के अलिखित मौखिक दस्तावेज हैं। डॉ. सत्येन्द्र लोकगीत की परिभाषा इस प्रकार देते हैं- “वह गीत जो लोक मानस की अभिव्यक्ति हो, अथवा जिसमें लोक-मानसाभास भी हो लोक-गीत के अंतर्गत आएगा।”²

लोकगीत सतही तौर पर देखने में सहज, सरल और संक्षिप्त लगता है। लेकिन दरअसल वैसा है नहीं। इनकी व्यापकता, सारगर्भिता और जटिलता के संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र लिखते हैं- “लोक गीतों के शब्दों में लोक-मानस परक अथवा आदिम प्रवृत्ति के जैसा एक प्रभाव होता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, केवल जिसे अनुभव किया जा सकता है। उसमें आदिम मानवीय भावना के उत्तराधिकरण का एक रहस्य भिदा रहता है। उसमें जैसे एक टोना रहता है। लोक-गीत जैसे एक ‘दैवी वाक्य’ है जिसका न कोई निर्माता है न स्वर संधाता। वह जैसे मानव-समुदाय में सहज ही स्वयं ही उद्भूत हो उठा है, और बिना प्रयास के सहज ही कण्ठ से कण्ठ पर उतरती हुई अपनी परंपरा स्थापित करता रहा है। वह सामाजिक समुदायी जीवन से सम्बद्ध रहता है, यह भूमिपुत्र है और निर्वैयक्तिक है, वह अपनी विकास-परम्परा में देशकाल से प्रभावित हो, उसके तत्वों को ग्रहण करता हुआ, फिर प्रवृत्तितः देश-कालों के प्रभावों का संक्रमण करता हुआ, उनकी उपेक्षा करता हुआ, अपनी मूल मानवीय मानसता के सत्व में उन्हें समाहित कर अपनी परंपरा और निरंतरता बनाता है।”³

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - संपा. वंदना टेटे, अंक 1, जून-अगस्त, 2008, पृ.सं. 10

² लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, पृ.सं. 315

³ वही, पृ.सं. 315-316

उक्त विचार लोक गीतों के प्रस्थान बिन्दु, सामूहिकता, सृजनात्मकता, स्वतः प्रवाहमान परंपरा, लोक मानस के सहज स्वभाव को रेखांकित करते हुए उसकी सीमाओं पर दृष्टिपात किया है। दरअसल लोकगीत काल विशेष के लोक मानस का स्वभाव एवं तत्कालीन परिस्थितियों का प्रतिबिंब है। इसलिए उसकी (लोकगीतों) सीमाओं की पड़ताल करने के बजाय, उसके अर्थ के तहों में जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

“लोक-गीतों का आदिवासी जीवन से घनिष्ठ संबंध होता है। इनमें आदिवासी समाज और संस्कृति का प्राचीन गौरव आदर्श की प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होता है। एक-एक गीत में कितना उच्च भाव भरा हुआ है, यह इन गीतों के अध्ययन से विदित होता है। आदिवासियों का गौरवपूर्ण इतिहास, उनकी सांस्कृतिक परंपराएँ, उनके देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मेले त्योहार तथा पुत्र जन्म, विवाह आदि उत्सवों पर उच्छलित भावावेग और विशेषकर स्त्रियों की पोशाकों व आभूषणों की झंकार सभी ने लोक गीतों को जन्म देने में विशिष्टता उत्पन्न की है।”¹

उक्त पंक्तियां आदिवासी लोक-गीतों की विषय-वस्तु, प्रारंभिक स्रोत, उसके क्षेत्र और कैसे विभिन्न अवसरों में प्रस्फुटित होते हैं, उसको उद्घाटित करता है। इन प्रवृत्तियों को आदिवासी लोकगीतों की सामान्य विशेषता कह सकते हैं और कुछ लोक गीतों का अर्थ रहस्यात्मक और दैवीय या अलौकिक भी होता है। उसे आदिवासी लोक गीतों की असाधारण विशेषता कह सकते हैं। आदिवासी लोक गीतों का वर्गीकरण करने में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. राम रतन प्रसाद ने निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया है-

“आदिवासी लोकगीत

आदिवासी संस्कार लोकगीत

आदिवासी व्रत के लोकगीत

आदिवासी क्रिया संबंधी लोकगीत

आदिवासी ऋतु-लोकगीत

आदिवासी जाति के लोकगीत

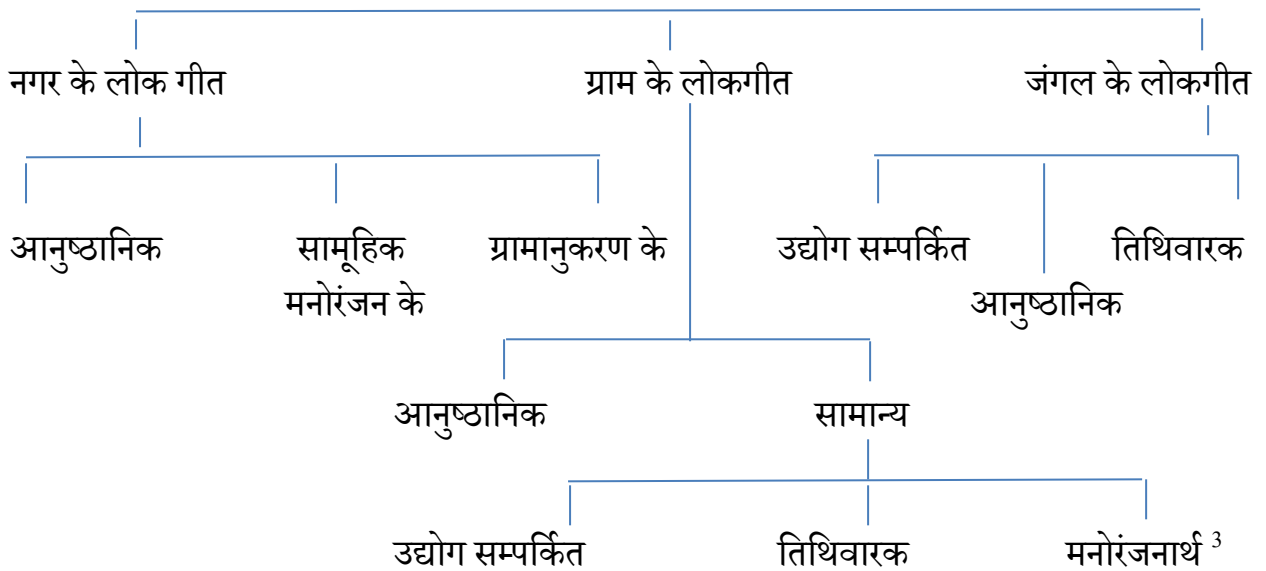
¹ आदिवासी लोक - 2, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 44

आदिवासी विविध लोक गीत’’¹

बिहार के आदिवासियों के संदर्भ में डॉ. राम रतन प्रसाद ने आदिवासी लोक गीतों को सात भागों में विभाजित किया है। जिसका प्रमाण आदिवासी जाति के लोकगीत हैं क्योंकि इसे पुनः चार भागों में विभाजित किया है क्षेत्र विशेष के आधार पर -

1. भोजपुरी आदिवासी जाति के लोकगीत
2. मिथिला आदिवासी जाति के लोकगीत
3. अंगिका आदिवासी जाति के लोकगीत
4. बंगला आदिवासी जाति के लोकगीत’’²

उक्त प्रथम तीन का वर्गीकरण क्षेत्र विशेष के आधार पर तर्कसंगत एवं सटीक जान पड़ता है, किन्तु चौथा वर्गीकरण बांग्ला आदिवासी जाति के लोकगीत समझ के परे है, क्योंकि बिहार के संदर्भ में बात करते हुए बांग्ला आदिवासी जाति के लोकगीत को जोड़ना व्यर्थ विवेक कसरत के समान है। इसी प्रकार आदिवासी-व्रत के लोकगीत का वर्गीकरण अनावश्यक एवं हिन्दू जाति के संस्कार से प्रभावित है क्योंकि आदिवासियों में व्रत रखने की परंपरा शुरू से नहीं थी। डॉ. सत्येन्द्र ने लोकगीतों को दो स्तर नगर और ग्राम मानकर दोनों को समान मानते हुए व्यापक रूप में रेखाचित्र बनाकर प्रस्तुत किया है -



¹ आदिवासी लोकगीतों की संस्कृति - डॉ. राम रतन प्रसाद, पृ.सं. 60

² वही, पृ.सं. 61

³ लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, पृ.सं. 319

डॉ. सत्येन्द्र नगर और ग्राम के लोक-गीत या लोक साहित्य को समान मानते हुए लिखते हैं -
“एक स्तर नगर और ग्राम में बिल्कुल समान जैसा भी विद्यमान मिलता है। तात्पर्य यह है कि लोक-
साहित्य नगर में भी मिलेगा और ग्रामों में भी।”¹

उक्त पंक्तियों में दोनों जगह (नगर और ग्राम) में लोक साहित्य के विद्यमान या मौजूद होने की बात करते हैं, किन्तु उसके मूलभूत अंतर का जिक्र नहीं करते हैं क्योंकि ग्राम का स्वभाव, उसकी मानसिक बनावट नगर से नितांत भिन्न होती है। यदि ग्राम से नगर भी लोक गीतों को स्थानांतरित किया जाए तो भी उसकी मूल स्थापना उसके भाव में परिवर्तन अवश्य होगा, क्योंकि रचने वाले और साधने वाले के बदलते ही देखने की दृष्टि भी स्वतः बदल जाती है। इसलिए नगर और ग्राम में लोक गीतों के समान रूप में विद्यमान होने की धारणा, मिथ्या एवं कल्पित प्रतीत होती है।

4.5.2.1 आदिवासी लोक गीतों का वर्गीकरण

उपन्यासों में चित्रित लोक गीतों के आधार पर आदिवासी लोक गीतों को वर्गीकृत कर उसका अध्ययन किया जाना है-

4.5.2.1.1 संस्कार संबंधी लोकगीत

4.5.2.1.2 कृषि एवं श्रम संबंधी लोकगीत

4.5.2.1.3 ऋतु और अवसरिक लोकगीत

4.5.2.1.4 ऐतिहासिक युद्ध लोकगीत

4.5.2.1.5 विविध लोकगीत

उक्त वर्गीकृत लोकगीतों के आधार पर उपन्यासों में चित्रित गीतों को खंड-खंड करके विश्लेषित करने का प्रयास किया जाएगा। लोकगीत जन-मानस से प्रवाहित अविरल स्रोत हैं। जिनके विषयों की निश्चित संख्या नहीं है और प्रकारों का भी अंत नहीं। वैसे लोकगीतों का सटीक एवं पूर्ण वर्गीकरण आसान नहीं है।

¹ लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, पृ.सं. 319

संस्कार संबंधी लोकगीत

मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज में विविध संस्कारों को संपन्न करना होता है। ऐसे विविध अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों को संस्कार संबंधी लोकगीत कहा जाता है। कहने को सोलह संस्कार हैं, किन्तु आदिवासियों के बीच मूलतः तीन संस्कार संपन्न किये जाते हैं- जन्म, विवाह और मृत्यु। किन्तु जन्म संस्कार का संदर्भ उपन्यासों में कहीं नहीं दिखाई देता है।

विवाह संस्कार संबंधित लोकगीत

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में झरियो स्वयं अपने विवाह में गाने लगती है। विवाह में अक्सर शादी होने वाली लड़की की सहेलियाँ या माताएँ गीत गाती हैं, लेकिन इसमें संदर्भ जरा अलग दृष्टिगोचर होता है क्योंकि झरियो विधवा है और यह उसकी दूसरी शादी है इसलिए वह अनायास गा उठती है -

“लोहेरा-लोहेरा पेलो मैना बेछा केरा (विवाह के संदर्भ में)

मैना निगहैं पेलो कोड़ानू रई॥

पड़री बारी पेलो मैना बेछा केरा

मैना निगहैं पेलो कोड़ान रई॥

अर्थ - लोहरा लड़की मैना ढूँढने गयी,
तुम्हारा मैना तो ऐ लड़की घर के कोने में है॥
सुबह के समय लड़की मैना खोजने गयी,
तुम्हारा मैना तो ऐ लड़की घर के कोने में है॥”¹

उक्त लोकगीत प्रतीकात्मक है। लोहरा लड़की के स्थान पर झरियो को और मैना के स्थान पर फगुवा को प्रतीक रूप में रखा गया है। क्योंकि झरियो विधवा होने के पश्चात् विवाह के लिए ठीक उसी तरह चिंतित है जैसे लोहरा लड़की मैना के लिए।

¹ जंगल के गीत - डॉ. फा पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 136

विवाह विदाई लोकगीत

विवाह संपन्न होने के पश्चात् लड़की के लिए विदाई की बेला अत्यंत मार्मिक एवं कारुणिक होती है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास की रूदिया विवाहोपरांत विदाई के क्षण भाव-विह्वल हो जाती है। इस अवसर पर महिलाएँ विदाई के कारुणिक गीत इस प्रकार गाती हैं-

“... जिस गाँव में तू जाएगी ओ धिया, सूखे वृक्ष पत्तों से लद जाएंगे! बाँझ औरतों की गोद भर उठेगी, बूढ़ी गायों के थन से दूध टपकने लगेगा! जहाँ तेरे पाँव पड़ेंगे धिया, उजड़े गाँव आबाद हो जाएंगे! सेमल और कपास के बीज मोतियों में बदल जाएंगे... ! रूदिया की सीलती आँखें ... ! गीले होते कंधों का गीलापन संजीव को भीतर तक भिगोने लगा। मड़वे में लड़कियाँ गीत गाती रहीं -

केकर माथे लाल-सुन्नर पगड़ी (विदाई गीत)

केकर हाथे लाल गेंदा फूल

ओ मैना रे,

मति जाबे दूर बिदेस ...

अर्थ - किसके सिर पर सुन्दर लाल पगड़ी है? अर्थात् दूल्हे के। किसके हाथ में गेंदे का लाल फूल है? अर्थात् दुल्हन के। ओ मेरी दुलारी मैना (बेटी), इस पगड़ी पर लुभाकर हमसे बहुत दूर परदेश न चली जाना।¹

विवाह के पश्चात् विदाई के समय सहेलियाँ दुल्हन को घर (मायके) को न भूलने का अनुनय करती हैं अर्थात् रिश्ता पूर्ववत् रखने की हिदायत देती हैं।

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में युवकों द्वारा विवाह के समय हंसी-मजाक रिश्ते (गुईया) वालों से हड़िया की कमी का आरोप लगाकर इस प्रकार गाते हैं -

“देला बालानेरा नाजी नानर डियंग

(विवाह के अवसर पर लड़कों द्वारा

दाना बालानेरा जगादाअ डियंग,

दुल्हन की बहन को चिढ़ाना)

नाजी नानर डियंग कामनेमेरे,

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 211

जगादाअ डियंग कामनेमेरे।
हुडि होनमे नेरा नेमालेमे,
मालची रेहोले मालची मीसाईहा,
बुलुं रेहोले बुलुं मिसाई,
पाकड़ मान्डील चाहकातीहा।

अर्थ - (बड़ी बहन के नाम से जो डियंग बना है, उसे तो हम लोगों को दे दें।
साथ ही आपके उपजाऊ खेत के चावल से जो डियंग बना है,
उसे भी हम लोगों को दे दें।
अगर आप लोग उन दोनों प्रकार के डियंग को नहीं दे सकते हैं
तो वधू की छोटी बहन को ही दे दीजिए,
जिसे ले जाकर हम लोग नमक मिर्चा लगाकर चखेंगे।)''¹

उक्त हिंदी सारांश से स्पष्ट होता है कि मजाकिया रिश्ते वालों से मजाक की कोई सीमा नहीं होती है। नववधू के ससुराल आते ही मजाकिया रिश्ते वाली औरतें व्यंग्य मुद्रा में गाती हैं-

“कजोड़ा अइ में मइ कजोड़ा अइ मे।
केड़ा मेड-लुन्दुकुड रे कजोड़ा अइ मे।

अर्थ - (काजल लगाओ मइ काजल लगाओ। भैंस की तरह जो उभरी हुई आंखें हैं उनमें काजल लगाओ।)''²

उक्त किस्म के हंसी-मजाक से माहौल को खुशनुमा बनाने और नववधू को हंसाकर लोगों का मनोरंजन किया जाता है, क्योंकि शुरूआती समय में वधू अत्यंत संकोची स्वभाव की होती है ससुराल में हर कोई उसके लिए नये होते हैं।

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 35-36

² वही, पृ.सं. 37

मृत्यु संबंधी संस्कार गीत

मुण्डा आदिवासी समुदाय में मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् अनेक संस्कार संपन्न किये जाते हैं। इसके संदर्भ 'गायब होता देश' उपन्यास में इस प्रकार है- “अंतिम क्रिया के छठे-आठवें या दसवें दिन उस छाया को घर के भीतर के खास कोने को जिसे अदिंग कहते हैं, वहाँ ले जाने की विधि ही छाया-भितराना ‘उंबुल-अदेर’ कहलाती है ... घर में दरवाजे से अदिंग तक राख या आटा छितरा दिया जाता है। अदिंग में दोने में ढंककर भात और बिना हल्दी की उड़द दाल रखा जाता है। रोवा जिस जानवर की आकृति में घर में घुसता है उसके पंजों की छाप पड़ जाती है और दोना में भी खाना घटा-छितराया रहता है। तब जान लिया जाता है कि रोवा भितरा गया है।”¹

उपर्युक्त प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए पहान पूर्वजों एवं देवताओं को याद करते हुए इस प्रकार मंत्र का उच्चारण करता है -

“हे आकाश के परमेश्वर सिंगबोंगा	(मृतक की छाया को घर अंदर करते
हे देवीमाता-धरती माता	वक्त पहान द्वारा उच्चरित मंत्र)
दूध की तरह उगने वाले	
तुम्हीं ही आदि हो	
तुम ही अंत हो.....	
तुम्हारी ही सृष्टि	
तुम्हारी ही उत्पत्ति	
पहाड़ के मारंग बुरू बोंगा...	
गाँव के दसउली बोंगा	
सीमा कर चंडी देवी	
घर के अदिंग बोंगाको	
हमारे पुरखे-पूर्वज ...	

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 57

हमारे बीच से अदृश्य हुए
हमारे बीच बोंगा बने...
उसकी पुरानी झोंपड़ी में
अपने पूर्वजों के संग
रहने को हम बुलाते हैं
कोई बाधा न रहे’’¹

उक्त अनुष्ठान के मार्फत पहान (पुजारी) अपने पुरखा, पूर्वजों और देवताओं का स्मरण करते हुए दिवंगत व्यक्ति के ‘रोवा’ या छाया को पुनः अपने घर में निवास करने के लिए गुहार लगाता है, न्योता देता है, क्योंकि मुण्डाओं की आम धारणा यह है कि शरीर की मृत्यु होती है, ‘रोवा’ या छाया की नहीं। और जिनकी मृत्यु आकस्मिक (हत्या या दुर्घटना से होती है) उसका उबुल अदेर या छाया भितार नहीं किया जाता है। मुण्डाओं का विश्वास है कि ऐसे मृतकों की छाया भटक जाती है, वही प्रेत का रूप धारण करते हैं।

कृषि एवं श्रम संबंधी लोकगीत

कृषि संबंधी गीत

आदिवासी कृषि कार्य प्रारंभ करने के पूर्व कुछ महत्वपूर्ण अनुष्ठान संपन्न करके, अपने पुरखों एवं देवताओं को याद करते हैं। ‘जंगल के गीत’ उपन्यास में इसी तरह का एक अनुष्ठान होता है - ‘‘पहान ने पहले ‘डंडा कटा’ की विधि पूरी की। सब तन्मयता से पूजा की विधि देख रहे थे। सखुए के पत्ते में ‘मेरा’ रखा गया था, पहान ने हड़िया उड़ेला। हरे-भरे बीड़ा के तीन गुच्छों पर पहान ने पानी छिड़का। रोपा की उद्धाटन विधि सोल्लास खत्म हो गयी तो लोगों के चेहरे में खुशी की लहर दौड़ गयी ... जब तब रिमझिम बारिश होने लगती तो युवतियाँ हंसती-खिलखिलाती गूँगू लेने दौड़ पड़ती थी। उधर दूसरे खेतों में हल चलाते युवकों में एक अजीब मस्ती छायी हुई थी। पूरा प्रकृति प्रांगण खिल उठा था ... रोपा करते जब रिमझिम बारिश होने लगी तो बीनको मीठे स्वर में गाने लगी-

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 57-58

रसा-रसा चेप पुंइयी

(धान रोपनी के समय गाया जाने वाला गीत)

है रे भइयासिन एरा हूँ पोल्लोना

पइरी बरी चेप पुंइयी

हैं रे भइयासिन चिन्हा हूँ पोललेना।

अर्थ -

रसा रसा कर बारिश हो रही है,

है रे, मैं अपने भाई को देख भी नहीं सकती हूँ।

सबेरे से बारिश हो रही है,

है रे, मैं अपने भाई को पहचान भी नहीं सकती हूँ।¹

खेत के तैयार होते ही रोपनी का कार्य औरतें शुरू कर देती हैं गीत गाते हुए और रोपनी कार्य देखते-देखते कैसे समाप्त हो जाता है इसका पता तक नहीं चलता है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासी अपने खेतों के कुछ टुकड़ों में ज्वार, बाजरा और मकई बोये हैं जिनकी कलगी निकल चुकी है। इनसे उनको बहुत उम्मीद है जीवन में खुशहाली आने की, जिसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं-

“मुण्डाओं की छाती ऊँची है। माथा चमक रहा है। उछाँह लेती आशाएँ और हिलोरे लेता मन ...! मुण्डा स्त्रियों के कण्ठ में भी कोयल आ बसी है। खूब 'सौख' से रोपाया है धान। जिनके सिर से कर्जे उतर गये हैं उनका सारा धन इस साल अपना होगा। रोपनी गीतों के ज्वार से नहा उठा है गजली ठोरी...!

बिर तबु चब तन

(रोपनी गीत)

ओते तबु पीड़ि तन

दारू बु रोवाया

गोड़ा पिड़ी रेबु रोवाया

सादी ... सादी ...

उली कण्टड़ कुद बारू

मु दू हंस, जोतो दारू

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.स. 167-168

दारू बू रोवाया ...।

अर्थ - जंगल खत्म हो रहा है।

धरती बंजर हो रही।

अतः गाछ रोपेंगे।

टाँड़ के आड़ में रोपेंगे।

कतार-कतार।

आम, कटहल, जामुन, कुसुम फरसा, पीपल आदि आदि।

गाछ रोपेंगे ...’’¹

उक्त पंक्तियों में धान रोपती आदिवासी महिलाएं प्रकृति की चिंता कर रही हैं, क्योंकि जंगल तीव्र गति से समाप्त होते जा रहे हैं, इसलिए पेड़ लगाने की बात कर रही हैं अर्थात् प्रकृति की रक्षा करके ही जगत को बचाया जा सकता है। इनकी चिंता स्वयं की कम, जगत या विश्व के प्रति ज्यादा है। यही आदिवासी जीवन दर्शन है।

श्रम संबंधी लोकगीत

श्रम को आदिवासी जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। श्रम आदिवासियों की महत्वपूर्ण विशेषता है। यह आदिवासियों में गुंथा हुआ है। जिसे ‘पलास के फूल’ उपन्यास में लेखक इस तरह रेखांकित किया है-

“हई होS हईS! हईS होS हई! ईदा होS!”² (श्रम की लय)

जिसके संदर्भ में प्रसिद्ध आदिवासी युवा कवि अनुज लुगुन एक जगह लिखते हैं- “यह श्रम की लय है आदिवासियों के जीवन की लय इसे वही व्यक्त कर सकता है जिसने इस जीवन को जिया है और यह लेखक के पास है।”³ दरअसल आदिवासियों का संपूर्ण जीवन ही एक लय है। इनके संदर्भ में कहा

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 224-225

² पलास के फूल - डॉ. फा. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 1

³ अरावली उद्घोष - सं. डॉ. जनक सिंह मीणा, अंक 99, अप्रैल 2013, पृ.सं. 39

जाता है कि 'बोलना ही गीत है, चलना ही नृत्य'। उक्त किस्म के श्रम के लय का रेखांकन एक आदिवासी लेखक ही कर सकता है, जिन्होंने इस तरह का जीवन जिया है। जिसे अनुज लुगुन ने शिदत के साथ पकड़ने की कोशिश की है। जो उनकी तीक्ष्ण दृष्टि-बोध का द्योतक है।

‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में सामंत और जमींदार के आतंक के साये में कैसे उराँव आदिवासी घुट-घुट कर जीने को अभिशप्त हैं, का जीवंत चित्रण है। उपन्यास का एक पात्र (सामंत) आदिवासी औरतों से जल्द और अधिक काम करवाने के उद्देश्य से कहता है- “कल रोपने से धान तो फूटेगा लेकिन दाना नहीं भरेगा।”¹ उक्त चाल सामंत की कुटिलता और शोषक प्रवृत्ति का द्योतक है।

श्रम गीत थकान से निजात दिलाकर नयी ऊर्जा प्रदान करता है। इसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “यद्यपि दिन भर रोपनी का गीत गाती, ठेहुने भर कादो में झुककर लगातार धान रोपती सब थक गई थीं ...। फिर भी उन्हें हीरामनी का विचार पसंद आया। गीत गाती वे आगे बढ़ती जाएंगी और पीछे का दल स्वर की दिशा में बढ़ता चला आयेगा। गीत और हंसी उन लड़कियों की पूंजी थी, उनका स्वास्थ्य था और उसका सौंदर्य था। हीरामनी के गले से गीत के बोल फूटे -

“अनि गुड़ी चोना निड (रोपनी गीत)

तारदी योता योता पतर योता योता

अर्थ - चलो सहेली जायें, दीपक देखते हुए, प्रकाश देखते हुए चलें।

तरदी जो मोलिवकि खोड़ झुड

जो इरिफोये अनि गुड़ी एड

नानिड अनिपउ राजी (कुडुख)”²

अर्थ - दीपक भी बुझ गया, रास्ता भी भूल गये, चले सहेली लौटे अपने देश।

उक्त गीत के माध्यम से स्पष्ट होता है कि धान रोपते-रोपते रात हो गई जिससे महिलाओं को घर लौटने में परेशानी हो रही है। इससे स्पष्ट होता है कि जमींदार ने उनसे अतिरिक्त काम कराया है। कहना

¹ गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 2

² वही, पृ.सं. 2

नहीं होगा उपन्यास में उराँव आदिवासियों का चित्रण है किन्तु उक्त खड़िया भाषा के गीत को लेखक ने कुड़ुख लिखा है, जिसे लेखक की सबसे बड़ी भूल या गलती कह सकते हैं।

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास में असुर युवतियों द्वारा लकड़ी बेचने के क्रम में बाहरी लोगों (ठेकेदार, मुंशी, सेठ) से फंसकर उनके रखैल के रूप में रहने लगती हैं, उनके संबंध में असुर युवक इस प्रकार गाते हैं-

“काठी बेचे गेले असुरिन (शिकायत व उपहास से भरा गीत)
बांस बेचे गेले गे,
मेठ संगे नजर मिलयले
मुंशी संग लासा लगयले गे,
कचिया लोभे कुला डूबाले,
रुपया लोभे जात डूबाले गो॥”¹

बाहरी लोग असुर युवतियों की गरीबी का गलत फायदा उठाकर, शादी का झांसा देकर अपनी रखैल बनाते हैं, फिर एक दिन गायब हो जाते हैं। उसके पश्चात् उनकी (असुर युवतियों की) जिंदगी बद से बदतर हो जाती है। इस गीत के संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- “इस गीत में आलोचना है, शिकायत है और विलाप भी है।”² इतना ही नहीं असुर युवतियों का परिहास भी उड़ाया गया है।

ऋतु एवं आवसरिक लोकगीत

कुछ ऋतुओं एवं विशेष अवसरों पर गाये जाने वाले तमाम गीतों को आवसरिक गीत के नाम से पुकारा जाता है। इसके अंतर्गत त्यौहार से संबंधित गीत, देवी-देवता से संबंधित गीत और मेले में गाये जाने वाले गीत आदि।

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 38

² नया ज्ञानोदय - रवीन्द्र कालिया, अंक 85, मार्च 2010, पृ.सं. 16

ऋतु संबंधी सरहुल गीत

सरहुल आदिवासियों का बेहद महत्वपूर्ण त्यौहार है। यह फागुन महीना में मनाया जाता है। 'जंगल के गीत' उपन्यास का प्रारंभ प्रकृति वर्णन से होकर सीधे सरहुल के गीत में पहुँचता है। यह गीत 'कुडुख' भाषा में गाया गया है-

“खदी गे झंडा गड़डेरा (सरहुल गीत)

गुचाय कोय डिंडा पेलो

बेचागे कालोत॥

गुचाय कोय डिंडा पेलो

बेचागे कालोत॥

अर्थ - खदी के लिए झंडा गड़ा गया है
ऐ कुँवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए॥
सुबह में झंडा गाड़ा गया है,
ऐ कुँवारी लड़कियों चलो नाचने के लिए॥¹

उक्त गीत के सारांश से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि सरहुल के त्यौहार को लेकर युवतियाँ हर्षित होकर नाचने के लिए व्याकुल हैं। उपन्यास में आगे गीत और नृत्य का प्रसंग साथ-साथ चलता है। यह गीत भी कुडुख या उराँव भाषा में है-

“कादन कादन कोय पेलो (बाल सुलभ डर गीत)

खेड्डन्ता धूलिन, खेतेअय कालया॥

निंग्यो निंबा केबोर कोय पेलो

खेड्डन्ता धूलिन खेतेअय कालया॥

अर्थ - ऐ लड़की तुम जाऊँगी-जाऊँगी तो कहती हो,
पैर की धूल जो जरा झाड़कर जाओ।

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 88

ऐ लड़की तुम्हारे माँ-बाप गाली देंगे,
पैर की धूल को जरा झाड़कर जाओ।।¹

उक्त सरहुल गीत के प्रसंग से पता चलता है कि एक युवती नाचने के बाद घर लौटने से डर रही है। शायद घर में बिना बताये नाचने आई होगी।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में आदिवासियों के अनेक त्यौहारों के नाम गिनाये गये हैं जैसे जपी, करमा, जेना, जराजी, जादुर, कोजड़ों किन्तु करमा और सरहुल को छोड़कर बाकी गौण हैं। सरहुल की तैयारी में युवतियाँ इस प्रकार गाती हैं-

“खेया सेडोय हियो रे नाद नौर (सरहुल गीत)

खडोने डोय हियो रे नाद नौर

मिरिम चाँदो रे नाद नौर

भर चाँदो चाँद रे ले उनाSSS

अर्थ - भौजी को बुलाओ।

पतोहुओं को न्यौता भेजो।

सबको जुटाओ।

बड़ी मुर्गी की बलि दो।

टूटे घड़े में हड़िया भर-भर अर्घ्य दो चाँद को

सरहुल का चाँद आ गया।।²

उक्त दोनों गीतों में दृष्टिगोचर होता है कि सरहुल के आते ही युवतियों में हर्षोल्लास का माहौल अधिक दिखाई देता है।

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में ‘करम’ त्यौहार को लेकर युवक-युवतियों के मन में उत्साह किस प्रकार हिलकोरें मार रहा है इसको लेकर उपन्यास का पात्र फगुवा उराँव में कहता है-

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 100

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 202

“गुचा भइया रे खेल ओधरा

(करम गीत)

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।

पुतवारी भइया खेल ओधरा।

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।

अर्थ-

चलो रे भइया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जाएं।

सांझ को भैया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जाएं।”¹

करम त्यौहार मनाने की शुरू से अंत तक यानी करमडाली काटकर लाने से बहाने तक की प्रक्रिया सम्मान पूर्वक संपन्न होती है। कहीं करम राजा का अपमान न हो जाए, इसका पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता है।

करम की डाली को आंगन में गाड़ने के पश्चात गीत और नृत्य साथ-साथ चलता है जिसके संदर्भ इस प्रकार है -

“हरे करम बरेचा, हरे करम बरेचा

(करम गीत)

पेलय जोंखैन रिझा बाया रे।।

अर्थ -

है रे करमा आया है रे करम आया

लड़के-लड़कियों को रिझवाया।।”²

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में करमा त्यौहार के तीन नृत्य गीत का प्रसंग आया है। “आज करमा का त्यौहार है। ढोल-माँदल की थाप पर झूम रहा है गजलीठोरी! ...सुअर के मांस के साथ खूब सारी हँडिया ... ! करमदेऊ की पूजा के बाद दावत और नृत्य गीत... !

ओड़ाक खोनित ओण्डोक लेन

(करम गीत)

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 125

² वही, पृ.सं. 127

छटका रेत्र तिग लेन

ओका महल रेंचो तिरिया साड़े

ऐSS हरे-हरेSSSS

अर्थ - दूर महल में कोई बाँसुरी की धुन बजा रहा है। बाँसुरी सुनकर मैं घर से निकलकर ओसारे पर आ गयी।’’¹

बाँसुरी की सुरीली तान बहुत ही मनमोहक होती है जिसे सुनकर लोग ठिठक कह रह जाते हैं और आदिवासी युवक बाँसुरी को साधने में प्रवीण माने जाते हैं।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास का दूसरा करमा नृत्य गीत-प्रसंग इस प्रकार है-

“तिरिया नाजोम नात्र जोमते (बाँसुरी की मनमोहन आवाज)

मुरली नातेन-नातेन ते

जुरी बागी कोतेत्र नोण्डोक सेनोक

ऐSSS हरे-हरेSSS

धितंग ...धितंग

धिधिधि ... धितंग-धितंग...

अर्थ - बाँसुरी की मधुर धुन सुन जी चाहता, दुल्हे का घर छोड़कर वहीं जा पहुँचूँ जहाँ बज रही है यह मधुर धुना।’’²

कहने की आवश्यकता नहीं है कि विवाहिता इस कदर बाँसुरी की तान सुनकर सम्मोहित है कि पति को छोड़कर अखड़ा जाकर कुछ पल के लिए बाँसुरी वादक को निहारना चाहती है, लेकिन पति के डर से कुछ नहीं कर पाती है।

उपन्यास का तीसरा गीत करम राजा के विदाई का गीत है जो इस प्रकार है-

“सबकारो घरे आइज माँदर बजाय (करम विदाई गीत)

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 220-221

² वही, पृ.सं. 223

मोर घारे सुना चेल रेSSS
 मोर साइयाँ गेल परादेश
 मोर घारे सुना चेल रेSSS
 करम कहाल गे सँवारो
 करमा के दिन कैसे आवय रेSSS
 करमा का तरे-तरे जला भरी फूल रे
 डाला भरी बाती बराय रेSSS

अर्थ - सबके घर आज माँदल बज रही है पर मेरा घर सूना है। पति गया है परदेश। अगले करमा में सइयाँ आने वाला है। जल्दी अगला करमा आवे। घर की उदासी टूटे। करम की डाली को सीचूँ टोकरी भर दीये जलाऊँ।”¹

उक्त गीत की सारांश से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि विवाहिता के पति परदेश चले गये हैं जिससे उसका आंगन सूना हो गया है जिससे करम त्यौहार उस विवाहिता के लिए सुख, हर्ष के स्थान में दुःख और विरहा का प्रतीक बन गया है और वह अगले करम के इंतजार की मीठी सोच में डूब जाती है जिसमें उसका पति परदेश से घर लौट आयेगा।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में करमदेऊ के विदाई गीत की भाँति ही ‘जंगल के गीत’ उपन्यास में भी यह दृश्य देखने को मिलता है।

“चेरोम गा बरचा इन्म गा काला लागी (करम विदाई गीत)

गुचे खदो बरे खदो

नम्हें करम काला लग्गी॥

अर्थ - कल ही तो आया, आज ही जा रहा है,
 चलो ऐ लड़कियाँ आओ ऐ लड़कियाँ
 हमारा करम राजा चला जा रहा है॥”²

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 224

² जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 131

करमा त्यौहार के आते ही जो हर्षोल्लास का माहौल रहता है, उसकी विदाई का समय आते ही सबके चेहरे में उदासी छा जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक है, यह विधि का विधान है।

ऐतिहासिक युद्ध संबंधी लोक-गीत

आदिवासी वीर पुरुषों की गाथा को स्मरण करने, उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक जीवित रखने का सबसे सरल माध्यम लोकगीत है। जिसमें हमारे सभी वीर शहीद तिलका मांझी, सिद्धू, कान्हू, चाँद, भैरव, बिरसा मुण्डा, तेलंग खड़िया आदि आज भी जीवित हैं जिन्हें याद करके आदिवासी समुदायों में नयी ऊर्जा, साहस, स्वाभिमान और एकता का संचार होता है।

‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में संताल ‘हूल’ (विद्रोह) के प्रमुख चार सहोदर भाइयों को युद्ध के संदर्भ में आदिवासी समाज इस प्रकार याद करता है-

“सिदो-कानू खुड़खुड़ी भितोरे (युद्ध गीत)

चाँद भैरों घोड़ा चुपो रे

देखो चाँद रे भैरों रे

घोड़ा भैरा मुलिने-मुलिने

अर्थ- सिदो कान्हू पालकी के भीतर हैं।

चाँद-भैरों घोड़ों पर।

तनिक चाँद-भैरों को देखो तो।

कैसे मंद-मंद घोड़े लिये जा रहे हैं।”¹

उक्त लोकगीत के सारांश से ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धू, कान्हू, चाँद, भैरव रणक्षेत्र के लिए रवाना हो रहे हैं।

संताल ‘हूल’ का दूसरा युद्ध लोकगीत सिद्धू, कान्हू, चाँद, भैरव रणक्षेत्र के लिए

“भैरा निया नुरूनिया टिण्डानिया मिटानिया (हूल (युद्ध) गीत)

हाय रे हाय, मापक गपच दो

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 142

नुरिच नांगड़, गई काड़ा नाचेल लागित

पाचेल लागेत सेदाय लेका बेताबेतेत्

जाम रूयोड़ लागित

तउबे दो-बोन हूल गया हो ...

अर्थ - संतान हेतु स्त्री, बसने हेतु भूमि, हल-गाय-भैंस-धन और संपत्ति हेतु है यह मारकाटा। यह लड़ाई पहले जैसा जंगल पाने हेतु, हक की वापसी हेतु विद्रोह करेंगे हम।¹

उक्त लोकगीत के सारांश से स्पष्ट है कि यहाँ लड़ाई खोये हुए अधिकार और पारंपरिक स्वायत्तता के लिए संतालों को लामबंद होते दिखाया गया है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में जो देशी शोषक वर्ग थे जैसे सामंत, जमींदार, महाजन और ठेकेदार। ये लोग अंग्रेजों से मिले हुए थे। और समय-समय पर न केवल उनकी सहायता करते थे, बल्कि चापलूसी करने में भी पीछे नहीं थे, उनके विरोध में भी एक आदिवासी लोक गीत इस प्रकार है-

“हेन्दे रम्बड़ा केचे-केचे (दुश्मनों के प्रति विक्षोभ)

पुण्डी रम्बड़ा केचे-केचे

सामरे हिजूले नाको मार गोयेकोपे”

अर्थ - काले ईसाई (दीकू) टेढ़े-मेढ़े, गोरे ईसाई (अंग्रेज) टेढ़े-मेढ़े।

सर काट डालो उनका जो तुम्हारा सामना करे।²

उक्त पंक्तियों का प्रतीकात्मक अर्थ है। यानी काले ईसाई देशी शोषक वर्गों (सामंत, जमींदार, महाजन और ठेकेदार) का प्रतीक है और गोरे ईसाई अंग्रेजों का।

युद्ध संबंधी लोकगीत में हूल के लड़ाके अंग्रेजों और दिक्कुओं से लड़ते-लड़ते थक गये जिनको नृत्य के लिए समय नहीं मिल पा रहा था, इसके संबंध में एक लोक गीत इस प्रकार है -

चिदा दोरे कानू

(हूल गीत)

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 123

² वही, पृ.सं. 105

हुल हुलेम मेरभेन
जीत भाई को लागित
मायामेते जुमेन
वेपारिया कोबड़ों
विथुम दो-को हू-ही ...

अर्थ - क्यों रे कान्हू? 'हूल-हूल' की हाँक लगाते हो? अपने लोगों के लिए ही रे रक्त में डूबे हुए हैं हम। राज को लूटता है व्यापारी। इसलिए 'हूल-हूल' की हाँक लगाता हूँ।'¹

उक्त गीत में कान्हू अपने दिशुम यानी राज को देशी और विदेशी लुटेरों से बचाने के लिए न केवल चिंतित है, बल्कि आंदोलन के लिए लोगों का आह्वान करते हैं।

‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में एक ऐसा गीत का प्रसंग आया है जिससे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि ‘संताल हूल’ की चिंगारी न केवल संताल परगना तक सीमित थी, बल्कि छोटानागपुर भी पहुँच चुकी थी, यह गीत संताली भाषा में है-

“रासोला कि ओन जारी बुण्डू रेको मपाताना (संताल हूल का विस्तार गीत)
रासोला कि ओन जारी तमाड़ रेको तुपुर्गिताना
रासोला कि ओन जारी तमाया से को नाम से जाना

अर्थ - बुण्डु में एक लड़ाई जारी है। तमाड़ में भी निशाने बेध रहे हैं तीरा देस में लड़ाई की आंधी चल रही है। सारे संसार में अँधेरा छाया है।’²

बुण्डु और तमाड़ छोटानागपुर का क्षेत्र है संताल हूल के समय भी ये दोनों (बुण्डु और तमाड़) क्षेत्र छोटानागपुर के ही अंग थे। उक्त गीत संताल हूल की व्यापकता का द्योतक है।

‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास आदि विद्रोही तिलका मांझी के विद्रोही व्यक्तित्व और उसके आंदोलन पर केन्द्रित है। समस्त आदिवासी समुदायों में सबसे पहले अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठाने वाला

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 277-278

² वही, पृ.सं. 348

पहाड़िया आदिवासी तिलका मांझी था। इसके अनेक नाम थे जो परिस्थिति अनुसार बदलते चले गये। इसके आंदोलन धर्मी व्यक्तित्व को केन्द्रित करके एक लोकगीत इस प्रकार है-

“तीर धुनक तरवारा साजे (युद्ध संकेतक गीत)

हुल-हुल हुलमाहा नाचे

गगन दमामा बाजे ...

बाजे गगन दमामा बाजे।

तेलियागढ़ी के तीर की वीर

मत बिसराना तिलका वीर!’¹

कहना नहीं होगा कि युद्ध की तैयारी में तीर और तलवार सज चुके हैं, ‘दमामा’ जो युद्ध प्रारंभ करने का संकेत देने वाला एक वाद्य यंत्र है। इसके बजते ही सारे तिलका मांझी के अनुयायी युद्ध के पारंपरिक अस्त्र के साथ तैयार हो जाते हैं।

उक्त लोकगीत के समानांतर ही एक दूसरा लोकगीत तिलका मांझी के आंदोलन को केन्द्रित कर रचा गया है-

“जिए जिए तिलका मांझी (पहाड़िया युद्ध गीत)

जिए जिए हूल!

तेलियागढ़ कोटा-परकोटा

तिलका वीर ने झंका ठोका

हुल-हुए हुलमाह नाचे

गगन दमामा बाजे ...

जिए-जिए बाबा तिलका

जिए-जिए हूल’²

¹ हुल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 172

² वही, पृ.सं. 224

उक्त लोकगीत के सारांश से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि तिलका का आंदोलन दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था। वह अपने पहाड़िया समुदाय के बीच कुशल नेतृत्वकर्ता के रूप में स्थापित हो चुके थे।

विविध लोकगीत

आदिवासी लोकगीतों को विभिन्न वर्गों में विभाजित करके, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। बावजूद इसके छूट गये लोकगीतों को विविध लोकगीत के अंतर्गत अध्ययन कर विश्लेषित करने का प्रयास किया जाना है। इसके अंतर्गत राक्षस संबंधी, पक्षी संबंधी विरहा गीत आखेट संबंधी और मेले संबंधी लोक गीतों का अध्ययन किया जाएगा।

पशु-पक्षी संबंधी मुण्डारी लोक-गीत

‘छैला सन्दु’ उपन्यास में राक्षस और पशु-पक्षी संबंधी लोक-गीत का संदर्भ निम्न प्रकार है- “हाय वह कैसा निर्दयी राक्षस था। हाँ, राक्षस तो भला दयामयी कैसे हो सकता। गाओ तो जरा वह कैसा गाना था जो इतने पशु-पक्षियों को मात दे रहा था। परी का चेहरा खिलने-खिलने सा लगा। बाला गाने लगी -

“आलोपे जोमे, अलोपे जोमे पुंडिनिसी को (प्रकृति के प्रति चिंता गीत)

आलोपे जोने, अलोपे जोने खबरा चाडु को

अईगदोईग होरोतन जंगी तन ईया चिंगडी बा।

हे सफेद निशि तथा चितखबरे

चाडु पक्षी, मैं इन फूलों की रखवाली हूँ।”¹

उक्त गीत में पक्षी, फूलों की यानि प्रकृति की रक्षक है। यह गीत में रहस्य और अंतर्विरोध का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह का रहस्यपूर्ण और अंतर्विरोध का पुट दूसरे प्रसंग में देखने को मिलता है-

“बोडा बिंग रकब लेना सोबेन हाई को उकुन जना, (प्रतीकात्मक गीत)

मद्सकम दो जा गतिंग चदेलोम उडुंग लंदाए

गोलेया ...

¹ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 171

अर्थ - अर्थात् साँप ऊपर आया तो सब मछलियाँ छिप गई पर बाँस पत्ती वाली मछली तो पूँछ हिला-हिलाकर हँसने लगी।¹ उक्त गीत के सारांश से स्पष्ट होता है कि मृत्यु शय्या के नजदीक होने पर भी बाँस पत्ती वाली मछली अपनी पूँछ हिला-हिलाकर खुशी जाहिर कर रही है जो विरोधाभास का प्रतीक है।

विरह संबंधी लोकगीत

‘छैदा सन्दु’ उपन्यास में सन्दु की विधवा भाभी आगामारी एक विरहा लोकगीत गाती है जो शुरूआती क्षण विरह प्रतीत नहीं होता है।

“आगमारी अपना नाम-धाम होश-हवास खो बैठी है। गाने की मुद्रा में मन चंचल हो उठा है। मदमस्त चेहरा उल्लसिता बरसने लगा है। ... नयन रासलीला रचाने में नाचने लगे हैं। धुन के साथ हाथ-पाँव स्वतः थिरकने लगे हैं। और गुलाबी होंठों से मन को छूने वाली आवाज फूट पड़ी -

“सावन बरिसने (विधवा विरह गीत)

बिजुरी चमके घने

एकेला घरे ॥2॥

हिया मोर काँपेला डरे (गो)

एकेला घरे ॥2॥

पवन पुरबिया

उड़त छपरिया

एकेला घरे ॥2॥

पिया मोर रहेला धुरे (गो)

एकेला घरे ॥2॥

छतिया मोर भीजेला लौरै (गो)

एकेला घरे ॥2॥²

¹ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 158

² वही, पृ.सं. 219

आगामारी देवर, सन्दु के मोहक एवं आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके सानिध्य में आती है, क्योंकि उसका पति स्वर्ग सुधार चुके हैं। वहीं दूसरी ओर सन्दु, भाभी के प्रेम भरे आग्रह को अस्वीकार कर देता है जो देवर-भाभी के सहज स्वाभाविक रिश्ते के मिथक को तोड़ता है। अतः यही वजह है कि उक्त लोक गीत गाने के लिए आगामारी मजबूर हो जाती है।

विरह एवं त्रासदी लोकगीत

रसीला सन्दु की आकस्मिक मृत्यु से उसकी प्रेमिका व्याकुल होकर गाने लगती है -

“हसा दः दुमंग गड़ी दो (प्रेमिका द्वारा शोक गीत)

जी रारि अलय-बलाया

ताला नगुरी लमः नाड़ी दो

कुड़म रारि रोपोल-रोपों ला। ...

सेनोः गे मोनिगड़

अम दो रे डिंडा सोमय

बिरिद गे सानईगड़

अम दो रे डंगुवा नुसाड़ा। ...

कारे गातिज बगे मेय

जी राटि रूमबुल जाना

कारे संगम राड़ा मेय

कुड़म राटि पटुब जाना

अर्थात् हसा दः पार्टी में बज उठने वाले मन्दर की आवाज सुनकर मेरा मन बेचैन हो उठता है। लटपटाए गोरार के लरंग देखकर (छाती) प्रेम-बंधन का अहसास हो जाता है। मन जो बेचैन हो उठता है, जाने बगैर नहीं बनता ... तुम मेरी कुँआरिन साथिन हो। मैं तेरा (किसी भी हालत में) साथ न छोड़ूँगा ... मैं

तेरा वादा (हर हालत में) निभाऊंगा। ... तुम मेरा स्वच्छंद क्षण हो (क्योंकि) मेरी छाती तक (उन तरंगों में) फँस गई है।’’¹

उक्त लम्बे लोक गीत से स्पष्ट होता है कि प्रेमी ने प्रेमिका से बहुत सारे वादे, साथ-साथ जीने मरने के कसमें खाए थे जो, उसके मरते ही स्वतः सपने की तरह टूट गये जिसको प्रेमिका एक-एक करके याद कर गाने लगती है।

आखेट संबंधी लोकगीत

आदिवासियों के बीच शिकार खेलना या आखेट उनकी संस्कृति का अभिन्न अंग है। आखेट के कई प्रकार हैं, इस पर आगे अलग से बात की जाएगी। आखेट, आदिवासी समुदायों के लिए त्यौहार के सदृश्य है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में आखेट के लोकगीत का प्रारंभ इस प्रकार होता है-

“ढोल के चमड़े को हल्की आँच दिखाकर सेंका और फिर ‘खूँटी-बिद पे’ की ताल पर नाच उठे तन! नाच-गान और हँसी भुने मांस में मिर्च-मसाले का स्वाद जगाने लगे। माँदल पर खूब चखट ताल दे रहा था भेखन... !

पड़ाव डालने की धुन ...

“खूँटी - बिद - पे

(शिकार गीत)

टोल को तापे सेटा को-दो

खूँटी बिद पे ...

अर्थ - खूँटे गाड़ो। खूँटे से कुत्तों को बांधो। खूँटे गाड़ो।’’²

संभवतः कुत्तों को शिकार पर ले जाने के लिए पूर्व में बांधकर उन्हें खूंखार बनाया जाता है ताकि शिकार को पाते ही कुत्ता दबोच ले।

¹ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 294-295

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 442-443

आखेट के लिए नृत्य गीत का संदर्भ इस प्रकार है- “शिकार की धुन पर मत्त होकर नाच रहे थे युवा आखेटक! सफलतापूर्वक संपन्न हुआ था शिकार पर्व। ढोल-माँदल की धमाधम से भयभीत थे रीछ। जागा-जागा था जंगल। किरीबुरू पर्वत भी ... !

सरताम कापीताम

(आखेट जाने की तैयारी गीत)

सरताम कापीताम

देदांग बिरबोन, देदांग बिरबोन

देदांग बिरबोन, बाइरी दा-राम

अर्थ - पजाओ तीरों-फरसों की धारा। थाम लो धनुष और फरसों की धारा। चलो जंगल, खेलें शिकार।”¹

उक्त लोक-गीत के सारांश से स्पष्ट है कि यह तैयारियाँ शिकार करने निकलने के लिए हो रही है।

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में फागू सेन्द्रा के अवसर पर पहाड़ी युवतियाँ अपने शिकार पर जाते युवकों को इन गीतों से संबोधित कर सावधान रहने की हिदायत देती है, यह गीत कुडुख भाषा में है -

“एंदेरा लो खरखी कोय पेलो

(फागू सेन्द्रा गीत)

बनारी परेता नू सोहोड़ बई॥

पके सादिम के खरखी कोय पेलो

बनारी परेता नू सोहोड़ बई॥

अर्थ - क्या रकपका रहा है, लड़की

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है॥

सूखी पत्तियाँ रकपका रही है, लड़की

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है॥”²

आहत से शिकार या जंगली जानवर के करीब होने का संकेत मिलता है। जिससे सब सावधान हो जाते हैं। दूसरे गीत में बहनें अपने शिकार खेलने जाते भाइयों को सावधान करते हुए गाती हैं-

¹ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 443

² जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 183

“सेंदेरा कादम भइया, करेगा कादय (भाई को सावधान करती बहन)

मझी-मझी भइया आमके मना, भइया रे मोरा एकेसन रअदया

तीर दिम लग्गो भइया, बंदुक दिम लग्गो,

मझी-मझी भइया अमके मना, भइया रे मोरा एकेसन रअदया॥

अर्थ - शिकार खेलने जाते हो भैया, पहाड़ जाते हो

बीच-बीच में मत रहना, भैया मेरे कहाँ हो!

तीर लगेगा भैया बंदूक लगेगा

बीच-बीच में मत रहना, भैया मेरे कहाँ हो।”¹

शिकार पर निकले भाइयों के प्रति उनकी बहनों का चिंतित होना, उनके स्नेह का परिचायक है। दूर होकर भी बहनें हमेशा उनके सुरक्षित होने की कामना करती हैं।

4.5.3 शगुन-अपशगुन

आदिवासी समाज में शगुन-अपशगुन का विशिष्ट स्थान होता है। महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ करने के पूर्व उस पर विधिवत विचार किया जाता है। मसलन नया रिश्ता जोड़ने निकलते समय, शिकार पर निकलते वक्त, मुर्गा लड़ाई निकलते समय, रास्ते में घटित-घटनाओं का आकलन किया जाता है। आदिवासी पशु-पक्षी, जानवर और वृक्षों की क्रियाओं से संभावित खतरे का अनुमान कर लेते हैं। मसलन घर के छत में कौआ का बार-बार बोलना, बिना हवा के पेड़ की डाली का टूटना संभावित अनहोनी का लक्षण है। उपन्यासों में चित्रित शगुन-अपशगुन इस प्रकार हैं- ‘वन के मन में’ उपन्यास में सिदिउ का विवाह तय हो चुका था लेकिन बीच में एक घटना घट जाती है

“जंबीरा-लड़की के घर से सात चट्टु डियांग आई थी। सब कुछ ठीक था। किन्तु जब वे लोग अपनी यात्रा का वर्णन करने लगे तब हिसाब लगाने पर अपसगुन निकल गया। थोड़ा कुछ रहता तो पूजा-पाठ से कट भी जाता, लेकिन बहुत खराब ... दल के स्त्री-पुरुष सभी का ध्यान इस ओर खिंच गया। जंबीरा-गाँव से आध मील ही लड़की के दल-वाले चले थे कि कुत्ता सामने ही पैरों से जमीन खरोंचता

¹ जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 183

हुआ मिला। इसका अर्थ यह है कि कोई न कोई मरेगा और खोदकर गाड़ा जाएगा। खासकर जन्म होते ही बच्चा के मर जाने का भय है।’’¹

उक्त घटना को आज मुख्यधारा के लोग अंधविश्वास के सिवाय कुछ नहीं मानते हैं, जबकि आदिवासी समुदाय इन घटनाओं पर विधिवत मंथन करते हैं। ‘गायब होता देश’ उपन्यास में भी एक अपशगुन वाला संदर्भ आया है ‘‘विक्टर दा को नाव पर बैठाकर नदी किनारे से लौटते समय जो घटनाएं घटी उसने तिग्गा दादा की बातों से पैदा हुई उदासी को और गहरा कर दिया। एक तो नदी किनारे ही एक साँप बिल में घुसता हुआ दिखा, थोड़ी दूर में ही आगे बढ़े थे कि एक नीलकंठ दाहिनी ओर से चीखते हुए उड़ गया। फिर रास्ते में माथे पर भनभनाता हुआ मधुमक्खियों का झुंड। वीरेन ने बताया कि मुंडा समाज में इन तीनों को बुरा शकुन समझा जाता है। मौत आने की खबर के तौर पर।’’²

उक्त तीनों घटनाओं का आदिवासियों के अनुसार संभावित अर्थ क्रमशः इस प्रकार है- पहला साँप का बिल में घुसने का अर्थ खतरे को ताड़कर अपनी सुरक्षा की चिंता करना, दूसरा नीलकंठ का चीखकर उड़ना भी संभावित खतरे का लक्षण है। और तीसरा माथे पर भनभनाता मधुमक्खियों का झुंड का अर्थ लाश पर उड़ते मक्खी का प्रतीक है।

एक ऐसे अपशगुन का चित्रण मिलता है जिसमें पत्नी विवाह के कुछ दिन बाद ही पति को छोड़कर भाग जाती है ‘‘डुका - मैं तो उस दल में खुद था जब लोग लड़के के घर गोनो लाने जा रहे थे। एक गाँव से पार होते समय सभी ने देखा कि सामने से ही चील एक मुरगी चेंगा को उठा ले गयी। इसका तो साफ अर्थ भगवान से ही दिया हुआ है कि लड़की को कोई उठा ले जाएगा। मैंने एरेउन् के समय खास आपत्ति नहीं की, मैं उनका अपना कुटुम्ब तो था नहीं। देखा, उन लोगों ने इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया। लेकिन मैंने दोस्तों से कह रखा था कि क्या होने वाला है और हुआ भी ठीक वही। इस पर उस भागी हुई लड़की के प्रति मजदूर दल में सभी की सहानुभूति हो गई। दोष था शगुन न मानने का।’’³

¹ वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 11

² गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 264

³ वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ.सं. 12-13

चील का मुर्गी के चुज्जे को उठा ले जाने का मतलब लड़की की मर्जी के बगैर विवाह हुआ होगा, जिससे लड़की नाखुश या नाराज होकर अपने प्रेमी के संग भाग गयी। ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में शगुन-अपशगुन दोनों का वर्णन किया गया है। यही नहीं छोटे-छोटे अशुभ लक्षणों को ऐरे बोंगा के समक्ष पूजा कर काटने का चित्रण भी हुआ है “उस दिन लड़के के घर आने जाने के दौरान रास्ते में जो भी घटनाएं घटीं, उनका बड़ा बारीक निरीक्षण किया गया और ऐरे बोंगा के दिन, जिस दिन कि ब्याह की तारीख तय होनी थी, दोनों गाँव के सीमाने पर दोनों पक्षों के कुछ पुरुष मिले और गंभीरता से उन पर विचार विमर्श किया। जंगल से जाते समय रास्ते में मजदूरों की एक परित्यक्त छावनी के बाहर उलट कर रखी हुई काली जली हुई हांडियां नजर आयीं थीं। फिर एक पेड़ की डाली को टूटकर गिरते हुए देखा था उन्होंने। लौटते समय भी एक कुत्ते को पैर से जमीन खोदते हुए देखा गया था। ये सभी अशुभ लक्षण थे। बाद की दोनों घटनाएं तो क्रमशः व्यक्ति के कटकर गिरने यानी मरने और गड्ढा खोदकर उन्हें गाड़े जाने का संकेत दे रही थीं। किसी अनहोनी की आशंका से दोनों पक्षों के बुजुर्ग तो इस ... मगर दो शुभ सगुनों ने इस विवाह को बचा लिया। जाते समय पीली साड़ी पहनकर पानी से भरा हुआ घड़ा लेकर जाती हुई एक औरत दिखी थी तथा आते वक्त हाथियों का एक समूह दिख गया था।”¹

आदिवासी समुदाय शगुन-अपशगुन देखकर भावी खतरे को पहचान करके आगे कदम बढ़ाते हैं या आगे की योजना तय करते हैं। ऐसे भावी अनहोनी की खास पहचान होती है, जिसे हमारे पूर्वज सिखाकर चले गये और यह परंपरा आज भी अविरल प्रवाहमान है।

4.5.4 पर्व-त्यौहार

आदिवासी संस्कृति की बात की जाए और उनके पर्व-त्यौहारों का नाम न लिया जाए असंभव है। पर्व-त्यौहार आदिवासी संस्कृति के लिए वृक्ष के जड़ के सदृश्य है। प्रो. श्रीचन्द्र जैन आदिवासियों के पर्व की प्रवृत्ति के संदर्भ में लिखते हैं- “आदिवासियों के अधिकांश पर्व आत्म-रक्षा और खेती आदि की रक्षा के लिए है। इन पर्वों में देवी-देवताओं की पूजा होती है - आराधना होती है औ फल-फूल, मिठाई आदि

¹ मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, पृ.सं. 33

चढ़ाकर इन्हें प्रसन्न किया जाता है। सूर्य देव की भक्ति कर ये आदिवासी विपत्तियों से छुटकारा पाते हैं, समाज में फैलने वाली बीमारियों को शांत करते हैं और खेतों में लहलहाती फसलों की पूरी रक्षा कर लेते हैं।

प्रकृति के पुजारी ये आदिवासी, धरती माता के पूजा-पूर्व में उसके उपकारों का पूरा बखान करते हैं और मदिरा चढ़ाकर अन्नों की पूरी उपज के लिए नाच-नाचकर प्रार्थना करते रहते हैं।¹

विभिन्न पर्व-त्यौहारों के अवसर पर आदिवासी न केवल अपने देवी-देवताओं (बोंगाओं, पोमोमोसोर) का स्मरण करते हैं, बल्कि अपने पूर्वजों को भी निश्चित रूप से याद कर प्रसाद स्वरूप हड़िया और चावल के दाने भेंट चढ़ाते हैं, उसके बाद ही सपरिवार ग्रहण करते हैं। देवताओं को फल-फूल और मिठाई चढ़ाने की परंपरा आदिवासियों में प्रारंभ से नहीं रही है, अगर कहीं ऐसा दिखाई देता है तो उसे हिन्दुत्व का प्रभाव कह सकते हैं। झारखंड में वैसे तो छोटे-बड़े अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं उनमें प्रमुख करमा, सरहुल, सोहराई जतरा और मंडा है। जतरा और मंडा का स्थान आदिवासियों के जीवन में किसी त्यौहार से कम नहीं होता है, इसलिए इनको त्यौहार की श्रेणी में रखा जा रहा है।

4.5.4.1 सरहुल

यह झारखंड के आदिवासियों का सबसे बड़ा प्रकृति पर्व है। उड़ीसा, बंगाल और छत्तीसगढ़ के आदिवासी समुदाय भी इस पर्व को बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। बोलियों की भिन्नता के कारण आदिवासियों के बीच इसे कई नामों से पुकारा जाता है यथा- ‘हो’ संताल और मुण्डा इसे बाहा पर्व कहते हैं। साल का फूल फूलने के समय यह पर्व मनाया जाता है, इसलिए इस पर्व को बाहा पर्व कहा जाता है। बाहा का शाब्दिक अर्थ फूल होता है।

उक्त विश्लेषण से एक बात स्पष्ट है कि सरहुल फूल पर्व है। दूसरे शब्दों में यह वसंतोत्सव है। पतझड़ के समय अरण्य के वृक्ष टूट में तब्दील हो जाते हैं किन्तु वसंत आते ही सारी प्रकृति नये पत्तियों और फूलों की मदकता से लहलहा उठती है मानो प्रकृति सोलह सिंगार कर रही हो। इसे देखकर युवक-युवतियाँ खिले फूलों को तोड़ने के लिए मचल उठती हैं, किन्तु सरहुल पर्व मनाये बिना, फूलों का श्रृंगार करना वर्जित है। आदिवासियों की धारणा है कि प्रकृति की कृपा से ही कोपलें और फूल खिलते हैं। अतः

¹ आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 107

प्रकृति की पूजा पहले होगी, तभी वह चिरकाल तक फूल-फल प्रदान करेगी अन्यथा नहीं। विभिन्न आदिवासी समुदायों में सरहुल पर्व मनाने के अपने-अपने नियम और परंपराएं हैं। कहीं-कहीं सरहुल के पूर्व गाँवों में एक विशेष रंग के मुर्गी के चुजों को पकड़ा जाता है जिन्हें पहान पूजा के समय देवता को बलि चढ़ाते हैं। इसके साथ-ही-साथ गाँव के सभी घरों से थोड़ा थोड़ा चावल उघाया (इकट्टा) किया जाता है जिसे पूजा के पश्चात् भूना जाता है। फिर बाद में उसे प्रत्येक घर में प्रसाद के रूप में बांटा जाता है।

यह त्योहार सामान्यतया तीन दिनों में संपन्न होता है जिसके संदर्भ में लक्ष्मी प्रसाद मिश्र लिखते हैं “पहला दिन मुण्डा आदिवासी हई कड़कोम के रूप में मनाते हैं। इस दिन गाँव के पुरुष नदी में मछली और केकड़ा पकड़ने जाते हैं तथा स्त्रियाँ शाल की पत्तियाँ गूंटती हैं। रात में मछली और केकड़ा को इमली के रस में पकाया जाता है। घर का प्रधान पूजागृह में अपने पूर्वजों को केकड़ा और मछली अर्पित करता है। इसके बाद सब मिलकर भोजन करते हैं।

दूसरा उपवास का दिन होता है, जिसे मुडा कटब कहते हैं। इस दिन घर का प्रधान दंपति उपवास के साथ-साथ पूजा-पाठ संपन्न करता है। सुबह आंगन में डंबढा की नई कोपलें और चार (पियार) के पत्ते जलाते हैं। पुरुष बा जोनो (फूल-झाड़ू) बनाते हैं, जिसे लेकर उपवास रखने वाली स्त्रियाँ कुएं पर नहाने जाती हैं और लौटकर भोजन पकाने के लिए चूल्हे पर घड़ा चढ़ाती हैं ... दोपहर में घर का प्रधान पूजागृह में शाल के दोनों में भात और दाल देवताओं को अर्पित करता है। इस उपवास के दिन गाँव का प्रधान पुजारी (पहान) सरना में दो नये, पानी से घड़ों को लाता है, पहान पूर्व की ओर मुंह करके अरवा धागे को दोनों घड़ों के गले में तीन बार लपेटता है और घड़ों के मुंह पर दो-दो शाल के डंठल रखता है एवं शाल के वृक्ष में अरवा धागे की तीन लड़िया लपेटता है। इसके बाद पुनः पूर्व की ओर मुंह करके जय बुड़ी की आराधना करता है।...गाँव के हर नर-नारी तथा अबालावृद्ध पहान की पवित्र पूजा देखने सरना पहुंचते हैं तथा नाच-गाकर सरना देवी को प्रसन्न करते हैं। गाँव वाले इसी दिन सरनास्थल पर रखे घड़ों के पानी का अध्ययन करके पता लगाते हैं कि इस वर्ष की स्थिति कैसी रहेगी।”¹

¹ आजकल - संपा. नरेन्द्र सिन्हा, जुलाई 1987, पृ.सं. 38

त्यौहार के तीसरे अर्थात् आखिरी दिन परिवार के सदस्य जंगल से साल के फूल लाते हैं और अपने पूजा गृह में स्थापित करने के पश्चात् घर के मुखिया द्वारा रंगीन मुर्गी की बलि दी जाती है और साल के फूल को वितरित किया जाता है। लोग एक-दूसरे को साल फूल देकर स्नेह और भाईचारा प्रदर्शित करते हैं। अंत में पहान सबके घर के दरवाजों में फूल खोंसता है और बदले में गाँव वाले हड़िया पिलाकर पहान का सत्कार करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि फूलखोंसी रस्म सरहुल का अंतिम पाठ है।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में लेखक ने सखुआ के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है “सखुए का वृक्ष पूज्य है जंगल में। सखुए की डालियों की पूजा होती है आज। सरहुल के माहात्म्य ने वृक्षों को भी देवत्व प्रदान कर दिया है। सरहुल में सखुए की डालियों पर फल-फूल और नैवेद्य चढ़ाए जाते हैं।

आज न किसी ने लकड़ी काटी है और न ही अभी तक किसी ने दातुन ही चबाया है। सिंगबोंगा के आशीर्वाद हैं वृक्ष। आज यदि वृक्ष काटे तो देवता के सारे आशीर्वाद भी कट जाएंगे।”¹

सरहुल पर्व मनाने के पूर्व उस दिन आदिवासी प्रकृति की किसी चीज का प्रयोग नहीं करते, जब तक प्रकृति देवी की पूजा संपन्न नहीं हो जाती है।

4.5.4.2 करमा

करमा आदिवासियों का दूसरा सबसे बड़ा त्यौहार है। इस त्यौहार के क्षेत्र-विस्तार एवं महत्व के संदर्भ में रामप्रवेश सिंह ने लिखा है कि “करमा झारखंड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ के आदिवासियों का प्रमुख नृत्य है, जिसे वहाँ की कई जातियों के लोग करते हैं। करमा एक प्रकार की पूजा भी है, किन्तु उसमें साहित्य, संगीत और संस्कृति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। ‘करमा’ को पुरुषार्थ का प्रतीक मानते हैं वे लोग। आदिवासियों की आत्मनिर्भरता और पुरुषार्थ प्रियता की अभिव्यक्ति उनकी जीवन-सारिणी में स्वतः ही होती रहती है।”²

¹ पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 199

² लोकायत और जनजातीय संस्कृति - रामप्रवेश सिंह, पृ.सं. 285

यह त्यौहार कृषि से संबंधित है। करमा पर्व प्रत्येक वर्ष भादो महीना के एकादशी को मनाया जाता है। करमा पर्व, करमा और धरमा नामक दो भाइयों की लोक प्रचलित कथा पर आधारित है। जिसमें करमा के द्वारा अपमान और अनादर करने से ‘करम राजा’ रूष्ट हो जाते हैं, जिससे करमा का भाग्य भी रूठ जाता है। किन्तु पुनः करमडाली का आदरपूर्वक भादो के एकादशी में पूजने पर करमा का भाग्य फिर से चमक उठता है। इस पर्व को मनाने के पीछे आदिवासियों की धारणाओं का उल्लेख करते हुए डॉ. एच.एन. सिंह ने लिखा है “करम कथा मानव-जीवन के मौलिक सिद्धांतों पर प्रकाश डालती है। लोगों का विश्वास है कि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे एवं प्रकृति के सभी उपादान किसी ना किसी प्रकार मनुष्य के सहायक हैं। अनैतिकता से धनार्जन करना पाप है तथा दान देना सत्कर्म है। भाग्य ही सर्वशक्तिमान है। परन्तु कर्म के द्वारा सुधारा जा सकता है। करम राजा प्रसन्न होने पर वर्षा, भोजन, धन, संतान आदि देते हैं। इसकी पूजा करना जीवन को गतिमान बनाना है। बालक-बालिकाओं में उदात्त भावनाएं लाना करम पूजा का आदर्श है। यह पर्व मूलतः कर्म ही पूजा है। सिद्धांत का द्योतक है तथा करमा और धरमा क्रमशः कर्म और भाग्य के प्रतीक हैं। कर्म और धर्म के समन्वय से ही मानव-जीवन संचालित है।”¹

यह पर्व मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए मनाया जाने वाला पर्व है, ऐसा प्रतीत होता है। जो श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों का द्योतक है। यह पर्व मानव और प्रकृति के आदिम रिश्तों का परिचायक है।

“भादो के द्वादशी के दिन प्रायः लोग अपने खेतों में बेलवा की डाली, सखुए की डाली तथा करम की डाली गाड़ते हैं। ये सब भी प्रतीकात्मक हैं। उनकी मान्यता है कि भेलवा की डाली एवं पत्तों से उनके खेतों में लगे फसलों के कीड़े मर जाएंगे, सखुए के पत्तों से फसलों के पौधे बड़े होंगे एवं करम की डाली से उनके खेतों में फसल लहलहा उठेगी। करमा पर्व के द्वारा देवताओं के प्रति श्रद्धा, अपने खेती के प्रति आस्था एवं परस्पर मिलजुल कर रहने की प्रेरणा मिलती है। यह पर्व हमें आत्मसंयम रखने, धर्म के अनुसार आचरण करने, महिलाओं का सम्मान करने, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहने, क्षमाशील बनने, अपने

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - वंदना टेटे, अंक 1, जून-अगस्त 2008, पृ.सं. 53-54

परिश्रम से आगे बढ़ने, अपने पूर्वजों एवं अपनी परंपराओं से प्रेरणा लेते रहने, ईश्वर के प्रति अडिग श्रद्धा रखने तथा समाज के लोगों के साथ मिलजुल कर कार्य करने की प्रेरणा देता है।”¹

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि करमा पर्व लक्ष्मी है।

4.5.5 आदिवासी लोक-नृत्य

झारखंड ही नहीं, भारत के समस्त आदिवासी समुदायों में लोक-नृत्य का विशिष्ट महत्व है। नृत्य शैली के स्वरूप की भिन्नता और नृत्य में प्रयुक्त पोशाक उनकी विशेषता है। नृत्य आदिवासियों के लिए न केवल मनोरंजन है, बल्कि यह उनके सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग है। जब सारा समाज उसमें भाग लेता है और सामूहिक भागीदारी के उपरांत मनुष्य की लोक-प्रकृति के अनुसार किए जाने वाले नृत्य को ही लोक-नृत्य कहते हैं। लोक नृत्यों में उनके सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक और प्रकृति संबंधी भावों की प्रचुरता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जो भाव-भंगिमाओं के विपुलता का द्योतक है। खातिर हेमरोम के अनुसार “झारखंड प्रदेश में कुल तैंतीस (33) प्रकार के लोकनृत्य हैं।”² प्रो. श्रीचन्द्र जैन आदिवासी लोक नृत्य की उत्पत्ति के संदर्भ में एक लोक-कथा का हवाला देते हुए लिखते हैं “इन्द्र राजा की पुत्री बिजली का श्यामलिया मेघ के साथ धूमधाम से विवाह हुआ लेकिन विदा के समय बिजली ने हठ किया कि वह अपने पति के साथ तभी जायेगी जब बाराती नाचते-गाते, बाजे बजाते हुए आगे-आगे चलेंगे। बिजली को सब लोगों ने अनेक प्रकार से समझाया लेकिन उसने अपने हठ को न छोड़ा। इस समय तक कोई भी आदिवासी किसी प्रकार के नृत्य को नहीं जानते थे। इन्द्र राजा ने सब बारातियों को अपने जलमहल के पास ठहरा दिया। रात होने पर मेघों ने गरजना शुरू किया और आँधी इतनी जोर से चली कि बहुत से पेड़ उखड़कर जमीन पर गिर पड़े। आँधी का वेग इतना तेज था कि बड़े-बड़े पहाड़ भी हिलने लगे।”³

¹ जनजातीय महिलाएँ - रेशमा खलखो, पृ.सं. 100

² झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - वंदना टेटे, अंक 2, जून-अगस्त 2015, पृ.सं. 23

³ आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 30

इतना कुछ होने के पश्चात् नारद जी आते हैं। उनके आते ही आँधी-तूफान और बारिश थम जाती है। चारों ओर सन्नाटा छा जाता है और बाराती सोने लगते हैं। उन बारातियों में एक बड़वा भी था जो जादू जानता था। उस समय पितर लोक से एक बूढ़ा आता है और वह बड़वा से स्वप्न में कहने लगता है- “तुम तो जादूगर हो, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि देवता नृत्य देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। मनोहर नाच से क्रुद्ध देवता भी अपना गुस्सा भूल जाते हैं। जंगल में रीछों को देखकर तुम मदमाती चाल सीख सकते हो, कोयल की मधुर तान से तुम रसीला गान सीख सकते हो, मृगों से तुम चाहो तो नाचने की अनेक विधियाँ समझ सकते हो, शेरों की दहाड़ों से आगे बढ़ना और पीछे हटना भी सरलता से सीखा जा सकता है। काले-काले मेघों के आकाश में छा जाने पर जब मोर नाचते हैं तब उन्हें ध्यान से देखना-समझना चाहिए। इस प्रकार तुम नाचना सीख सकते हो।”¹

पितर लोक से आया बूढ़ा, बड़वा को जिन नृत्य विधियों के बारे में समझा रहा था, संयोग से सारे बाराती जगकर उसे सुन लेते हैं। उसी समय धरती हिलती है, बड़वा जग जाता है और बाराती भी जग जाते हैं। पितरी लोक से आया बूढ़ा सहसा गायब हो जाता है। चारों तरफ आकाश में नाच-गान हो रहा था। अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों की ध्वनियाँ गुंजायमान थी। सारे बाराती इस नाच-गान में शामिल हो जाते हैं। और इस प्रकार उसी समय से नृत्य-गान की परंपरा प्रारंभ हो जाती है आदिवासी समुदाय में।

4.5.5.1 आदिवासियों के नृत्यों का सामान्य वर्गीकरण

सामान्यतया ये नृत्य तीन रूपों में विभाजित हैं -

1. “युवक-नृत्य, यथा युद्ध नृत्य, तलवार नृत्य आदि।
2. युवती-नृत्य या रीना नृत्य आदि।
3. मिश्रित नृत्य, इसमें युवक-युवतियाँ दोनों मिलकर नाचते हैं, यथा करमा-नृत्य, ककसाड़ आदि”²

उक्त लोक-नृत्यों का सामान्य वर्गीकरण झारखंड के लोक नृत्यों से ज्यादातर परिमाण में मिलता है, सिर्फ क्रम संख्या 1 का तलवार नृत्य को छोड़कर, क्रम संख्या 2 और 3 का उदाहरण मिलता है।

¹ आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 31-32

² वही, पृ.सं. 35

4.5.5.2 आदिवासी लोक-नृत्यों की विशेषताएँ

यह भी स्वयं सिद्ध है कि किसी भी जाति विशेष के लोक-नृत्यों में उस जाति की सामाजिक और धार्मिक विशेषता के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं। आदिवासियों के लोक-नृत्यों में भी उन विशेषताओं की पूर्ण झलक है। आदिवासियों के नृत्यों की ये विशेषताएँ हैं -

1. “अत्यंत ओजपूर्ण, शक्तिशाली अंग-भंगिमाओं और लय-ताल की दृष्टि से अत्यंत सरल और जटिल।
2. कतारबद्ध, गोलाकार, कतार तथा चौकोर और अर्द्ध-गोलाकार कतारों में संगठन और अंग-भंगिमाओं के गठन में अत्यंत चपल और चुस्त।
3. अधिकतर मिश्रित-नृत्य, स्त्री-पुरुषों की भावात्मक प्रतिक्रियाएँ नृत्य में संग नाचते हुए भी अत्यंत स्वस्थ और स्वाभाविक।
4. नृत्यों के साथ चलने वाले गीतों और ध्वनियों में सरलता, एकरूपता, एकरसता। कभी-कभी साजों का प्रयोग नहीं भी करते हैं और यदि करते हैं तो साजों के दिखावे अत्यधिक आकर्षक परन्तु वादन अत्यंत सरल और प्राथमिक।
5. नृत्यों के साथ चलने वाले गीतों में शब्दों से अधिक ध्वनि का प्राधान्य तथा अधिकतर गूँज पैदा करने वाले स्वर।
6. अधिकतर सामाजिक नृत्य, कथा-नृत्यों का नितांत अभाव।
7. आकर्षक अलंकरण, प्रकृति के निकट होने से पोशाक बहुत अधिक आकर्षक।

ये गुण लगभग सभी आदिम जातियों के नृत्यों में कुछ कम-ज्यादा परिमाण में पाये जाते हैं। उन पर अन्य स्थानीय विशेषताएँ तो होती हैं फिर भी इन नृत्यों में पुरातन परिपाटी और परंपरा का बड़ा प्रमाण है। उनमें आधुनिक जोड़-तोड़, बनाव, सजाव, श्रृंगार उनके गुणों को कम कर देता है। इनके नृत्यों में

चेष्टाहीनता का प्रधान्य रहता है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष के आदिम नृत्यों की अपनी अलग श्रेणी है। उन्हें अन्य लोक-नृत्यों की श्रेणी में डालना उचित नहीं है।¹

उक्त बिंदुओं में आदिवासियों के नृत्यों के स्थूल एवं प्रत्यक्ष गुणों को रेखांकित करने का सफल प्रयास किया गया है। साथ-ही-साथ आधुनिकता के प्रभाव से किस तरह नृत्य की सजीवता-सटीकता, सहजता से बनावटीपन और जटिलता की ओर अग्रसरित है। जो नृत्य के लिए भावी संकट का द्योतक है। झारखंड के आदिवासियों में अलग-अलग मौसम, पर्व-त्यौहारों और अन्य अवसरों पर अलग-अलग नृत्य-गीत गाये जाते हैं। जिसके संदर्भ में प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल लिखती हैं - “फगुवा, डमकच, हढिया, इंद्रधरा लुझरी, रसकिर्ता, जनानी झूमइर, सोहराई, नटुआ, कली नचनी, सेदली, घोड़ा, जदुर, ओर जदुर, जापी गेना, चिटिद, करम, खेमटा, जरगा, ओर जरगा, बूढ़ीकरम, बुरू, जाली, राचा, डाहार बाहा, दोड़ा, दोंगड़े, आषाढ़िया, शिकारी, दसंग, दोसमी, साकरात, फागू खद्दी, डोडेंग, घुरिया, छेछड़ी कुवार डोयोर, हो नृत्य मागे, बा हेरो आदि काफी लोकप्रिय हैं। ये लोकनृत्य एकल नहीं बल्कि सामूहिक होते हैं जो हमें समाज से जोड़ते हैं।”²

उक्त नृत्यों के नाम क्षेत्रीय एवं देशज बोलियों में हैं, इसलिए इस क्षेत्र से अपरिचित लोगों के लिए यह नाम नया और अजूबा भी लग सकता है। उपर्युक्त नृत्यों में अनेक नृत्य सदानों के बीच प्रसिद्ध है जैसे डमकच, इंद्रधरा और लुझरी। जिन्हें आदिवासी, साथ-साथ रहने की वजह से अपना लिये हैं।

4.5.5.3 आदिवासी नृत्यों का नामकरण

प्रो. श्रीचन्द्र जैन आदिवासी नृत्यों का नामकरण बारह स्थूल आधारों पर किये हैं जो इस प्रकार हैं-

1. “देवी-देवताओं से संबंधित, यथा करमा नृत्य, गौरी-नृत्य, भैरव-नृत्य, इन्दल-नृत्य, जागर-नृत्य आदि।
2. वाद्यों से संबंधित, यथा ढप-नृत्य, बांसुरी-नृत्य, थाली-नृत्य चट-कोटा-नृत्य आदि।
3. पशु-पक्षियों से संबंधित, यथा शेर-नृत्य, भालू नृत्य, मोर नृत्य, सुआ-नृत्य, भैंसा नृत्य आदि।

¹ आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 35

² झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - वंदना टेटे, अंक 1, जून-अगस्त 2008, पृ.सं. 64

4. अस्त्र-शस्त्रों से संबंधित, यथा तलवार-नृत्य, भाला-नृत्य, कुल्हाड़ी नृत्य, तीर नृत्य आदि।
5. जाति-उपजाति नामों पर अवलंबित, यथा बैगा-नृत्य, कोरकू-नृत्य, संथाल-नृत्य, गोंड नृत्य, भील-नृत्य, उराव-नृत्य आदि।
6. पर्व-त्यौहार से संबद्ध, यथा दिवाली-नृत्य, होली-नृत्य, नवाई-नृत्य, जवारा-नृत्य, दशहरा-नृत्य, बीजारोपण नृत्य आदि।
7. संस्कारों से संबंधित, यथा पुत्र-जन्म-नृत्य, विवाह-नृत्य, तेरहीं नृत्य आदि।
8. नृत्यों के नामकरण में शैलियों का विशेष महत्व माना गया है। फलतः अनेक नृत्यों के नाम शैलीगत माने गये हैं। यथा, घेरा-नृत्य, देहरी नृत्य, घूमर-नृत्य मंडल नृत्य आदि।
9. व्यवसायों से संबद्ध नामकरण, यथा शिकार-नृत्य, काष्ठ-नृत्य पनघट नृत्य आदि।
10. उपकरण-विशेष से संबंधित, यथा गेंडी-नृत्य, इस नृत्य में नर्तक गेंडी (एक लम्बी मजबूत) लकड़ी की खूंटी पर ही पैर रखकर नाचा करते हैं।
11. युद्धों से संबद्ध नृत्यों का नामकरण आदिवासी नृत्य-कला में अधिक उभरा है। यथा दुर्ग-नृत्य, अटारी-नृत्य आदि।
12. यह प्रायः देखा गया है कि इन नृत्यों में विविध गीतों का गायन अनिवार्य सा है। परिणामस्वरूप कई नृत्यों के नाम गीतों की टेकों पर भी आधारित माने गये हैं। यथा- रीना-नृत्य, इसमें आदिवासी महिलाएँ नाचती हुई रीना-रीना, रीहा ना, टेक को बारम्बार दुहराती हैं।¹

उक्त नामकरण का आधार सटीक एवं स्पष्ट है तथा समग्रतः में आदिवासी नृत्यों का नामकरण किया गया है बावजूद इसके, इसमें झारखंड के प्रसिद्ध छऊ नृत्य और पईका-नृत्य का जिक्र कहीं नहीं मिलता है, जो सोचनीय है।

¹ आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ.सं. 36-37

4.5.5.4 छऊ नृत्य

यह झारखंड का राजकीय नृत्य है। इस नृत्य में विशेष प्रकार के पोशाक घुंघरू और मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। इसमें दो दल होते हैं एक नृत्य अभिनय करने वाला और दूसरा वाद्य यंत्र (नगाड़ा) बजाने वाला। इसमें गायन नहीं होता है। इसके संदर्भ में प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल एक जगह लिखती हैं “छऊ नृत्य नाट्य को तो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पहचान और सम्मान प्राप्त है। यह नृत्य सरायकेला के अलावे उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल का भी मुख्य लोक नृत्य है। यह ओजपूर्ण नृत्य की शैली है, जिसमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाओं के मंचन के लिए कलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे मुखौटों को धारण कर बड़े ही आकर्षक अंदाज में सामूहिक नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। छऊ की मुख्यतः तीन शैलियाँ हैं- सरायकेला छऊ, मयुरभंज छऊ और पुरुलिया छऊ। इसके अतिरिक्त मुण्डाओं का पाइका नृत्य भी वीर रस का नृत्य है। छऊ की तरह ही पाइका में भी शारीरिक भाव-भंगिमाओं, गति संचालन का बेजोड़ समन्वय है। फर्क सिर्फ इतना है कि छऊ में मुखौटों और कथा का प्रयोग होता है जबकि पाइका में ये दोनों तत्व नहीं हैं। पाइका नृत्य युद्ध संरचना जैसी होती है। यह नृत्य शैली आदिवासियों की इस विश्वास और साहस को लयात्मक ढंग से अभिव्यक्त करता है कि अपने राज्य, अपनी संस्कृति तथा जीवन की रक्षा के लिए वे हमेशा तैयार एवं तत्पर हैं।”¹

उक्त लेख छऊ नृत्य की व्यापकता, ख्याति के साथ-साथ इसके प्रकार और विशेषताओं का तो बखूबी उल्लेख करता ही है, इसके साथ-ही पाइका नृत्य से इसकी समानता और भेद को स्पष्ट करते हुए इसके तमाम प्रेरणामयी संभावनाओं को रेखांकित करने का सराहनीय प्रयास किया गया है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि छऊ नृत्य का प्रदर्शन सिर्फ वर्ष में एक बार मेला या मंडा के समय किया जाता है। इसे उतना बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है, जितना वास्तव में मिलना चाहिए। सिर्फ राजकीय नृत्य का दर्जा दे देने से उसका विकास संभव नहीं है।

इस नृत्य शैली का कोई लिखित इतिहास नहीं मिलता है और न ही नृत्य विषयक कोई साहित्य। इस नृत्य के नाम छऊ की उत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों का मानना है

¹ झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - वंदना टेदे, अंक 1, जून-अगस्त 2008, पृ.सं. 64

कि छऊ शब्द की व्युत्पत्ति 'छाया' शब्द से हुई है और इसे अनेक नर्तक भी स्वीकार करते हैं। लेकिन इस मत को अस्वीकार करने वाले भी कम नहीं हैं। चूंकि इस नृत्य का विस्तार पुरुलिया से मयूरभंज तक है। इसकी उत्पत्ति के संदर्भ में डॉ. प्रतिमा शर्मा लिखती हैं - “उड़िया की उपभाषाओं में छऊ का अर्थ है, शिकार या दबे पाँव आक्रमण करना। इसी अर्थ से विकसित एक अन्य मत है कि छाऊनी से छऊ का विकास हुआ है। छाऊनी का अर्थ, सेना का खेमा। इसी से हिन्दी शब्द छावनी का भी संबंध है। इसी से जुड़ा एक मत है कि छऊ का संबंध छउक अर्थात् आक्रमण से है।”¹

मेरे ख्याल से नृत्य करने वाले और वाद्य यंत्र बजाने वालों की कुल संख्या प्रारंभ में छः होने की वजह से संभवतः इसका नाम छऊ पड़ा हो। इसके नामकरण का आधार जो भी रहा हो, लेकिन इसकी नृत्य शैली वीर रसपूर्ण होने की वजह से दर्शक अनायास ही इसकी ओर खींचे चले आते हैं।

रामप्रवेश सिंह अपनी पुस्तक में छऊ नृत्य के संदर्भ में लिखते हैं “यह उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रीय नृत्य है। यह भाव-नृत्य है। इसमें मुखौटे लगाकर नृत्य किया जाता है। एक व्यक्ति गाता है। गीत की अंतिम पंक्ति पर ढोल-मजीरा और घुँघरू वाद्यों के साथ नर्तक किसी देवी-देवता या पौराणिक पात्र के रूप में मंच पर प्रवेश करता है उसके साथ ही नर्तक नृत्य करने लगते हैं। इस नृत्य में पहले देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है, तब कोई रूपक प्रस्तुत किया जाता है।”²

रामप्रवेश सिंह छऊ नृत्य को सिर्फ उड़ीसा का आदिवासी क्षेत्रीय नृत्य बताते हैं, जबकि इसका विस्तार झारखंड से बंगाल तक है। सिंह इस नृत्य में गीत होने की बात भी करते हैं जबकि झारखंड के छऊ नृत्य में ऐसा देखने को नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि अलग-अलग राज्यों के छऊ नृत्य के स्वरूप में भिन्नता विद्यमान है।

¹ भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक, प्रकृति पूजा और पर्व-त्यौहार - डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा, पृ.सं. 67

² लोकायत और जनजातीय संस्कृति - रामप्रवेश सिंह, पृ.सं. 286

पंचम अध्याय

झारखंड केन्द्रित उपन्यासों की उपन्यास-कला

उपन्यास विधा का इतिहास और वर्तमान पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि इस विधा में लचीलेपन की अपार संभावनाएं हैं। इसलिए यह परिवर्तित काल के अनुरूप इसकी उपन्यास-कला भी परिवर्तनशील रही है। उपन्यास कला के आविर्भाव के केन्द्र में मध्यवर्ग आधार स्तंभ की भूमिका अदा की है, ऐसा विद्वानों का मानना है, लेकिन अब वह धारणा व आधार में सकारात्मक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगत होने लगा है। फलतः उपन्यास कला में हाशिये के समाज (आदिवासी, दलित, स्त्री और मुस्लिम) को धीरे-धीरे यथोचित स्थान मिलना प्रारंभ हो गया है।

उपन्यास कला के इतिहास, व्यापकता, गतिशील रूप, उदार प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए बीना श्रीवास्तव ने उसे सात भागों में रूपायित करने का प्रयास किया है-

1. “उपन्यासकला का बहुस्तरीय (पालिसी स्टेमिक) पक्ष : उपन्यास का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। इसमें प्रायः सभी साहित्यिक विधाओं की विशेषताओं का समावेश होता है, जैसे: कविता की काव्यात्मकता, नाटक का संवाद तथा महाकाव्य के समान विस्तृत जीवन का चित्रण।
2. विधा की गत्यात्मकता तथा लचीलापन : उपन्यास कला का रूप दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होता जा रहा है। अतः इसे किसी परिभाषा से बांधना कठिन ही नहीं, असंभव है।
3. वस्तुपक्ष का समस्याजनित रूप : समसामयिक समाज की समस्याओं को उभारकर सम्मुख रखना तथा उनके समाधान की ओर प्रवृत्त होना उपन्यास की एक मुख्य विशेषता है।
4. गद्य का माध्यम होना : उपन्यास के पूर्ववर्ती साहित्यिक विधाओं का माध्यम मूलतः पद्य ही था। अतः माध्यम के रूप में प्रथम बार गद्य को स्वीकार करके उपन्यास कला, साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन क्रांति लेकर उद्भूत हुई।

5. काल के संदर्भ में, भूत का वर्तमान में ढलना और भविष्य की संभावनाओं का समसामयिकता की क्रोड से उत्पन्न : यह उपन्यास कला की सक्षमता का परिचायक है। उपन्यास में अतीत की घटनाओं को वर्तमान के संदर्भ में देखने की प्रवृत्ति ही मुख्य होती है।
6. चरित्रों का पूर्व नियोजित रूपों से अलग हटकर जीवन से अनुमेय रहित होना : उपन्यास के चरित्र बंधी बंधाई लीक पर चलने वाले चरित्र न होकर वास्तविक जीवन के पात्रों जैसे सजीव होते हैं जिनमें पाठक स्वयं को बड़ी सहजता के साथ देख सकता है। चरित्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा अंतःसंघर्षों पर विशेष बल दिया जाता है।
7. उपन्यास कला का उदार दृष्टिकोण होना : उपन्यास में सामाजिक परिवर्तनशीलता की स्वीकृति मिलती है। उपन्यास के बदलते हुए मानव व समाज के मूल्यों को पहचान कर उसे आत्मसात कर लेने की अद्भुत क्षमता होती है।¹

उक्त उपन्यास-कला के अंतर्गत आदिवासी जीवन संघर्ष, परंपरा, संस्कृति, इतिहास और अनेक प्रकार के समसामयिक समस्याओं को केन्द्रित कर पुराने विषय-वस्तु की लीक से हटकर अनेक उपन्यास अनवरत रचे जा रहे हैं, जो उपन्यास-कला में सार्थक परिवर्तन का परिचायक है।

5.1 उपन्यासों का वर्गीकरण आकार की दृष्टि से -

आकार की दृष्टि से झारखंड पर आधारित हिन्दी उपन्यासों को तीन भागों में विभाजित किया गया है-

1. प्रदीर्घ
2. मध्य
3. लघु

1. प्रदीर्घ - प्रदीर्घ यानी अत्यधिक दीर्घ, उपन्यासों के अंतर्गत वैसे उपन्यासों को रखा गया है, जिनका आकार व कलेवर कथानक की व्यापकता के कारण उपन्यासों के पृष्ठों की संख्या तीन सौ से अधिक है। जैसे 'समर शेष है', 'गायब होता देश', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', 'हूल पहाड़िया', 'जो इतिहास में

¹ हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना - बीना श्रीवास्तव, पृ.सं. 6-7

नहीं है', 'छैला सन्दू', 'रेड जोन' और 'लौटते हुए' इत्यादि। प्रदीर्घ उपन्यासों की सूची में सिर्फ वैसे उपन्यासों को रखा गया है जिनके पृष्ठों की संख्या तीन सौ है या उससे अधिक।

2. मध्य - मध्य यानी मझला या बीच का आकार, की सूची में उन उपन्यासों को रखा गया है, जिनके पृष्ठों की संख्या दो सौ से तीन सौ के बीच है। जैसे- 'गगन घटा घहरानी', 'धपेल', 'पठार पर कोहरा', 'सावधान नीचे आग है' और 'धार' इत्यादि।

3. लघु - लघु या छोटे आकार के उपन्यासों के अंतर्गत वैसे उपन्यासों को रखा गया है जिनके पृष्ठों की संख्या एक सौ से दो सौ के बीच है या जिनके पृष्ठों की संख्या दो सौ से कम है। जैसे 'मिशन झारखंड', 'पलास के फूल', 'सीता-मौसी', 'पाँव तले की दूब', 'खुले गगन के लाल सितारे', 'शाम की सुबह', 'पलास के फूल', 'सांवला पानी', 'वन के मन में', 'वनलक्ष्मी', 'सोन पहाड़ी', 'मौन घाटी', 'जंगल के गीत', 'ग्लोबल गाँव के देवता' 'बड़े सपनों की ऊँची उड़ान' इत्यादि।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि झारखण्ड पर केन्द्रित उपन्यास आकार या कलेवर के आधार पर तीन प्रकार के हैं - प्रदीर्घ, मध्य और लघु। जिनमें प्रदीर्घ उपन्यासों के अंतर्गत आठ, मध्य उपन्यासों के अंतर्गत पाँच और लघु के अंतर्गत पंद्रह उपन्यासों को रखा गया है। इस प्रकार कुल उपन्यासों की संख्या अट्ठाईस है।

5.2 कथावस्तु : स्रोत के आधार पर

प्रायः उपन्यासों की कथा-वस्तु के स्रोत भिन्न-भिन्न होते हैं। यह विविधता झारखण्ड केन्द्रित हिन्दी आदिवासी उपन्यासों की कथावस्तु में भी स्पष्ट दिखाई देती है।

5.2.1 पौराणिक

जिन उपन्यासों की कथावस्तु प्राचीन कथाओं पर आधारित है, जो कथा लोक-स्मृतियों में जीवित है उसे पौराणिक कथावस्तु का स्रोत कहा जा सकता है। जैसे 'छैला सन्दू' उपन्यास की कथा अति प्राचीन है। नायक 'सन्दू' मुण्डा आदिवासियों की लोक-स्मृतियों में आज भी जीवित है, उसी को आधार बनाकर लेखक ने उपन्यास की कथावस्तु निर्मित किया है तथा उसके इर्द-गिर्द अनेक उपकथाएँ चलती हैं।

असुरों की कथाएँ जो हजारों वर्ष पुरानी हैं, लेखक उसे समसामयिक समस्याओं के साथ जोड़कर एक सार्थक कथावस्तु का रूप प्रदान किया है। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास असुरों के प्रति हजारों वर्षों से चली आ रही संकीर्ण और अमानवीय मान्यता को ध्वस्त करते हुए न केवल उनके स्वर्णिम अतीत का चित्र खींचा है, बल्कि असुरों के विनाश की कथा को भी उकेरने का सफल प्रयास किया है।

5.2.2 ऐतिहासिक

जिन उपन्यासों की कथावस्तु इतिहास व विद्रोह को आधार बनाकर निर्मित किया जाता है, उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ और ‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास की कथावस्तु इतिहास और आदिवासी विद्रोह पर केन्द्रित है।

‘जो इतिहास में नहीं है’ का कथानक संताल ‘हूल’ के नायक सिदू, कान्हू, चाँद, भैरव के बलिदान के ताने-बाने पर निर्मित है। वहीं ‘हूल पहाड़िया’ तिलका मांझी के आदि विद्रोही व्यक्तित्व पर केन्द्रित है। डॉ. प्रदीप शर्मा इतिहास का प्रयोग उपन्यास में किस प्रकार किया जाता है, उसके संदर्भ में क्रमशः लिखते हैं-

1. “पात्र और कथानक नितांत काल्पनिक होकर भी लेखक किसी युग के वातावरण को इस प्रकार रूपायित करता है कि उस युग का चित्र साकार होकर पाठकों के समक्ष स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार के उपन्यासों में इतिहास का आभास मात्र होते हुए भी ऐतिहासिक वातावरण या युग का जीवंत चित्र उपन्यस्त किया जाता है।
2. कुछ उपन्यासों की कथा तो ऐतिहासिक रहती है, किन्तु पात्रों का रूपायन काल्पनिक होता है। उसकी दृष्टि संपूर्णतः कथा पर केन्द्रित रहती है। कथा के माध्यम से ही वह अतीत युग का वातावरण प्रस्तुत करता है। जैसे आचार्य चतुरसेन का ‘वैशाली की नगरवधू’ तथा वृंदावनलाल वर्मा का ‘विराटा की पद्मिनी’।
3. कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर ही ऐतिहासिक उपन्यास गढ़ दिया जाता है। इसमें वे घटनाएँ जो प्रसार पाना चाहती थी, इतिहासकारों की दृष्टि में नगण्य रह चुकी है, उपन्यासकार उनको जीवंत बनाकर चेतना प्रदान करता है। इतिहास में ये महत्वपूर्ण किन्तु भूली

हुई घटनाएँ ही मात्र ऐतिहासिक होती हैं और शेष कथा पात्र काल्पनिक होते हैं। लेकिन वातावरण का जीवंत रूपायन यहाँ इष्ट होता है। वृंदावनलाल वर्मा का ‘भुवन विक्रम’ इसी साक्ष्य का उदाहरण है।’¹

उक्त पंक्तियों की भाँति ही आदिवासी विषयक हिन्दी केन्द्रित उपन्यासों में इतिहास की घटना, आंदोलन के नायक, आंदोलन की पृष्ठभूमि को तथा उस समय की परिस्थितियों और शोषक तत्वों को (जमींदार, सामंतों) काल्पनिक पात्रों के माध्यम से जीवंत रूप में उकेरने का प्रयास किया है। जैसे ‘जंगल के गीत’ उपन्यास में ‘उलगुलान’ यानी बिरसा मुण्डा के आंदोलन में अनगिनत, अपरिचित युवक कूद पड़े थे, जिन्हें हम आज नहीं जानते हैं, लेखक इन्हें करमा जैसे काल्पनिक पात्र के माध्यम से रेखांकित करने का प्रयास किया है।

5.2.3 समसामयिक

वर्तमान परिदृश्य, घटना और व्यवस्था जनित प्रवृत्तियाँ जिनसे आदिवासी समुदाय प्रभावित हो रहा है। जो समस्याएँ आदिवासी जीवन-दर्शन के प्रतिकूल हैं, उक्त विविध विषयों को अपनी कथावस्तु का आधार बनाकर लिखे गये उपन्यास निम्नांकित हैं- ‘रेड जोन’ उपन्यास में औद्योगिकीकरण से उत्पन्न समस्याएँ विस्थापन, पलायन, बेरोजगारी पुनर्वास तथा कॉर्पोरेट मीडिया का आदिवासी विरोधी दृष्टिकोण, मीडिया प्रबंधन का रिपोर्टों पर अनावश्यक, अत्यधिक दबाव, शिबू सोरेन का राजनीति में प्रवेश के पश्चात व्यक्तित्व व उद्देश्य में परिवर्तन, नक्सलवाद की समस्या, नक्सली बनने की वजह, नक्सलियों का अपनी विचारधारा से भटकावा। जमींदार-सामंतों द्वारा जातीय सेना का गठन तथा जातीय सेना द्वारा नक्सलियों के विरुद्ध पुलिस की सहायता करना इत्यादि कथावस्तु के मुख्य स्रोत हैं।

‘गायब होता देश’ उपन्यास में पूंजीवाद, भूमंडलीकरण, कारपोरेट तथा रियल स्टेट की अवधारणा, नेता, पुलिस-प्रशासन, अधिकारियों और वकीलों से भू-माफियाओं की मिलीभगत से मुण्डाओं की रैयती जमीन का दिनों-दिन लूटते चले जाना। सी.एन.टी. एक्ट 1908 ई. की प्रासंगिकता, मुण्डा आदिवासियों का वर्तमान, इतिहास और संस्कृति। आदिवासी सामाजिक कार्यकर्ताओं का पुलिस

¹ हिन्दी उपन्यासों का शिल्प-विधान - डॉ. प्रदीप शर्मा, पृ.सं. 255

उत्पीड़न, न्याय व हक के लिए विरोध प्रदर्शन, जुलूस आदि लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अपनाने वालों की हत्या आदि चीजों को कथावस्तु का आधार बनाया गया है।

‘मिशन झारखण्ड’ उपन्यास में राजनीति की वर्तमान दाँव-पेंच, नेताओं द्वारा चुनाव के पूर्व और उसके पश्चात् सरकार गठित करने के लिए आपराधिक तत्वों की सहायता लेना, राजनीति का अपराधीकरण, राजनीति में वंशवाद, सत्ता में रहते हुए पुलिस-प्रशासन तथा तंत्र का निजी स्वार्थ के लिए दुरुपयोग, निर्दलीय जनप्रतिनिधियों का खरीद-फरोख्त आदि विषयों को विनोद कुमार ने अपने उपन्यास की कथावस्तु बनाया है।

जिसके संदर्भ में प्रसिद्ध वामपंथी, सामाजिक कार्यकर्ता सीताराम शास्त्री लिखते हैं- “भारत में राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के हथकंडों का एक दस्तावेज है ‘मिशन झारखंड’। कथा काल्पनिक है, पर वस्तुस्थिति कमोबेश देश में हर जगह यही है, चाहे केन्द्र में हो या राज्य में। चंद अपवादों को छोड़कर हर जगह राजनीतिक दलों में सिद्धांतहीनता, भ्रष्टाचार, जनतंत्र का लोप और सत्ता पाने के लिए किसी भी हद तक जाने की ललक दिखाई देती है। सत्ता पाने के लिए अपने बुनियादी जीवन मूल्यों से गद्दारी करने में गुरेज नहीं और न अपराध से उन्हें किसी तरह की नैतिक हिचकिचाहट होती है?’¹

‘धपेल’ उपन्यास की कथावस्तु सूखा, गरीबी, भुखमरी पर आधारित है। पलामू झारखंड का सबसे अधिक सूखाग्रस्त जिला है सूखा और अकाल के लिए यह जिला बदनाम है। भ्रष्ट नेता और अधिकारी इसकी स्थिति सुधारने के लिए कोई ध्यान नहीं देते हैं। जिसके संदर्भ में लेखक लिखते हैं- “प्रकृति ने इसे वर्षा-वंचित क्षेत्र बना डाला, अफसरों ने इसे अपना सुरक्षित चारागाह बना लिया और वोट की राजनीति करने वालों ने तो इसे खेल का मैदान ही बना डाला। ... आज भी पलामू में बंधुआ मजदूरी है। लोग हर साल सुखाड़ से जूझते और भूख से मरते हैं, पत्ते और जंगली जड़ी-बूटी खाकर पेट की आग शांत करते हैं!’²

¹ मिशन झारखंड - विनोद कुमार, उपन्यास के कवर पृष्ठ से

² धपेल - श्याम बिहारी 'श्यामल', पृ.सं. 240-241

उक्त पंक्तियाँ पलामू की वर्तमान परिदृश्य और हालात को अभिव्यक्त करती हैं।

‘लौटते हुए’ उपन्यास में वाल्टर भेंगरा ‘तरूण’ ने बहुतायत संख्या में आदिवासी युवतियों के महानगर पलायन को कथावस्तु का आधार बनाया है। जिसके केन्द्र में सलोमी नामक पात्रा है, उसी के इर्द-गिर्द अन्य कथाएं घूमती हैं। साथ-ही-साथ गाँव की समस्याओं और महानगरों के गिरते जीवन मूल्य तथा पुरुषों की कुंठित वासना को भी बखूबी रेखांकित किया है।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में झारखंड के आदिवासी गाँव गजलीठोरी में स्कूल की वास्तविक स्थिति, शिक्षा के नाम पर लूट, शिक्षा विभाग में ऊपर से नीचे तक फल-फूल रहा भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, डायन प्रथा, अशिक्षा, सुदूर गाँवों में जमींदार-सामंती तत्वों का वर्चस्व, साहूकारों के शोषण-उत्पीड़न के विविध रूप, ऋण की समस्या एवं उसका समाधान, भूमिगत संगठनों का आतंक इत्यादि विषयों को लेखक ने कथावस्तु का आधार बनाया है।

5.2.4 प्रजातीय

वैसे उपन्यास जिसमें एक आदिवासी जीवन के विविध पक्षों को केन्द्रित कर रचा गया है, उन्हें प्रजातीय उपन्यास की कोटि में रख सकते हैं। जैसे संजीव का ‘पाँव तले की दूब’ संताल आदिवासियों की जीवन-स्थिति को केन्द्रित कर रचा गया है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी संताल आदिवासियों की संस्कृति और परंपरा पर प्रकाश डालता है। ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में यूरेनियम खनन से उत्पन्न समस्याओं के साथ-साथ ‘हो’ आदिवासी जीवन-संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है।

योगेन्द्रनाथ सिन्हा के दो उपन्यास ‘वन के मन में’ और ‘वनलक्ष्मी’ सिंहभूम के ‘हो’ आदिवासियों के जीवन, संस्कृति और समस्याओं पर केन्द्रित है। ‘वन के मन में’ उपन्यास में गोनोंग (वधू-मूल्य) की समस्या और युवागृह के क्रियाकलापों का विस्तार से चित्रण किया गया है। वहीं ‘वनलक्ष्मी’ में लकड़ी का कारखाना ‘मुल हाऊस’ खुलने के साथ ही ‘हो’ आदिवासी न्यूनतम मजदूरी दर पर कार्य करने लगते हैं, वही दूसरी ओर शिवदत्त गीता का उपदेश देकर उन्हें बीमारावस्था में भी

खटने के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है, यह एक प्रकार शोषण ही है। दूसरी ओर उपन्यास जेफरन-बुदनी के बनैले प्रेम में आगे बढ़ता है।

‘पलास के फूल’ संतोष प्रीतम का पहला उपन्यास है जो मुण्डा आदिवासी पर केन्द्रित है। जिसमें प्रेम और अंतर्जातीय विवाह को विस्तार से चित्रित किया गया है। अशोक पागल उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं “‘पलास के फूल उपन्यास की शक्ति में लिखा गया एक शोध-प्रबंध है। जिसमें छोटानागपुर के एक प्रखंड विशेष- अड़की प्रखंड के रहने वाले एक जनजाति विशेष- मुण्डा जनजाति के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं जीवन के अन्य विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त जानकारी औपन्यासिक कथाक्रम और पात्रों के माध्यम से संकलित है।”¹ इस उपन्यास में सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर विशेष बल दिया गया है, जबकि राजनीतिक पहलू पर शून्य के बराबर।

5.2.5 खनन-संबंधी

खनिज संसाधनों (कोयला, यूरेनियम) के खनन एवं उससे उत्पन्न समस्याएँ, बीमारी, खदान पर काम करने वाले मजदूरों की असुरक्षित जिंदगी तथा न्यूनतम आधारभूत सुविधाओं के अभावों को कथावस्तु का आधार बनाकर रचे गये उपन्यास इस प्रकार हैं- ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में यूरेनियम खनन एवं उसके संशोधन से उत्पन्न प्रदूषण, विकिरण, विस्थापन तथा अनेक प्रकार की बीमारियों का चित्रण दृष्टिगत होता है।

‘सावधान नीचे आग है’ उपन्यास में कोयला खदान में मजदूरों की असुरक्षित जिंदगी, खदान में पानी घुसने या खदान के धंसने से किसी भी वक्त हादसा/दुर्घटना होने की संभावना रहती है। प्रबंधन की ओर से मजदूरों की सुरक्षा के लिए कोई विशेष उपाय नहीं होता है। चंदनपुर कोयला खदान दुर्घटना उसी का सटीक उदाहरण है।

‘धार’ उपन्यास में मैना द्वारा तेजाब फैक्टरी स्थापित करने का विरोध करना तथा कोयला के अवैध-वैध खनन में ऊपर से नीचे तक (मंत्री, विधायक, पुलिस) भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। उनके संरक्षण और सहयोग से ही अवैध खनन के कारोबार को माफिया लगातार अंजाम देते हैं। इसके एवज में प्रत्येक माह

¹ पलास के फूल - संतोष प्रीतम, पृ. भूमिका से

उन्हें मोटी रकम पहुँचायी जाती है। वहीं दूसरी ओर मैना की अगुवाई में आम जनता द्वारा जब 'जन खदान' का कार्य प्रारंभ किया जाता है तो प्रशासन उसे बंद करवा देता है, क्योंकि वहाँ से उन्हें कमीशन नहीं मिलता है। उक्त विषय को लेखक ने उपन्यास की कथावस्तु बनाया है।

‘सीता-मौसी’ उपन्यास में रमणिका गुप्ता ने कोयला खदान में मजदूरों के शोषण, मजदूरी को लेकर पक्षपात तथा विशेषकर महिला मजदूरों का किस तरह शारीरिक शोषण किया जाता है, पुरुष द्वारा स्त्री की कमाई हड़पने के लिए उससे विवाह करने का ढोंग रचा जाता है और उसे अपने शारीरिक सुख की तुष्टि के लिए किस तरह इस्तेमाल करता है, साथ-ही गैर-आदिवासी पुरुष स्वजातीय लड़की से दूसरी शादी करके अपना घर बसाना चाहते हैं आदि विषयों को लेखिका ने उपन्यास की कथावस्तु बनाया है।

5.2.6 अंचल-विशेष संबंधी

अंचल विशेष को केन्द्रित कर लिखे गये उपन्यास, आंचलिक उपन्यास कहलाते हैं, बशर्ते कि वे आंचलिक होने के आवश्यक शर्तों या तत्वों को पूरा करते हों। डॉ. पीटर पौल एक्का ने अपने चार उपन्यासों- ‘पलास के फूल’, ‘सोन पहाड़ी’, ‘मौन घाटी’ और ‘जंगल के गीत’ को आंचलिक उपन्यास माना है। जबकि उनके चारों उपन्यास आंचलिकता के उन तत्वों को पूरा नहीं करते हैं, जो आंचलिक उपन्यास होने के लिए जरूरी है। जिसके संदर्भ में डॉ. प्रतापनारायण टंडन लिखते हैं- “बहुत से उपन्यासकारों की कृतियों में आंचलिक तत्व आया है, लेकिन इतना अधिक नहीं कि उस आधार पर उपन्यास को आंचलिक कहा जाए, जैसे कि फणीश्वर नाथ रेणु के या नागार्जुन के उपन्यासों के लिए कहना जायज हो सकता है।”¹

5.3 कथावस्तु के तत्व

5.3.1 आख्यान परकता

आख्यान परकता पर जाने से पहले आख्यान की परिभाषा जानना आवश्यक है। ‘आधुनिक हिन्दी शब्द कोश’ में गोविन्द चातक ने लिखा है- “पु.सं. 1. कहने या सूचित करने की क्रिया, 2. जो कुछ कहा या सूचित किया जाए, वृत्तान्त, कथा, विवरण, कहानी प्रसंग”²

¹ हिन्दी उपन्यास कला - डॉ. प्रतापनारायण टंडन, पृ.सं. 328

² आधुनिक हिन्दी शब्द कोश - संपा. गोविन्द चातक, पृ.सं. 57

‘नालंदा विशाल शब्द सागर’ के अनुसार “आख्यान (संज्ञा पु.) 1. आख्यान। वर्णन, वृत्तांत। 2. कथा। कहानी। 3. उपन्यास के तीन भेदों में एक।”¹

हिन्दी पर्यायवाची कोश

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने हिन्दी पर्यायवाची कोश में लिखा है- “आख्यायिका, कथा, कहानी,, किस्सा, गल्प, वार्ता।”²

‘गायब होता देश’ उपन्यास में मुण्डा आदिवासी समुदाय के इतिहास, धर्म, सृष्टि और विनाश की प्रक्रिया तथा अस्तित्व रक्षा की गहन चिंता को आख्यान परक ढंग से उपन्यास का पात्र सोमेश्वर मुण्डा बताते हुए कहते हैं “... बाबा-आजा बतलाते थे कि बारह नस्लों के लेमुरियन, सबके सब ज्ञानवान और आध्यात्मिक जन। पाहन-पुजार पर भरोसा करने वाले, सिंगबोंगा का निहोरा करने वाले जन। लेमुरिया के हमारे पूर्वज कोपांट मुण्डाओं को, पाहन-पुजारों की, देवड़ाओं और दंतरी को सिंगबोंगा ने संकेत दिया था कि मिट्टी-पानी की लड़ाई में पानी की जीत होने वाली है। पानी सब डूबोने वाला है। इस जलडूबी से बचने के लिए उन्होंने तैयारियां शुरू कर दी थी।”³ भूमिगत सुरंगें तैयार होने के बाद वे सुरक्षित स्थान की ओर प्रस्थान करते हैं। अपनी बात जारी रखते हुए वे कहते हैं- “लेमूरियन को, कोपांट मुण्डाओं को, देवड़ा और दंतरी को, जैसे ही प्रलय के संकेत मिले उन्होंने उन भूमिगत सुरंगों में उतरना शुरू कर दिया। वहाँ उन्होंने रहना सीखा, वहाँ के परिवेश से समंजन करना सीखा। उपलब्ध वस्तुओं के हिसाब से आहार-विहार करना सीखा।”⁴

इस प्रकार अंततः आख्यान परकता के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि वह प्राचीन कथा या कहानी, वृत्तांत या प्राचीन विवरण जो शिक्षा, मूल्य, इतिहास और धर्म विषयक घटनाओं को ज्ञानात्मक ढंग से पाठक या श्रोता को बतलाने का प्रयास करता हो, आख्यान परकता कहलाता है।

¹ नालंदा विशाल शब्दसागर - श्री नवल जी, पृ.सं. 18

² हिन्दी पर्यायवाची कोश - डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ.सं. 59

³ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 133

⁴ वही, पृ.सं. 134

5.3.2 लोक-कथा और गीत रंग का रचनात्मक प्रयोग

कथावस्तु के अन्य तत्वों की भाँति लोक-कथा और गीत रंग का भी उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान होता है विशेषकर आदिवासी उपन्यासों के संबंध में। इसलिए लोक-कथा और लोक गीतों का रचनात्मक प्रयोग कथावस्तु के अभिन्न तत्वों के रूप में किया जाता है। कुछेक उपन्यासों जैसे 'रेड जोन', 'खुले गगन के लाल सितारे', 'मिशन झारखंड', 'लौटते हुए', 'शाम की सुबह', 'सांवला पानी', 'सीता-मौसी' और 'धपेल' को छोड़ दें, तो बाकी सभी उपन्यासों में लोक-कथा और गीत रंग का रचनात्मक प्रयोग किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। विशेषकर 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', 'जो इतिहास में नहीं है' और 'पठार पर कोहरा' उपन्यासों में उक्त तत्वों का रचनात्मक प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। अजय कन्डुलना अपने पहले उपन्यास 'बड़े सपनों की ऊँची उड़ान' में सबसे हटकर सर्वाधिक गीतों और कविताओं का रचनात्मक प्रयोग किया है। वे गीत तीन भाषाओं- मुण्डारी, नागपुरी और हिन्दी में हैं। ज्यादातर गीत लम्बे, पूरे एक पृष्ठ में समा गए हैं, जो गीत कम, कविता ज्यादा मालूम पड़ते हैं-

“हारना नहीं जंग हमको

जंग जीत जाएंगे हम

डर के आगे जीत है

जीत जाएंगे हम

एक दीप से लाखों दीये

जलाएंगे हम

युथ - 2

हम हैं युथ - 6

मेरी ताकत - 3 है ये युथ - 2”¹

उक्त किस्म के अनेक गीत उपन्यास में गुंथे हुए हैं।

¹ बड़े सपनों की ऊँची उड़ान - अजय कन्डुलना, पृ.सं. 64

5.3.3 मिथकों का समस्यामूलक उपयोग

प्राचीन, अलौकिक घटनाओं व समस्याओं का मिथकीय समस्यामूलक चित्रण करके पाठक या श्रोता को सरल-सहज ढंग से अवगत कराने का प्रयास किया जाता है। ‘गायब होता देश’ और ‘छैला सन्दु’ उपन्यास में मुण्डा आदिवासी समुदायों के प्राचीन काल की घटनाओं का मिथकीय-समस्यामूलक चित्र खींचा गया है। वहीं ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास में असुर समुदाय के भूत और वर्तमान की जटिल समस्याओं को मिथकीय ढंग से चित्रित किया गया है।

लेखक एक जगह लिखते हैं- “ठीक कहते हैं। असुर सुनते दो ही बातें ध्यान में आती हैं। एक तो बचपन में सुनी कहानियों वाले असुर, दैत्य, दानव और न जाने क्या-क्या! वर्णन भी खूब भयंकर। दस-बारह फीट लम्बे। दाँत-वाँत बाहर। हाथ में तरह-तरह के हथियार। नरभक्षी, शिवभक्त-शक्तिशाली।”¹

अर्थात् असुर यानी राक्षस मान लिया जाता था। आज भी मुख्यधारा के लोगों की धारणा कमोबेश वही है, जो पहले थी।

5.4 कथावस्तु का विन्यास

5.4.1 चरित्र चित्रण

उपन्यास के अनेक तत्वों में चरित्र-चित्रण भी एक आवश्यक तत्व है। इसके बिना उपन्यास साहित्य को पूर्ण नहीं माना जा सकता है। डॉ. प्रताप नारायण टंडन ने आधुनिक उपन्यासों के चरित्र चित्रण की आठ विधियों को स्वीकार किया है- विश्लेषणात्मक विधि, अभिनय विधि, स्वागत कथनात्मक विधि, आत्मकथात्मक विधि, संवादात्मक विधि, विवरणात्मक विधि, संकेतात्मक विधि और मनोवैज्ञानिक विधि।

लेखक कृति के कथानुरूप तथा परिवेश को ध्यान में रखते हुए पात्र चयन या सृजन के लिए स्वतंत्र होता है। प्रत्येक लेखक के चरित्र-चित्रण का एक विशिष्ट ढाँचा होता है। राकेश कुमार सिंह के दो उपन्यास ‘जो इतिहास में नहीं है’ और ‘हूल पहाड़िया’ के नायक और पात्र ऐतिहासिक हैं। जो युग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे ‘जो इतिहास में नहीं है’ में अंग्रेज अधिकारी ए.सी. बिडवेल, जेम्स पॉटेन्ट,

¹ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 17

सदरलैंड, अगस्टस क्लीवलैंड, सैनिक शासक कप्तान ब्रुक, जेम्स ब्राऊन, जमींदार राजेश्वर दयाल सिंह सहदेव, उपन्यास के नायक सिद्धू, कान्हू, चाँद, भैरव, प्रशिक्षित गुप्तचर लुखीराम बेसरा, भेदिया हारिल मुरमू महाजन केनाराम जैसे विविध पात्रों का चरित्र चित्रण कर, उस विशिष्ट युग को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके संदर्भ में डॉ. प्रतापनारायण टंडन ने लिखा है- “यदि कोई उपन्यास इतिहास के किसी विशिष्ट युग की कथा पर आधारित होता है, तो उसके पात्रों का चयन भी उसी युग के इतिहास से करना चाहिए, जिससे युगीन वातावरण का सम्यक चित्रण हो सके।”¹

‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास के अंग्रेज पात्र अगस्टस क्लीवलैंड, कैप्टन फोम्बले, फिलिप और व्हीलर, जनरल आयर कूट, तहसीलदार बनवारी सिंह, सुलतानाबाद की रानी सर्वेश्वरी, उपन्यास का नायक तिलका मांझी, उसके साथी कुजरा, फागुन चाँदो, बीरन, पीरथा और त्रिभुवन, मांझी सुगना आदि पात्रों के चरित्र चित्रण से लेखक उस काल के परिवेश, परिस्थिति और प्रवृत्ति को रेखांकित करने का प्रयास किया है। दोनों उपन्यासों में अगस्टस क्लीवलैंड बच्चों के बीच ‘चिलमिली साहब’ के नाम से विख्यात थे।

5.4.2 मुख्य पात्र या नायक

अधिकतर गैर-आदिवासी लेखकों के उपन्यासों का मुख्य पात्र अथवा नायक गैर-आदिवासी ही देखने को मिलता है। राकेश कुमार सिंह के ‘पठार पर कोहरा’ का संजीव सान्याल, रणेन्द्र का ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ का नव नियुक्त मास्टर (शिक्षक), ‘गायब होता देश’ का किसन विद्रोही, संजीव के ‘पाँव तले की दूब’ का सुदीप, ‘धार’ का मन्देह बाबू और अविनाश शर्मा, ‘सावधान नीचे आग है’ का आशीष, उधम सिंह और योगेन्द्रनाथ सिन्हा के ‘वनलक्ष्मी’ का जेफरन व शिवदत्त, श्याम बिहारी ‘श्यामल’ के ‘धपेल’ का गजाधर सिंह और विनोद कुमार के ‘रेड जोन’ का मानव सबके सब गैर-आदिवासी हैं। जो आदिवासी जीवन को बाहर से देखने और समझने का प्रयास करते हैं। उन पात्रों के अंदर कोई और नहीं, बल्कि लेखक स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से उपस्थित रहता है। जबकि आदिवासी लेखकों के उपन्यासों में आदिवासी नायक ही होता है। जैसे पीटर पौल एक्का के ‘सोन पहाड़ी का सुनील’, ‘मौन

¹ हिन्दी उपन्यास कला - डॉ. प्रतापनारायण टंडन, पृ.सं. 172

घाटी' का किशोर व रजनी, 'जंगल के गीत' का करमा और करमी, 'पलास के फूल' की नायिका सलोमी। सब पात्र आदिवासी हैं ये अपने समुदाय के जीवन से अच्छी तरह परिचित हैं इसलिए आदिवासी लेखकों के उपन्यासों में अनावश्यक, छोटी-छोटी चीजों का वर्णन दृष्टिगत नहीं होता है, इसलिए इनके उपन्यासों का कथानक और कलेवर आकार की दृष्टि से लघु होते हैं।

‘मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ’ का प्रमुख पात्र सगेन उपन्यास का नायक है। सगेन का अर्थ नया कोपल, फुनगी व पल्लव होता है। सगेन चेतनशील आदिवासी पात्र है जो यूरेनियम खनन कार्य से उत्पन्न अनेक समस्याओं और बीमारियों के विरुद्ध खनन प्रबंधन से लड़ने के लिए एक संगठन- ‘मरंग गोड़ाज ऑर्गनाइजेशन अगेंस्ट रेडिशन’ (मोआर) का गठन करता है। उपन्यास में अनेक पात्र हैं- सगेन का पिता रेकोंडा, रेकोंडा का पिता जाम्बीरा, प्रज्ञा, जेनिफर, प्रोफेसर सिंह, चारिबा, पत्रकार आदित्यश्री इनके अलावा देश-विदेश के वैज्ञानिक बुद्धिजीवी सब मिलकर विकिरण, रेडियोधर्मी जैसे तत्वों के विरुद्ध अपने-अपने स्तर से विरोध करते हैं।

‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास का प्रमुख पात्र जागो सेवकिया है। सेवकिया यानी बंधुआ मजदूर। राय बहादुर जमींदार है, जमुना पंडित उसका कारिंदा है। कच्छप दारोगा है, पैरागुनी ओझा है। सोनाराम, हीरामनी का प्रेमी है तथा उग्र पात्र है, जो अन्याय को तनिक भी बर्दाश्त नहीं करता है- “उस दिन सबके देखते-न-देखते सोनाराम पुलिया से उछलकर जुवेल से भिड़ गया। मरियम का हाथ छुड़ाकर जुवेल को पीटने लगा था भरे बाजार में।”¹

जुवेल डी.एस.पी. एक्का का शोहदा बेटा है, जो किसी के साथ कहीं भी मनमानी करने लगता है।

5.4.3 देशकाल अथवा वातावरण

देशकाल अथवा वातावरण उपन्यास का छठा मूल तत्व है। देशकाल या वातावरण के आधार पर पात्रों का चयन व सृजन किया जाता है। देशकाल ही उपन्यास की पृष्ठभूमि निर्धारित करता है। डॉ. प्रतापनारायण टंडन के शब्दों में- “देशकाल के अंतर्गत सामान्य रूप से किसी भी देश अथवा समाज की

¹ गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 75

सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा समाज की कुरीतियाँ या विशेषताएँ आदि समझी जाती हैं।¹

उक्त पंक्तियों में देशकाल अथवा वातावरण को मोटे तौर पर दिखाने का प्रयास किया है। आगे टंडन जी देशकाल के भेदों को छः भागों में विभाजित करते हैं- (1) सामाजिक (2) तिलिस्मि जासूसी (3) प्राकृतिक (4) भौगोलिक (5) राजनीतिक और (6) ऐतिहासिक।

उक्त विभाजन के आधार पर उपन्यासों का देश-काल अथवा वातावरण का अध्ययन प्रस्तुत किया जाना है या इनसे इतर देशकाल को अन्य दृष्टि से विश्लेषित किया जाएगा।

पीटर पौल एक्का के चारों उपन्यासों- ‘मौन घाटी’, ‘जंगल के गीत’, ‘पलास के फूल’ और ‘सोन पहाड़ी’ का देशकाल अथवा वातावरण प्रकृति सौंदर्य वर्णन से प्रारंभ होकर भौगोलिक बनावट होते हुए बीच-बीच में सामाजिक दृश्य देखने को मिलता है। उनके उपन्यासों को किसी एक निश्चित देशकाल व वातावरण के दायरे में बांध कर नहीं देख सकते हैं। उनके उपन्यासों में पेड़-पौधे प्राकृतिक सौंदर्य खेत, टाँड़ वन, पहाड़, नदी, किसान, मजदूर, सुख-दुःख, संस्कृति, परंपरा, शिक्षा, स्वास्थ्य, कोयला खदान निर्धनता, जमींदार-सामंतों का शोषण, भाषा, रीति-रिवाज, खान-पान पंचायत, मैदान, पठार, बांध निर्माण, पलायन, विस्थापन के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

राकेश कुमार सिंह के तीन उपन्यासों में दो ‘जो इतिहास में नहीं है’ और ‘हूल पहाड़िया’ का देशकाल अथवा वातावरण ऐतिहासिक है। ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास संताल आंदोलन की पृष्ठभूमि व परिवेश पर आधारित है। संताल हूल का समय 1855-56 ई. माना गया है। इतिहास के कुछ तथ्यों और पात्रों का प्रयोग उपन्यास को प्रमाणिक और विश्वसनीय बनाने के लिए किया जाता है जैसे- अंग्रेजों की प्रशासनिक नीतियाँ, पुलिस, जमींदार महाजनों का शोषण- दमन, कर्ज की समस्या, भूमि-कर, सिदो-कान्हू-चाँद-भैरव-मुरमू सहोदर भाई, वारेन हेस्टिंग्स, अगस्टस क्लीवलैंड, सुलतानबाद की रानी सर्वेश्वरी ऐसे अनेक तथ्य और पात्रों का प्रयोग किया गया है।

¹ हिन्दी उपन्यास कला - डॉ. प्रतापनारायण टंडन, पृ.सं. 300

‘हूल पहाड़िया’ का देशकाल आदि विद्रोही तिलका मांझी के नेतृत्व में हुए पहाड़िया आंदोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित है। पहाड़िया आदिवासियों ने 1765 से 1785 ई. तक अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया ऐसा माना जाता है। अंग्रेज अधिकारी अगस्टस क्लीवलैंड पहाड़िया आंदोलन को नियंत्रित करने के लिए ‘हिल रेंजर्स’ का गठन किया, जिसका कमांडर तिलका मांझी था। देशकाल को प्रमाणिक व जीवंत बनाने के लिए गजेटियरों का प्रयोग, पहाड़िया युद्ध संकेत ‘दमामा’ (नगाड़ा), गुरिल्ला युद्ध के तरीकों तथा पहाड़ियों के जीवन संघर्ष, रीति-रिवाज, संस्कृति, राजमहल की पहाड़ियों का चित्रण है। इसके अलावा भी महत्वपूर्ण तथ्यों को चित्रित किया गया है, सबका विवरण देना यहाँ संभव नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का ढाँचा इतिहास सिद्ध होते हुए कल्पनात्मकता के लिए विशिष्ट स्थान रखता है। उक्त दोनों उपन्यासों में इसका भरपूर उपयोग किया गया है।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास का देशकाल या वातावरण सामाजिक है। उसमें सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की स्थिति, ऊपर से नीचे तक व्याप्त भ्रष्टाचार, विधवा समस्या, संघर्ष, अंधविश्वास, परंपरा, रीति रिवाज, निर्धनता, बेरोजगारी, जमींदार-साहूकारों का शोषण, कर्ज की समस्या, भूमिगत संगठन का आंतक, विकास के नाम पर लूट, आदिवासी पंचायत, पर्व-त्यौहार, और संस्कृति का जीवंत चित्रण है।

रमणिका गुप्ता का ‘सीता-मौसी’, संजीव का ‘धार’ और ‘सावधान नीचे आग है’, महुआ माजी का ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यासों का देशकाल या वातावरण खनन कार्य पर आधारित है।

खदान मजदूरों की समस्याएँ, महिला मजदूरों का शारीरिक शोषण, खदान से उत्पन्न समस्याएँ एवं बीमारियाँ, दलालों की दबंग प्रवृत्ति, मान्यता प्राप्त मजदूर यूनियन ‘इंटक’, अन्य मजदूर यूनियन, अवैध खनन कार्य के लिए अधिकारी और सत्तासीन लोगों का सहयोग एवं संरक्षण, विस्थापन, विकिरण और प्रदूषण के विरुद्ध लड़ने और अपने हक-न्याय प्राप्ति के लिए ‘मोआर’ का गठन, सारंडा जंगल, भौगोलिक सीमा इत्यादि चीजों का सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण वर्णन से खनन कार्य संबंधी वातावरण प्रमाणिक और जीवंत प्रतीत होता है।

विनोद कुमार के तीन उपन्यास हैं- 'समर शेष है', 'रेड जोन' और 'मिशन झारखंड'। पहले दो उपन्यासों का देशकाल या वातावरण सामाजिक और राजनीतिक है और तीसरे उपन्यास का देशकाल विशुद्ध राजनीतिक है।

पहले दो उपन्यासों के देशकाल के अंतर्गत कर्ज की समस्या, महाजनी संस्कृति, कारखाना लगाने से विस्थापन और पुनर्वास की समस्या, ईंट भट्टा में मजदूरों का शोषण, महिला मजदूरों का यौन शोषण, शिबू सोरेन का धान कटनी आंदोलन, रात्रि पाठशाला, वामपंथियों का जमीनी कार्य, झारखंड मुक्ति मोर्चा की स्थापना, नक्सली समस्या, नक्सली बनने का कारण, जमींदार-सामंतों का सामंती रूप व कुंठित वासना, कॉरपोरेट मीडिया की प्रकृति, शिबू सोरेन के बदलते राजनीति का स्वरूप, जमींदार-सामंतों द्वारा जातीय सेना रखना, जातीय सेना का काम नक्सलियों को पकड़ने में पुलिस की सहायता करना, नक्सलियों का विचारधारा से भटकाव, नक्सली संगठन में आंतरिक फूट पड़ना, दो गाँवों के बीच तनाव व टकराव की स्थिति, नक्सलियों द्वारा जमींदार-सामंत, महाजन और ठेकेदारों को निशाना बनाना इत्यादि का सूक्ष्म चित्रण है। 'मिशन झारखंड' उपन्यास का देशकाल चुनाव के पूर्व और उसके पश्चात् के सारे घटनाक्रम, राष्ट्रीय मोर्चा (रामो) और जनहित मोर्चा (जमो) दोनों पार्टियों का अंतर्कलह और भूमिका, राजनीति में बढ़ता वंशवाद, निर्दलीय विधायकों का महत्व, निजी स्वार्थ के लिए सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग, व्यावसायिक मीडिया के पत्रकारों का वर्गीय रूप, न्यायपालिका द्वारा उठाये गये संदिग्ध कदम, राजनीति के बदलते स्वरूप, राजनीति का अपराधीकरण आदि बिंदुओं के सूक्ष्म, सटीक और प्रामाणिक वर्णन से वातावरण को व्यावहारिक, सहज और सरल बनाने का प्रयास किया गया है।

'खुले गगन के लाल सितारे' उपन्यास का देशकाल व वातावरण सामाजिक है जो नक्सलवाड़ी आंदोलन (1967) के पश्चात् बंगाल के कुछ हिस्सों में वामपंथी विचारधारा का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से होने लगता है। जिसमें बुद्धिजीवी वर्ग, कॉलेज के विद्यार्थी बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं। उनमें गोविन्द, अतनू दा, इन्द्र प्रमुख हैं। ऐसे अनेक नाम हैं जिन्होंने पुलिस की लाठी सही, पुलिस कस्टडी में दम तोड़ दिये। अन्याय का विरोध करने वाले तथा क्रांतिकारी विचार रखने वाले व क्रियाकलापों (पोस्टर

चिपकाना, जुलूस, प्रदर्शन) में शामिल होने वालों को पुलिस नक्सली घोषित कर खूब अत्याचार करती है।

‘शाम की सुबह’ उपन्यास का देशकाल व वातावरण धार्मिक प्रतीत होता है कुछेक प्रसंगों को छोड़कर। उपन्यास की नायिका संध्या न केवल धार्मिक स्वभाव की लड़की है, बल्कि उसका पूरा परिवार ही धार्मिक आस्था से सराबोर है। इसलिए तो उसका छोटा भाई निर्मल सेमनरी और छोटी बहन सरिता मैट्रिक उत्तीर्ण होने के बाद सिस्टर बनने जाती है। प्रसन्न, संध्या का पूर्व प्रेमी है, जो शहीद हो चुका है। संध्या, प्रसन्न की छवि विनय में देखने लगती है, तत्पश्चात संध्या को उससे प्रेम भी होता है, लेकिन बाद में विनय सेमनरी चला जाता है और फादर बनता है। संध्या के पिताजी न केवल धार्मिक स्वभाव के हैं, बल्कि धार्मिक गतिविधियों में बढ़-चढ़कर भाग भी लेते हैं। संध्या द्वारा विनय के संग बिताये आत्मीय क्षण में, एक अप्रिय घटना घट जाती है जिसको लेकर वह बेहद चिंतित रहती है और स्वयं को कोसते हुए कहती है- “मैं ... मैं बहुत नीच हूँ। बेहया हूँ। मुझे माँ मरिया कभी क्षमा नहीं करेगी।”¹ इस तरह के अनेक धार्मिक प्रसंग उपन्यास में जगह-जगह दृष्टिगत होते हैं।

5.4.4 उद्देश्य प्रधान

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास की कथावस्तु उद्देश्य प्रधान है। जिसमें लेखक असुरों के इतिहास, मिथक और वर्तमान को विश्व के लुप्तप्राय आदिवासी कौमों से जोड़कर देखते हैं जो अस्तित्व संकट के विकट दौर से गुजर रहे हैं। लोहा गलाने की प्राचीन तकनीकी के ज्ञाता रहे असुर, आज अस्तित्व संकट के सबसे प्रतिकूल दौर से गुजर रहे हैं। पेट का संघर्ष उतना कठिन नहीं, जितना कि सत्ता और ग्लोबल देवताओं के साजिश और प्रहार को समझकर बच पाना।

‘पलास के फूल’ उपन्यास की कथावस्तु उद्देश्य प्रधान है। लेखक अंतर्जातीय प्रेम-विवाह के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाने का प्रयास करता है। सरजू एक गैर-आदिवासी लड़का है जो नृत्यशास्त्र में शोध करने के लिए मुण्डा आदिवासी बहुल क्षेत्र अड़की प्रखंड आता है, जहाँ नीरू से उसे प्रेम हो जाता है। फिर प्रेम, विवाह में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार लेंगा, नीरू का भाई है, शहर में पढ़ने के

¹ शाम की सुबह - वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पृ.सं. 109

दरम्यान उसे वंदना नामक गैर-आदिवासी लड़की से प्रेम होता है। वे दोनों भी विवाह कर लेते हैं। इसी के साथ लेखक आदिवासी अर्थव्यवस्था, बाजार-हाट, खेती और फसल के प्रकार, रीति-रिवाज, परंपरा, शिकार, शगुन-अपशगुन आदि चीजों का वर्णन करता है।

‘सांवला पानी’ उपन्यास की कथावस्तु उद्देश्य प्रधान है। उपन्यास का प्रारंभ मुड़मा जतरा प्रसंग से होता है, जतरा आदिवासियों की सांस्कृतिक पहचान है। मुड़मा जतरा झारखंड का सबसे बड़ा जतरा है, जो दो दिनों तक चलता है। स्वतंत्रता पूर्व झारखंड के आदिवासी गाँवों का चित्र खींचना लेखक का मुख्य उद्देश्य है जिसमें शिक्षा की स्थिति, शिक्षकों की प्रवृत्ति, अनुशासनप्रियता, स्वास्थ्य, निर्धनता, बाल-सुलभ जिज्ञाषाएँ, गलत संगति के कारण बच्चों का नशापान जैसे बुरी लत में पड़ना, विदेशी मिशनरियों का धर्म और शिक्षा के प्रचार-प्रसार में शिक्षिका के योगदान आदि चीजों को लेखक रेखांकित करने का प्रयास किया है।

5.4.5 सोद्देश्य परक

‘लौटते हुए’ उपन्यास की कथावस्तु सोद्देश्य परक है। क्योंकि इसमें आदिवासी युवतियों के दिल्ली पलायन के कारणों, दिल्ली में उन लड़कियों (आयाओं) के साथ हो रहे अत्याचार, शोषण-उत्पीड़न का चित्रण तो है ही, साथ-ही उन समस्याओं का समाधान भी सुझाया गया है। दिल्ली से लौटी पीड़िता (सलोमी), प्रकाश के साथ उसके स्वयंसेवी संस्थान में न केवल सेवा देती है, बल्कि महिलाओं को आत्मनिर्भर रहने के लिए काम भी सिखाती है तथा वैसी लड़कियों को सुझाव व मार्गदर्शन देती है जो महानगर जाने की इच्छा रखती हैं, स्वयं के साथ घटित अनुभव को उनके साथ साझा करते हुए, वहाँ दाइयों के साथ हो रहे शोषण व उत्पीड़न का विस्तार से चर्चा करती है, जिससे कई लड़कियों के जीवन की दिशा बदल जाती है।

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास की कथावस्तु सोद्देश्य प्रधान है। जिसमें आदिवासी ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल और शिक्षकों की वस्तुस्थिति, अशिक्षा, कर्ज की समस्या, अंधविश्वास, जमींदार-सामंत और साहूकारों की शोषण नीति, भूमिगत संगठनों का आतंक, वामपंथी कार्यकर्ता के बारे में भ्रामक धारणा, डायन समस्या, विधवा जीवन की त्रासदी, विकास योजनाओं की जमीनी हकीकत, शिक्षा विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार इत्यादि समस्याओं को गुंफित कर कथावस्तु तैयार की गयी है।

उपन्यास का नायक संजीव सान्याल उक्त समस्याओं के जन्मदाताओं से टकराकर, आदिवासियों में चेतना जगाकर, संगठित करके, उनके क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं को दूर करना चाहता है। इसके लिए सबसे पहले वह भ्रष्टाचार के विरुद्ध कदम उठाता है, फिर गजली-ठोरी के कागजी स्कूल को जमीन पर खड़ा करता है। तत्पश्चात् जमींदार-साहूकारों के कर्ज के चंगुल से आदिवासियों को बाहर निकालने के लिए 'को-ऑपरेटिव सोसाइटी' की स्थापना करता है। इससे आदिवासियों के अंदर जमींदार-साहूकारों और भूमिगत सेना का जो भय व्याप्त था वह दूर होता है। उक्त कार्यों को संपादित करने में विधवा रंगेनी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से संजीव का साथ देती है। यही वजह है कि असामाजिक तत्व अंत में संजीव की हत्या कर देते हैं।

‘मौन घाटी’ उपन्यास की कथावस्तु सोद्देश्यपरक है, क्योंकि इसमें शोषक तत्वों द्वारा आदिवासियों का कई प्रकार से शोषण और उत्पीड़न किया जाता है चाहे वह शिक्षा, स्वास्थ्य या कर्ज का मामला हो या विकास की योजनाओं के लाभ से इन्हें वंचित रखा जाता है।

शोषक वर्गों का कुनबा इस प्रकार है- पटेल धनसी मुरिया, ठेकेदार मनसुख, कम्पाउण्डर हारिया, इंजीनियर सुब्बाराव, रेंजर जाल सिंह, मुखिया पौना सिंह आदि। अधिकार और विकास कार्य की जिम्मेदारी इनके हाथों में होती है, जिससे वे विकास का थोड़ा काम दिखाकर योजनाओं की सारी राशि मिल-बांटकर खा जाते हैं। यही नहीं सामू काका का सरपंच कार्यकाल एक वर्ष पूर्व ही समाप्त करके धनसी मुरिया को सरपंच चुन लेते हैं, तत्पश्चात् आदिवासियों का शिक्षित एवं जागरूक दल तैयार होता है जिसमें किशोर, संध्या, रजनी, सामू काका, तपन, पंकज और मंजु हैं। इनके सामूहिक प्रयास और सहयोग से किशोर सरपंच चुनाव लड़ता है और विजयी भी होता है, इससे डरकर शोषक तत्वों का कुनबा क्षेत्र छोड़ देता है जो आदिवासियों की एकता व सफलता का परिचायक है।

5.4.6 समस्या प्रधान

‘वन के मन में’ उपन्यास की कथावस्तु समस्या प्रधान है। जिसमें सिंहभूम क्षेत्र के ‘हो’ आदिवासियों के बीच प्रचलित भारी गोनोंग (वधू-मूल्य) की समस्या पर आधारित है। उपन्यास का नायक लुकना, नायिका मेंजो एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और शादी करना चाहते हैं, किन्तु भारी गोनोंग तय

होने की वजह से विवाह बहुत विलम्ब से होता है। जो 'हो' समाज के लिए कलंक के सदृश्य है। गोनोंग या वधू-मूल्य की प्रथा झारखंड में प्रायः सभी आदिवासियों के बीच प्रचलित है, किन्तु 'हो' आदिवासियों की तरह उनमें भारी गोनोंग तय नहीं किया जाता है। सिर्फ रिवाज के लिए, दोनों कुटुम्बों की रजामंदी से तय किया जाता है। जिसमें दोनों पक्षों को कोई शिकायत नहीं होती है किन्तु 'हो' समाज में तय किया गया भारी गोनोंग किसी सामान्य 'हो' परिवार के लिए चुका पाना आसान नहीं है।

‘धपेल’ श्याम बिहारी ‘श्यामल’ का उपन्यास है, जिसकी कथावस्तु सूखा, अकाल और भुखमरी पर आधारित है। झारखंड का पलामू जिला सूखा और अकाल के लिए बदनाम है, साथ-ही-साथ जमींदार-सामंतों के यहाँ बंधुआ मजदूरी की घृणित प्रथा आज भी प्रचलित है। यहाँ की त्रासदी के संदर्भ में गणेश रवि एक जगह लिखते हैं- “प्राकृतिक संतुलन के बिगड़ने से वर्षा अनियमित होने लगी है। वैसे भी पलामू प्रमंडल सुखाड़ क्षेत्र के रूप में विश्व मानचित्र पर अपनी पहचान बना चुका है। प्रत्येक 10 वर्ष के बाद एक बार बड़े सुखाड़ का सामना करना पड़ता है। विगत 2002 से 2004 तक कुल 31 लोगों की मौत भूख से हुई, जिनमें से आदिम जनजाति की एक महिला लेपसी देवी भी शामिल है।”¹

पलामू के अकाल के इतिहास के बारे में ग्लैडसन डुंगडुंग और संजय कृष्ण अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं- “पलामू को अकाल का घर कहा जाता है। आजादी के पूर्व अंग्रेजों के समय 1859, 1890 व 1918 में वहाँ बड़े अकाल पड़े, आजादी के बाद 1967 का अकाल भीषण था। 1967 के दौरान तीन वर्षों की अनावृष्टि के कारण त्राहिमाम मचा था।”²

उक्त तथ्य पलामू क्षेत्र के यथार्थ को बयां करती है। ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास की कथावस्तु भी समस्या प्रधान है और यह पलामू क्षेत्र के आदिवासी समस्याओं की पृष्ठभूमि पर केन्द्रित है।

जमींदार जगधारी राय पैसे और पहुँच के बल पर सब भ्रष्ट अधिकारियों के सहयोग और संरक्षण से जंगल में अनेक प्रकार के गैर-कानूनी कार्यों को अंजाम देता है जैसे बंधुआ मजदूर रखना, मजदूरों का शोषण, चीता पालना, जंगलों की अवैध कटाई करना, जंगली जानवरों का शिकार करना इत्यादि। बड़े

¹ युद्धरत आम आदमी - रमणिका गुप्ता, अंक 100, अक्टूबर-दिसम्बर 2009, पृ.सं. 68

² क्रॉसफायर - ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, पृ.सं. 206

अखबार वाले भी उसकी सच्चाई छिपाकर सिर्फ उसकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनका हिस्सा उन्हें समय से मिल जाता है। इसके संदर्भ में एक छोटा जन-सरोकार से प्रतिबद्ध साप्ताहिक अखबार इस प्रकार छापता है- “न चीते का चित्र था और न ही अफसरों का। पालतू चीते का पूरा परिचय मौजूद था। जिले के आला अफसरों द्वारा आदमखोर से लोगों की राहत दिलाने की झूठी कथा की आड़ में शिकार के रोमांचक खेल का पर्दाफाश किया गया था। राय बहादुर की शराब-पार्टी, उनके ठेके आदि की भी चर्चा थी। उसी में अकाल, बंधुआ आदिवासी मजदूरों के शोषण और आक्रोश की बातें भी कही गयी थीं तथा इस बात का संदेह व्यक्त किया गया था कि जंगल में उनकी हत्या इसी का परिणाम है। एस.पी. द्वारा पुलिसकर्मियों के आदमखोर चीते का आहार बन जाने की बात की हंसी उड़ाते हुए मामले को मोड़ने की साजिश कहा गया था। गैर कानूनी शिकार को न्यायोचित ठहराने के लिए जनता के बीच उसके आतंक की मनगढ़ंत कहानी प्रचारित करने के लिए बड़े अखबारों को भी उसमें दोषी ठहराया गया था। उसने तो यहाँ तक लिखा था कि असली आदमखोर तो राय बहादुर हैं जो खुलेआम घूम रहे हैं और आदिवासी उनके आतंक से गाँव छोड़-छोड़कर भाग रहे हैं।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों में समस्याओं की जड़ को ढकने वाले तत्वों को परत-दर-परत बारीकी से बेनकाब किया गया है।

5.4.7 मिथक

“मिथक से सामान्यतः ऐसी काल्पनिक कथाओं का अर्थ लगाया जाता है जो अलौकिक तथा अद्भुत होती हैं। 19वीं सदी के पूर्व तक इन कथाओं को कपोल कल्पना समझा जाता था, लेकिन 19वीं शताब्दी में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टि के विकास के साथ मिथकों के बारे में नवीन दृष्टि का उदय होता है।”²

अर्थात् बीतते काल और विज्ञान के विकास के साथ ही अध्ययन, चिंतन और विश्लेषण की पद्धतियों का परिवर्तित होना स्वाभाविक है।

¹ गगन घटना घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ.सं. 216-217

² मिथक एक अनुशील - मालती सिंह, प्राक्कथन से

मालती सिंह के अनुसार “मिथक आदिम मानव द्वारा जिज्ञासा वृत्ति की परितृप्ति के लिए किया गया आविष्कार मात्र नहीं है, बल्कि मिथकों की जड़ें मानव-स्वभाव की अतल गहराइयों में विद्यमान हैं। मानव स्वभाव तथा मानव समाज का एक अंग होने के कारण मिथक अर्थ के उस पूरे क्षेत्र की ओर संकेत करता है, जिसके अंतर्गत धर्म, लोक साहित्य, मानव-विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान तथा ललित कलाएँ आदि सभी आ जाती हैं। अतः सामान्य रूप में मिथक आदिम मानव द्वारा सृजित वे कथाएँ हैं जिनका संबंध देवताओं के कृत्यों, सृष्टि तथा मानव की उत्पत्ति आदि अनेक तत्वों से हैं, पर विशिष्ट अर्थों में मिथक विशेष चिंतन की माँग करता है।”¹

जिन घटनाओं या वस्तुओं की उत्पत्ति से अनभिज्ञ इंसान अपने अनुभवजन्य कल्पना से कथा गढ़ता है और उसके सहारे उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करता है, वही कालांतर में मिथक का रूप धारण करता है। जैसे लेमोरियन, मेगालिथ-निर्माण प्रक्रिया, उसके स्वरूप में आया बदलाव, उसकी पौराणिकता को पिरामिड और मुण्डाओं की ससनदिर (मृतक की मिट्टी को ढंकने वाला चट्टान-पट्टी) से जोड़कर देखना मिथकीय अध्ययन के सदृश्य है। जिसे लेखक ने इस प्रकार रेखांकित किया है- “वैसे आज भी दुनिया के हर कोने में हमारे पुरखे लेमुरियंस की रचनाशीलता के चिह्न मेगालिथ मिलते हैं, चाहे वो विदिदिर (खंभा रूप के पत्थर) के रूप में हों या आ टेददिर (बिछाए हुए पत्थर) के रूप में। हजारों साल से वे आज भी मौजूद हैं।”²

मिथकीय स्वरूप प्राचीनता के अनुसार बदलते जाते हैं, उपर्युक्त संदर्भ उसी का उदाहरण है। ‘छैला सन्दू’ उपन्यास की कथावस्तु मिथकीय पात्र पर केन्द्रित है। मिथकीय पात्र छैला सन्दू है। छैला यानी रसिक, रिझवार, मनमोहक छवि वाला। मुण्डा आदिवासी समाज का लोकप्रिय नायक के व्यक्तित्व के विविध पक्षों को लेकर कथा बुनी गयी है।

¹ मिथक एक अनुशील - मालती सिंह, पृ.सं. 13

² गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 199

5.5 कथोपकथन

विद्वानों ने कथोपकथन अथवा संवाद को उपन्यास का तीसरा मूल तत्व स्वीकार किया है। डॉ. प्रतापनारायण टंडन के मतानुसार “मुख्य रूप से देखा जाए तो कथोपकथन के द्वारा कुछ विचारों को सजीवता देने में सरलता पड़ती है। नाटकों में जो वस्तु अभिनय द्वारा व्यक्त होती है, उपन्यासों में वह बहुत कुछ कथोपकथन द्वारा लायी जाती है।”¹

5.5.1 छोटे संक्षिप्त

कथोपकथन उपन्यास के तत्वों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए लेखक के उद्देश्य को आगे बढ़ाने का काम करता है। टंडन जी कथोपकथन के तीन उद्देश्य निर्धारित किये हैं- कथानक का विकास करना, पात्रों की व्याख्या करना और लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करना।

अर्थात् उपन्यास में कथोपकथन की भूमिका असंदिग्ध है। अब झारखंड केन्द्रित हिन्दी के चंद उपन्यासों के कथोपकथन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाएगा। डॉ. पीटर पौल एक्का के उपन्यासों के कथोपकथन या संवाद छोटे और संक्षिप्त होते हैं। ‘पलास के फूल’ उपन्यास के दो पात्र चैतू और इंजीनियर के बीच संवाद इस प्रकार है-

‘बड़े बाबू, एक कहो!’

‘कहो क्या बात है।’ - फाइल में उलझे-उलझे ही कहता हूँ।

‘आज एक घंटे की छुट्टी माँगता।’

‘कुछ काम है क्या।’

‘हाँ बाबू।’

‘क्या काम है।’

‘अपना काम है।’

अपना क्या काम, सीधे क्यों नहीं कहता है

‘अब कैसे बताता बाबू।’

¹ हिन्दी उपन्यास कला - डॉ. प्रतापनारायण टंडन, पृ.सं. 219

‘कैसे क्या।’ ...

उधर मंगली है न, काम कर रही है।

हाँ मंगली का क्या हुआ!

‘कुछ नहीं बड़े बाबू।’¹

इस प्रकार चैतू बड़े साहब के सामने सम्मानपूर्वक, संकोच करते हुए हर बात संक्षिप्त और इशारों में कहता है। इसी प्रकार ‘सोन पहाड़ी’ उपन्यास का संवाद भी द्रष्टव्य है -

‘बीना, बहुत धन्यवाद!’

‘आपको भी!’

‘क्यों!’

‘गरीब की झोपड़ी में आये न इसलिए।’

‘ऐसा नहीं कहते हैं!’

‘क्यों!’

‘इसलिए!’...

‘अब जाऊँ।’

‘हाँ, अच्छी तरह जाइयेगा।’²

उपर्युक्त पंक्तियों में बीना और सुनील के बीच का संवाद बिल्कुल संक्षिप्त और छोटा है। ‘मौन घाटी’ उपन्यास का संवाद भी द्रष्टव्य है- ‘संजय!’

‘‘क्या हुआ सुधा! इस तरह हाँफ क्यों रही हो!’

‘वहाँ किसी ने... !’

‘क्या हुआ!’

‘किसी ने आयती का खून कर स्कूल के आँगन में रख दिया है!’

¹ पलास के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 23-24

² सोन पहाड़ी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 106

‘क्या कहा!’

‘हाँ सच कह रही हूँ!’

‘चलो!’¹

शोषक और कुंठित मानसिकता वाले लोगों द्वारा पहले आयती का बलात्कार, फिर अंत में हत्या कर दी जाती है। उसके संदर्भ में सुधा और संजय की बातचीत संक्षिप्त और शोकपूर्ण है।

‘जंगल के गीत’ उपन्यास में करमा और जितनी के बीच का संवाद इस प्रकार है-

‘‘आज तो ऐसे नहीं लूँगा’

‘तो फिर!’

‘अपने हाथों सजा दो न!’

‘वो तो तुम्हारी करमी करेगी।’

वह तो करेगी ही, आज तुम भी कर दो न

‘न बाबा!’

‘तो फिर मैं तुमसे जावा नहीं लेता!’...

‘चलो, ऐसे पर्व के दिन रूठते नहीं हैं।’²

उक्त हर्षपूर्ण संवाद करमा त्यौहार के अवसर पर जावा (फूल) लगाने से संबंधित है।

‘लौटते हुए’ उपन्यास के दो स्त्री पात्रों के बीच का संवाद भी छोटा एवं संक्षिप्त है-

‘‘अरे, मार्या! ... तू कब आयी?’’

‘‘जी, अभी थोड़ी देर पहले ही आयी हूँ।’’

‘‘क्या हो गया था मिसेज गौड़ को?’’

‘‘वही पुराना ब्लड प्रेशर!’’

‘‘ओ ... आराम-वाराम करती है कि नहीं वो?’’

¹ मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 36

² जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 130

“आंटी जी, वे आराम ही कर रही है। ... अभी ठीक है।”

“अच्छा-अच्छा।”¹

उक्त संवादों में मिसेज खन्ना मार्या से गौड़ मैडम के स्वास्थ्य के बारे में औपचारिक जानकारी लेती है।

5.5.2 लम्बे वर्णनात्मक

लम्बे और वर्णनात्मक संवाद गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा रचित उपन्यासों में प्रायः दृष्टिगत होता है- “एक अंधविश्वास है इलाके में। हालांकि अब बहुत घट गया है। लेकिन अभी भी खरीफ के सीजन में दो-चार घटनाएँ घट ही जाती हैं। आदमी की जान की तो मानो कोई कीमत ही नहीं। रामकुमार मुझे समझाना चाह रहे थे।

दरअसल अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून में सानकर बिचड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए इस सीजन में मुड़ीकटवा लोग घूमते रहते हैं।

लोहे की तेज कटार और बोरा लिए मुड़ीकटवा अपना इलाका छोड़कर अनजान इलाके के सुनसान में घात लगाये रहते हैं। ऐसे ही मुड़ीकटवा से सबेरे लालचन की भेंट हो गयी। अजाना चेहरा और हाथ में बोरिया देखकर लालचन ने साइकिल खूब तेज कर दी। ... धोती का छोर आया, जो फट गया और ये गिरते-पड़ते साइकिल छोड़-छाड़कर भागे। पहाड़ी से फिसलने में चोट आयी।

मेरा दिमाग घूमने लगा था ये कैसी दुनिया थी? “इस पाट पर जीना बहुत कठिन है, मास्टर साब। किन्तु मौत बड़ी आसान है।”²

उक्त प्रथा अशिक्षा और अंधविश्वास का नतीजा है, जिसके बारे में डॉक्टर रामकुमार मास्टर जी को विस्तार से बतलाते हैं।

¹ लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरुण', पृ.सं. 70-71

² ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 12

थाना प्रभारी, मोतीलाल से उस दिन की घटना के बारे में पूछते हैं- “कैसे हो मोती लाल? तुम्हारा तो पैर तोड़ डाला है पहचानते हो वे कौन थे?

मोतीलाल ने बगल में रखी लाठी के सहारे उठने की कोशिश की ‘बैठे रहो, बैठे रहो मोतीलाल खखस कर बोला ‘बैगनकोचा गाँव के लोग थे। कुछ बाहरी। एक लड़की भी साथ में थी जिसके हाथ में पिस्तौल था।’

थाना प्रभारी का माथा ठनका। लड़की पिस्तौल के साथ। उन्हें याद आया कि कुछ महीने पहले लौह नगरी से एक लड़की वहाँ के थाना प्रभारी से सर्विस रिवाल्वर छीन कर भागी थी कहीं यह वही तो नहीं?

‘तुमने पहचाना नहीं? तुम्हारी ही बिरादरी की या बाहर की?’ मोती लाल को भी अचानक याद आया कि यह तो वही लड़की थी जो पोखरिया में गुरुजी की बैठक में गुरु जी से बहस कर रही थी।...

वह हमारी ही बिरादरी की लड़की है। अब याद आ रहा है कि वही लड़की गुरुजी से पोखरिया आश्रम में बढ़-चढ़कर बात कर रही थी। उसके साथ किसी ने कुकर्म करने की कोशिश की थी और वह उसे मारकर भाग निकली थी।’’¹

दरअसल गैर-आदिवासी लेखकों के उपन्यासों का कथोपकथन या संवाद लम्बे और वर्णनात्मक इसलिए होते हैं, क्योंकि वे आदिवासी जीवन मूल्य, रीति-रिवाज, संस्कृति, संस्कारों के छोटे-छोटे बिंदुओं का चित्र खींचते हैं जैसे घुमकुड़िया (युवागृह), गोनोंग (वधू-मूल्य), ससनदिरी (मृतक के कब्र पर रखा पत्थर, पट्टी) ऊंबूल अदेर (छाया भित्तिराना), सगेन का अर्थ और सारंडा वन की विशेषताएँ बताने में ही उपन्यास के कई पृष्ठ समाप्त हो जाते हैं, जबकि आदिवासी रचनाकार मूल चीजों व समस्याओं पर केन्द्रित होता है, क्योंकि बाकी चीजें उनके जीवन का हिस्सा हैं। इसलिए वह अनावश्यक विस्तार से बचना चाहता है।

¹ रेड जोन - विनोद कुमार, पृ.सं. 168

5.6 भाषा-शैली

प्रो. गरिमा श्रीवास्तव ने भाषा शैली के संदर्भ में लिखा है “जीवन और साहित्य के बीच के संबंध को भाषा द्वारा ही जाना जाता है। निजी अनुभव, सामाजिक उपलब्धियों को समाज तक सम्प्रेषित करने का काम भाषा ही करती है। साहित्य की भाषा जन भाषा में से ही निकलती है। यह जितनी अकृत्रिम और जीवंत होती है यथार्थ को व्यक्त करने में उतनी ही सक्षम होती है। मुहावरों, लोक में प्रचलित उक्तियों एवं शब्द शक्तियाँ, बिम्ब एवं प्रतीक, मिथक, फैंटेसी के बल पर वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों, संवेदनाओं को पाठक तक सम्प्रेषित करती है। जबकि उपन्यास मनुष्य चरित्र के माध्यम से जीवन के विविध रूपों का उद्घाटन करता है। तब उसकी भाषिक संरचना की ओर उपन्यासकार को विशेष ध्यान देना पड़ता है। उपन्यास जटिल मानसिकता को वहन करने, जीवन की त्रासदियों को व्यक्त करने के लिए कथा की बुनावट कल्पना, प्रचुरता, व्यंग्यात्मकता के लिए जन-भाषा में से ही अपनी भाषा की खोज करता है।”¹

आदिवासी विषय से संबंधित उपन्यासों की भाषा-शैली वही नहीं होगी, जो मुख्य-धारा या अन्य समुदायों के उपन्यासों की होती है, क्योंकि आदिवासी जीवन-शैली, सोच, संस्कृति, अर्थव्यवस्था व समस्याएँ अन्य समुदायों से नितांत भिन्न होती हैं, इसलिए उन्हें अभिव्यक्त करने की भाषा-शैली भी निश्चित रूप से अलग होगी।

5.6.1 क्षेत्रीय, आदिवासी शब्दों का प्रयोग

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास में लेखक ने जगह-जगह संदर्भानुसार क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग किया है जो एक विशेष भावभूमि, परिवेश और वातावरण को ध्वनित करते हैं। जैसे “डागदर (डॉक्टर), गोमकाइन (मालकिन, पत्नी), आयो (माँ), सियानी (लड़कियों के लिए संबोधन), हरहर-कचकच (पेशानी), गोमके (पति, मालिक), कोयनार (वृक्ष का नाम), बिलौती (टमाटर)”²

‘गायब होता देश’ उपन्यास में प्रयुक्त मुण्डारी व क्षेत्रीय शब्द इस प्रकार हैं- चांदर-बादर (उलटबाधा), अंदिग (पूर्वज), चाऊर (चावल), कोंपाट मुण्डा (श्रेष्ठ मुण्डा), ससनदिरि (मृतक की मिट्टी

¹ उपन्यास शिल्प-विधान - प्रो. गरिमा श्रीवास्तव, पृ.सं. 8

² ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 11, 22, 23, 21, 29, 46

को ढकने वाली चट्टान-पट्टी), विदिदरि (खंभा रूप के पत्थर), आ टेददिरि (बिछाए हुए पत्थर), जियू (आत्मा), रोवा (छाया), बुच्चू (भाई), लूर-लच्छन (व्यवहार)''¹

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में प्रयुक्त क्षेत्रीय शब्द “कोमनिस, कौमनिस्ट (कम्युनिस्ट), ढुकू (एक प्रकार का विवाह), बाभन (ब्राह्मण), माहटर (मास्टर), गोरमिन्ट (गोरवेंट), टूअर-टापर (अनाथ), हर (हल), हलुमान (हनुमान)''²

‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास में प्रयुक्त क्षेत्रीय शब्द - “गोड़ाइत (मांझी का सहायक), देवासी (प्रधान पुजारी), भागदो (मांझी का मंत्रणा परिषद), लावल्दी (निःसंतान), दोने (कटोरी), डुगू (ढंका), दमामा (नगाड़ा), बनिहारिन (महिला मजदूर), मुदइया (दुश्मन)''³

‘पलास के फूल’ उपन्यास में प्रयुक्त क्षेत्रीय व कुडूख शब्द है- “जवाबदार (मेठ), टेम (टाइम), परता (जंगल), पूंप (फल), अम्म (पानी), एड़प्पा (घर)''⁴

उक्त क्षेत्रीय व आदिवासी शब्द उपन्यास के छोटे-छोटे अंतराल में आकर आंचलिक गंध, भाव और संवेदना को प्रमाणिक ढंग से अभिव्यक्त करने में सहायता करते हैं।

5.6.2 बिम्ब विधान

डॉ. अमरनाथ के अनुसार “बिम्ब की सफलता सहृदय में संवेदनों को उद्बुद्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है। इसके लिए कवि उन्हें चित्र-धर्मी तो बनाता ही है, अपने हृदय के रस और संवेग से आप्लावित कर देता है। बिम्ब का ऐंद्रिय संवेद्य होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में उसका रचनात्मक होना संभव नहीं है। बिम्ब विधान के लिए कल्पना आवश्यक है। वह दो कार्य करती है- पहले स्मृति के क्रोड़े में सोते हुए बिम्बों को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियों के स्पर्श से जगाती है और फिर उन

¹ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 52, 57, 67, 90, 197, 261, 273

² पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 18, 23, 25, 103, 133, 123, 148, 214

³ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 13, 14, 17, 22, 123, 319, 320

⁴ पलास के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 2, 3, 49

बिम्बों को शिल्प के सांचे में ढालती है, अतः बिम्ब-विधान के आवश्यक तत्व हुए- वस्तुनिष्ठता, ऐन्द्रियबोध, भावोद्रेक, स्मृति, कल्पनाशक्ति, संवेग संकुलता एवं भाषा पर अधिकार।’’¹

उपर्युक्त पंक्तियों में डॉ. अमरनाथ बिम्ब की विविधता, महत्व और उसके उपादेयता पर कम शब्दों में, विस्तार से प्रकाश डाला है। किसन विद्रोही के प्रारंभिक दौर के निष्पक्ष और प्रतिबद्ध पत्रकारिता के लिए एक अनोखा बिम्ब का इस्तेमाल किया गया है ‘‘पत्रकारिता के हर मानदंड पर चौबीस कैरेट शुद्ध।’’²

प्रारंभ में वह जिस व्यवस्था का विरोध कर रहा होता है, अंत में उसी व्यवस्था का अंग बनकर, विद्रोही सर से के.के. झा में तब्दील हो जाता है।

‘‘हीराहातु से दक्खिन दस-बारह कोस पर कोन्ताटोली गाँव के बड़का मुण्डा घर में। कपास की जड़ की तरह एक ही ठो बेटी थी चाँदो।’’³

उक्त बिम्ब रणेन्द्र ने रोज केरकेट्टा के कहानी संग्रह ‘पगहा जोरी-जोरी रे घाटो’ के कहानी ‘धाना लोहार का’ की पंक्तियों से उधार लिया है, ऐसा प्रतीत होता है ‘‘रोपनी कपास की जड़ की तरह माता-पिता की एकमात्र संतान थी।’’⁴

कहना नहीं होगा उक्त बिम्ब का प्रयोग रोज केरकेट्टा पांच वर्ष पूर्व ही कर चुकी है। जबकि ‘गायब होता देश’ 2014 में प्रकाशित हुआ। संजय कृष्ण रणेन्द्र के बिम्ब प्रयोग के संदर्भ में लिखते हैं ‘‘संस्कृत के पद से भी उसका पेट नहीं भरता तो उर्दू का आंचल थाम लेता है। परीचश्म-परीज जमाल, नूरे मुजस्सम, नूरानी वजूद जैसे भारी भरकम शब्द पाठकों का परीक्षा लेने लगते हैं। हालाँकि उपन्यास में ऐसे ढेरों शब्द बिखरे पड़े हैं, जिसे डिक्शनरी में ही उसके अर्थ की तलाश की जा सकती है। हालाँकि लेखक ने एकदम टटका बिम्ब या उपमा दी है... हाँफते चाँद या फड़फड़ाते दो कबूतर।’’⁵

¹ हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - डॉ. अमरनाथ, पृ.सं. 356

² गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 8

³ वही, पृ.सं. 253

⁴ पगहा जोरी-जोरी रे घाटो - रोज केरकेट्टा, पृ.सं. 21

⁵ आदिवासी साहित्य - गंगा सहाय मीणा, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ.सं. 73

कहना नहीं होगा उपन्यास की पात्रा अनुजा पहान के उभरते उरोजों के लिए ‘फड़फड़ाते दो कबूतर’ जैसे बिम्ब का प्रयोग किया है, जो लेखक के स्त्री-सौंदर्य दृष्टि (मानसिकता) का परिचय देता है।

“जबरा की आवाज से टपकता निश्चय रिस-रिस कर सुगना के कलेजे पर टपक रहा था। दग्ध कलेजे को शीतल किए दे रही थी, शहद सी बूंदें।”¹

पिता-पुत्र के आत्मीय संबंध और वृद्ध पिता सुगना मांझी की जिम्मेदारी को सहर्ष पूर्वक निभाने के लिए, दृढ़ संकल्पित पुत्र के वचन को लेखक ने उक्त बिम्ब के माध्यम से उद्धाटित करने का प्रयास किया है।

“इजाजत मिलने पर चैतू सुर्ख-लाल उड़हूल की तरह खिल उठा था।”²

उपर्युक्त बिम्ब में चैतू के अत्यधिक प्रसन्नचित होने का बोध होता है।

“चिकनी मिट्टी से ढली कोई अनछुई मूरत-सी गुमसुम पड़ी है।”³

उक्त बिम्ब के माध्यम से आदिवासी युवती के उदास, नीरस और हताश होने का चित्र उपस्थित होता है।

“चौबीस-पचीस साल की संध्या देवी संध्या कम, उषा ज्यादा लगती थी।”⁴

उपर्युक्त बिम्ब में संध्या का तात्पर्य दिन से ढलने वाली शाम या संध्या नहीं, अपितु उम्र के ढलने वाली प्रौढ़ या संध्या की बात की जा रही है और उषा का मतलब प्रभात या भोर वाली उषा नहीं, बल्कि युवती के नव-यौवन का बोध हो रहा है।

“पति-प्रणय हुए वर्षों बीत गए। पर अब भी मेरी सूनी गोद बांझ मकई की गाँठों की तरह सपाट-समतल है।”⁵

उक्त बिम्ब स्त्री के निःसंतान होने की अथाह पीड़ा और तिरस्कृत भाव को व्यंजित करता है।

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 18

² पलास के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 24

³ वही, पृ.सं. 3

⁴ मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 20

⁵ छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 78

5.6.3 प्रतीक-योजना

“भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा बहुत अशक्त माध्यम है। ज्यों-ज्यों भावों में गहराई आते जाती है, भाषा को तरह-तरह के साधन जुटाकर अपना स्वरूप सशक्त करना पड़ता है। बोलते समय तो तरह-तरह की भाव-भंगिमाएं स्वर का उतार-चढ़ाव उसकी कमी को बहुत सीमा तक पूरा कर देते हैं। किन्तु लिखित रूप में इन सबकी गुंजाइश नहीं रहती है। अतः सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। प्रतीक योजना मनुष्य की इन्द्रियों के योग्य-विषयों में सिमटी रहती है।”¹

भाषा की उपयोगिता कहाँ, किस रूप में सिमटकर रह जाती है, उसे उपर्युक्त परिभाषा में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है। इसलिए प्रतीक-योजना आवश्यक होती है।

“तुम्हें पता नहीं कि वह भी भाई की तरह एक मासूम शेरनी को घायल कर आया है?”²

यहाँ मासूम शेरनी का प्रयोग हकिम सिंह की लाडली बेटी बुन्दी के लिए प्रतीक रूप में हुआ है, जो सन्दु के प्रेम बाण से घायल हो गयी है।

“अभी से ही बंदिश लगा दे तो घोड़ी बिदक सकती थी। अतः राह देता गया।”³

उक्त पंक्तियों में ‘घोड़ी’ नई नर्स संध्या देवी का प्रतीक है। कम्पाउंडर हारिया उसे अपने वश में करने के लिए समय देता है और परखता है, क्योंकि शीघ्र हस्तक्षेप करने पर बिदक सकती थी यानी गुस्सा होकर हाथ से निकल सकती है।

‘गायब होता देश’ उपन्यास में दो तरह के पात्रों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। एक तरफ प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता दयामनी बारला के लिए सोनामनी दी व ‘संस्कृति पुरुष’ आदिवासी बौद्धिक डॉ. रामदयाल मुण्डा के लिए डॉ. सोमेश्वर सिंह मुण्डा का प्रयोग किया गया है। वहीं दूसरी तरफ राँची में कुख्यात ठेकेदार रहे अनिल शर्मा के लिए सुनील शर्मा व भू-माफिया सुरेन्द्र बंगाली के लिए रवींद्र

¹ भारतीय मिथक कोश - डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति, पृ.सं. 43

² छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 27

³ मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 27

बनारसी का प्रयोग हुआ है। पहले दो पात्रों के बारे में संजय कृष्ण लिखते हैं- “बाबा रामदयाल मुण्डा की स्मृति एवं दीदी दयामनी बारला और इरोम शर्मिला चानू के संघर्ष के जज्बे को समर्पित इस उपन्यास में डॉ. रामदयाल मुण्डा भी हैं और दयामनी बारला भी।”¹

“जौन गाँव में पगला साँढ़-चरेगा तौन गाँव में रोग होगा। बकरी-छेरी जैसा पट-पटांग मरेगा आदमीना दीकू लोग आदिवासी को तंग करने के लिए जंगल में पगला साँढ़ छोड़ा है। पेसुआँ अजगर भेजा है।”²

‘पगला साँढ़’ अंग्रेज सैनिकों का प्रतीक है। रोग होगा यानी अशांति फैलेगी। दीकू यानी अंग्रेज आदिवासी आंदोलन को कुचलने के लिए जंगल में ‘पगला साँढ़’ छोड़ा है’ यानी प्रशिक्षित सैनिक भेजा है।

“कम्पनी ऐसा अजगर है, जिसके कई मुँह हैं।”³ यहाँ पर अजगर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रतीक है। कहना नहीं होगा अजगर का एक मुँह होता है, लेकिन कम्पनी रूपी अजगर के यहाँ कई मुँह हैं, यानी वह अत्यधिक खूंखार और आक्रामक है।

5.6.4 कहावत, लोकोक्ति

एक ही बात जब बार-बार तथा बहुत दिनों तक दुहराई जाती है, तब हम उसे ‘कहावत’ की संज्ञा से अभिहित करने लगते हैं और कोई भी उक्ति बार-बार तभी दुहराई जाती है, जब उसमें मानव-जीवन के सामान्य तथ्यों से संबद्ध अभिव्यक्ति होती है। कहावतें जीवन की सुख-दुख, रीति-नीति, आचार-विचार, मिथ्या आडम्बर, व्यंग्य-विनोद आदि से संबद्ध चमत्कारिक सामाजिक उक्तियाँ हैं।

‘राजपाल हिन्दी शब्दकोश’ के अनुसार - “लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा का सौंदर्य निखरता है और भाव अधिक स्पष्ट होता है।”⁴

उपन्यासों में प्रयुक्त कहावत और लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं- “नाल कटते ही बूढ़ों को बुद्धि मत सिखाने लगे रे।”⁵

¹ आदिवासी साहित्य - गंगा सहाय मीणा, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015, पृ.सं. 72

² जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 50

³ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 254

⁴ राजपाल हिन्दी शब्दकोश - डॉ. हरदेव बाहरी, पृ.सं. 957

⁵ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 15

नवयुवक फागुन द्वारा वार्तालाप के बीच में हस्तक्षेप करने पर एक बुजुर्ग ने उक्त कहावत कही।

“तो तुम अनाज खाओ, खेत काहे को नापते हो।”¹

अर्थात् काम से मतलब रखो व्यर्थ की चीज पर ध्यान नहीं दो। उक्त कहावत जबरा ने अकलू को समझाते हुए कहा। “छोटा मुँह बड़ी बात नहीं किया करते।”²

अर्थात् बच्चों को ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए ... उक्त कहावत नानाजी द्वारा सन्दु के लिए कहा गया है। “घटले खेरवार और बढ़ले राजपूत।”³

उक्त कहावत खेरवार जातियों के जातिगत स्वभाव या प्रवृत्ति का परिचायक है।

“ओल को गलाना और कोल को समझाना कठिन है।”⁴ उपर्युक्त कहावत का मूल रूप नागपुरी या सादरी भाषा में इस प्रकार है ‘ओल सीझे न कोल बुझे’ जिसे रणेन्द्र ने हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

“न उधो का लेना न माधो को देना”

अर्थात् आत्मनिर्भर रहना, किसी से लेन-देन की उम्मीद नहीं करना।

“हरामी चोरी और ऊपर से सीनाजोरी।”⁵ यानी अपराध करके भी विद्रोह या लड़ने के लिए तत्पर हो जाना।

5.6.5 विचलन

उपन्यासों के वैसे कुछ प्रसंग जिसमें लेखक कहना कुछ चाहता है। और अर्थ कुछ और निकलता है या कभी-कभी संदर्भ के अर्थ एवं महत्व समयानुरूप परिवर्तित हो जाते हैं, जिन्हें विचलन कह सकते हैं। उपन्यासों में इस प्रकार के विचलनों की बहुलता है, उनमें कुछ इस प्रकार हैं -

“कल तक जननायक आंदोलन से जुड़ाव मेरा प्लस प्वाइंट हुआ करता था। अब प्रबंधन की नजर में वही सबसे नेगेटिव फैक्टर। गुलाबी ठंड के दिन में मानो लू बहने लगी हो।”⁶

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 19

² छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, पृ.सं. 19

³ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 35

⁴ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 62

⁵ पलास के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 30

⁶ गायब होता देश - रणेन्द्र, पृ.सं. 71

अखबार के मालिक पूँजीपति होते हैं, वे ही समाचारों की कसौटी तय करते हैं। प्रबंधक, संपादक और पत्रकार तो उनके कठपुतली होते हैं। इसलिए किशन सर एक समय जननायक आंदोलन से जुड़कर प्रासंगिक होते हुए भी अयोग्य घोषित कर दिये जाते हैं।

“जब आदमीन का दिन खराब होता है तो हाथी चढ़े आदमीन को भी सांप काट लेता है।”¹

मनुष्य का दिन अच्छा रहे या बुरा, हाथी पर चढ़े मनुष्य को सांप का काटना असंभव है। राकेश कुमार सिंह इस तरह के संदर्भ (विचलन) का प्रयोग ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में भी किये हैं।

“अब हम क्या जाने। यहाँ तो जान के लाले पड़े हैं। इन विद्रोहियों से तो भगवान बचाये। पेट का सवाल न होता तो इस निपट जंगल में काले पानी की सजा कौन भोगने आता।”²

उपन्यास का पात्र रामलाल घटना से परिचित होते हुए भी सुनील के पूछने पर नहीं बताता है, उल्टे आदिवासियों को दोषी बताकर उन्हें ‘विद्रोही’ कहता है और इस क्षेत्र में नौकरी करने को अपनी लाचारी बताकर पल्ला झाड़ लेता है। “चील्ह के खोता में मांस खोजता है रे”³

उक्त पंक्ति में उद्देश्य का विचलन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि चील के खोता यानी घोंसले में मांस कहाँ से मिलेगा वह तो स्वयं मांस की तलाश में आकाश में उड़ते रहता है।

5.6.6 व्यंग्यात्मकता

व्यंग्य भी भाषा का एक अंग है। व्यंग्य का प्रयोग न केवल हास्य-मनोरंजन के लिए किया जाता है, बल्कि समाज के विरूपित चेहरों पर भी तीखा प्रहार किया जाता है। “अब तो बाबाजी का वजन इतना बढ़ गया कि पृथ्वी भी उनका वजन उठाने में थरथराने लगी।”⁴

उपर्युक्त व्यंग्य ढोंगी बाबा शिवदास के पहुँच, पैरवी और रसूख व्यक्तित्व के लिए किया गया है।

“ऐश करो कंपोंडर बाबू। रूपिया से किया नहीं होता है, जंगल खरीद लो, जंगल के जानवर बाघ, सेर भी!”⁵

¹ हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 16

² सोन पहाड़ी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 101

³ जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, पृ.सं. 400

⁴ ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, पृ.सं. 61

⁵ मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 22

उपन्यास का पात्र लाला बनवारी लाल व्यंग्य स्वरूप उक्त बातें हारिया कम्पाउंडर से कहता है, क्योंकि वह उनके व समूह के भ्रष्ट चरित्र और पूर्व की घटित घटनाओं (काली करतूतों) से भली-भाँति परिचित था, इसलिए हारिया के साथ जब नई नवेली नर्स, संध्या देवी को देखता है तो आगे की संभावित घटना को उसे भाँपने में जरा भी समय नहीं लगता है।

“जंगली जानवरों को देख पहाड़ी बच्चे भागेंगे नहीं तो क्या!”¹

सुदूर जंगल के अन्दर रहने वाले आदिवासियों के लिए शहरी लोग, अजनबी एवं दीकू सरीखा हैं। इसलिए चालक बंसी शहरी लोगों को आदिवासियों की दृष्टि में व्यंग्य स्वरूप जंगली जानवर कहता है।

5.6.7 उपन्यासों का शिल्प-विधान

‘शिल्प’ का सामान्य अर्थ ‘तरीका’ अथवा ‘ढंग’ है। रचनाकार को अपनी देखी-भोगी जिंदगी से घटनाओं को ग्रहण कर आकर्षक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करने हेतु अनेक साधनों की आवश्यकता होती है जैसे- कथानक, भाषा-शैली, पात्र, संवाद, वर्णन-शैली, कहावत, बिम्ब, प्रतीक आदि। इन उपकरणों एवं साधनों को ही रचना का शिल्प तत्व कहा जाता है। लेखक के मन, समाज में देखी, सुनी, अनुभव की तमाम घटनाएँ, अनेक विचार, अनेक भाव संगृहित होते हैं। लेखक उन सभी चीजों को शब्द रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है और इसके लिए वह जिस ढंग, तरीका व ढाँचा को अपनाता है, वही उसका शिल्प-विधान है।

पांडेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ के अनुसार- “नाना प्रकार की विधियों, रीतियों और प्रक्रियाओं के समुच्चय को भी शिल्प-विधि माना गया है।”²

डॉ. प्रदीप शर्मा के अनुसार- “शिल्प-विधि या शिल्प-विधान का संबंध वस्तुतः उपन्यास के सृजन पक्ष से है। उपन्यासकार के मस्तिष्क में समाज की सच्चाइयाँ, आदमी की हालत और परिवेश के यथार्थ संग्रहित होते रहते हैं। इसका वर्णन करने के लिए उसके मन में भावों का उद्वेलन होता है। वह इन संग्रहित भावों अथवा भाव-वस्तु को कैनवास पर उतारना चाहता है और जिस ढंग से, जिस प्रक्रिया से

¹ सोन पहाड़ी - डॉ. पीटर पौल एक्का, पृ.सं. 66

² शानी का कथा साहित्य - रेयाना परवीन, पृ.सं. 226 उद्धृत

उसे उतारा गया है, वही इसका शिल्प विधान है। उपन्यासकार जो कुछ कहना चाहता है या जो उसने कहा है, वह उपन्यास की भाव-वस्तु है और जिस ढंग से जिस ढांचे में उसे प्रस्तुत किया है, वह उसका शिल्प-विधान है।¹

लेखकों द्वारा उपन्यास लिखने में अपनाया गया तरीका व ढांचा ही, उपन्यास का शिल्प है। शिल्प एक मौलिक चीज है, किन्तु इतनी मौलिक नहीं कि परंपरा और समकालीनता से उसका कोई संबंध ही न हो।

झारखंड के आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास विविध शिल्पों में लिखे गये हैं। लोकगीत, लोककथाएँ, आदिवासी, क्षेत्रीय भाषाएँ और अनेक प्रकार की कलाएँ शिल्प निर्माण में बेहद सहायक सिद्ध हुए हैं। उपन्यासों का शिल्पगत संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है- ‘पठार पर कोहरा’ और ‘जो इतिहास में नहीं है’ कथा शिल्प में तथा ‘हूल पहाड़िया’ किस्सागोई शिल्प में लिखा गया है और ‘गायब होता देश’ डायरी शिल्प में लिखा गया है। ‘समर शेष है’ जीवनी शिल्प में लिखा गया है, वहीं ‘रेड जोन’ वर्णनात्मक शैली में। ‘लौटते हुए’ फ्लैशबैक या पूर्वदीप्ति शैली में और ‘शाम की सुबह’ जीवनी के रूप में लिखा गया उपन्यास है।

डॉ. पीटर पौल एक्का के चार उपन्यास ‘सोन पहाड़ी’, ‘पलास के फूल’, ‘मौन घाटी’, ‘जंगल के गीत’ और संतोष प्रीतम का उपन्यास ‘पलास के फूल’ आंचलिक शिल्प में लिखे गये हैं। ‘वनलक्ष्मी’ और ‘वन के मन में’ कथा शिल्प में लिखा गया उपन्यास है, वहीं भालचन्द्र ओझा का ‘सांवला पानी’ आंचलिक शिल्प में। ‘धपेल’ और ‘सावधान नीचे आग है’ डायरी शैली में लिखे गये उपन्यास हैं। ‘सीता-मौसी’ जीवनी के रूप में लिखा गया घटना प्रधान उपन्यास है। ‘छैला सन्दु’ मिथकीय शिल्प में, ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ और ‘खुले गगन के लाल सितारे’ वर्णनात्मक शैली में, ‘गगन घटा घहरानी’ आंचलिक शिल्प में लिखा गया उपन्यास है। तथा ‘पाँव तले की दूब’ कथा शिल्प में और ‘बड़े सपनों की ऊँची उड़ान’ जीवनी एवं संवाद शिल्प में लिखा गया उपन्यास है।

रणेन्द्र का पहला उपन्यास के शिल्प के बारे में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं “संरचना के लिहाज से ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ ऐसा उपन्यास है जिसमें आख्यान और कविता का कथादृष्टि और काव्य

¹ हिन्दी उपन्यासों का शिल्प विधान - डॉ. प्रदीप शर्मा, पृ.सं. 20

संवेदना का दुर्लभ सामंजस्य है। ऐसा इसलिए भी है कि उपन्यासकार रणेन्द्र कवि भी है। इस उपन्यास में पाँच कविताएँ हैं वे कथा को गति देती हैं और प्रभाव को गहराई भी।¹

शिल्प की दृष्टि से बहुत अधिक प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन कुछेक राजनीतिक और नक्सलवादी आंदोलन और समस्या संबंधी उपन्यासों को छोड़कर, बाकी सभी उपन्यासों में लोक-गीत और लोक कथाओं का प्रयोग बहुलता से किया गया है जो उन्हें समृद्ध करने के साथ-साथ सरल, सहज व सार्थक बनाने में बेहद मददगार साबित हुआ है।

¹ नया ज्ञानोदय - रवीन्द्र कालिया, अंक 85, मार्च 2010, पृ.सं. 16

उपसंहार

प्राचीन काल से ही ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक दृष्टि से झारखंड एक विशिष्ट प्रदेश रहा है। इस विशिष्टता को समृद्ध करने में यहाँ के 'आदिवासी' और 'सदानों' का अमूल्य योगदान है। 'झारखंड' नामकरण की प्राचीनता व नवीनता विविध स्रोतों से स्पष्ट और असंदिग्ध है। उक्त नाम में संघर्ष की एक लम्बी परंपरा सांस्कृतिक रूप से जुड़ी हुई है, जिसका सिलसिला आज भी दृष्टिगत होता है। प्राकृतिक संसाधन और खनिज पदार्थों के लिए यह विश्व में विख्यात तो है ही, साथ ही राज्य गठन के पश्चात् राजनीतिक अस्थिरता के लिए सुर्खियाँ बटोरने में भी पीछे नहीं रहा।

झारखंड में आंदोलन और संघर्ष की परंपरा लगभग 250 वर्ष पुरानी है, जिससे वर्तमान में आदिवासी समुदाय समय-समय पर प्रेरणा व ऊर्जा ग्रहण करते रहता है। जिसका उल्लेख शोध ग्रंथ में विस्तार से किया गया है। उपन्यास निश्चित रूप से साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक सशक्त और व्यापक विधा है, जिसमें मानव जीवन के विविध पहलुओं पर विस्तार से उद्घाटित करने की अपार संभावनाएं निहित होती हैं। विषय-वस्तु को व्यापक फलक में चित्रित करना व संक्षिप्त-रूप में समेटना लेखक के दृष्टि-बोध, कल्पना के साथ यथार्थ का सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता और उसके अनुभव से वर्णन की तारतम्यता पर निर्भर करता है।

ब्रिटिश काल में अंग्रेज और भारतीय लेखकों ने अंग्रेजों के प्रशासनिक हितों को ध्यान में रखकर, आदिवासियों की भाषा और साहित्य पर लेखन कार्य प्रारंभ किया जैसे एस.सी. राय का 'द मुंडाज एंड देयर कंट्री', जगदीश त्रिगुणायत का 'बांसुरी बज रही' और 'मुंडा लोक कथाएँ', फादर हॉफमैन का 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ मुण्डारिका' और डब्ल्यू. जी. आर्चर का 'मुण्डा दुरड' आदि। क्योंकि आदिवासी जीवन-दर्शन, संस्कृति, समस्याएँ, पारंपरिक शासन व्यवस्था और भाषा को जाने-समझे बिना उनको नियंत्रित करना मुश्किल था, इसलिए आदिवासियों को समझने के लिए उनके भाषा साहित्य और संस्कृति को जानना अति आवश्यक था और जानने-समझने के लिए उनके बीच जाकर लेखन कार्य

करना बेहद आवश्यक था, यह कार्य स्वार्थवश ही हुआ पर, आज आदिवासी साहित्य-समाज के लिए मददगार साबित हुआ है।

झारखंड के आदिवासी जीवन पर लिखा गया पहला हिंदी उपन्यास रामचीज वल्लभ सिंह का 'वन विहंगिनी' (1909) और रामदीन पांडेय का 'चलता पीटारा' (1938) है, लेकिन ये दोनों उपन्यास अनुपलब्ध हैं। योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वनलक्ष्मी' है, जिसका प्रकाशन सन् 1956 ई. में हुआ। झारखंड के आदिवासियों पर अब तक लिखे गये व प्रकाशित उपन्यासों की संख्या अट्ठाईस (28) है। यहाँ के आदिवासी जीवन पर उपन्यास लिखने वाले गैर-आदिवासी लेखकों की संख्या बारह (12), आदिवासी लेखकों की संख्या मात्र चार (4) और महिला लेखिकाओं की संख्या दो (2) है। आदिवासी लेखकों की संख्या उपन्यास लेखन में उनके निराशाजनक भागीदारी को इंगित करता है।

अब तक जितने उपन्यास लिखे गये हैं वो पर्याप्त नहीं हैं, पर्याप्त इसलिए नहीं हैं, क्योंकि झारखंड में कुल बत्तीस (32) आदिवासी समुदाय (जनजातियाँ) निवास करती हैं, जिनको सरकार ने आदिवासी की श्रेणी में सूचीबद्ध किया है। उनमें सिर्फ छः (6) आदिवासियों को केन्द्रित कर उपन्यास लिखे गये हैं। छब्बीस (26) आदिवासियों पर उपन्यास लिखा जाना अभी बाकी है। विशेषकर आदिम आदिवासियों पर न केवल लिखना है, बल्कि उनके लिए विशेष योजनाएं तैयार करना, सरकारी सेवा में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए विशेष अनुसूचित, आरक्षित जिला घोषित करने की सख्त जरूरत है क्योंकि आदिम आदिवासी, प्रमुख आदिवासी समुदायों के प्रतियोगिता के समक्ष टिक नहीं पाएंगे। सिर्फ दो आदिम समुदायों (पहाड़िया, असुर) पर उपन्यास लिखा गया है छः (6) आदिम समुदाय अभी तक उपेक्षित है। कुछ आदिम आदिवासी विलुप्ति के कगार पर हैं जैसे 'खोंड' जनजाति की संख्या मात्र 221 रह गई है। जिस गति से इनकी संख्या घटते जा रही है उस लिहाज से संभवतः यह समुदाय अगले जनगणना तक विलुप्त हो सकती है।

मुख्यधारा के उपन्यासकारों द्वारा आदिवासी जीवन पर बहुत कुछ लिखा गया और लिखा जा रहा है, लेकिन यह उपन्यास लेखन-कार्य तब तक अधूरा रहेगा जब तक स्वयं आदिवासी लेखक इस लेखन में सार्थक बौद्धिक हस्तक्षेप नहीं कर लेता है। क्योंकि गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा रचे गये बहुत से

उपन्यासों में पूर्वग्रह और कुछ भ्रांतियां विद्यमान हैं। साथ-ही-साथ स्त्री और आदिवासी विरोधी वर्णन भी जगह-जगह पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। अधिकतर गैर-आदिवासी लेखकों के उपन्यास के नायक गैर-आदिवासी होते हैं, जैसे ‘गायब होता देश’ का किशन विद्रोही, ‘पठार पर कोहरा’ का संजीव सान्याल, ‘पाँव तले की दूब’ का सुदीप, ‘धार’ का अविनाश शर्मा, ‘वनलक्ष्मी’ का शिवदत्त, ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ का गैर आदिवासी मास्टर आदि। लेखक गैर-आदिवासी नायक के माध्यम से आदिवासी जीवन को देखने-समझने का प्रयास करता है। इस संदर्भ में अश्विनी कुमार पंकज लिखते हैं कि “प्राथमिक सवाल यह है कि आखिर रणेन्द्र की रचनाओं में मुख्य कथा-वाचक पात्र गैर-आदिवासी ही क्यों होता है? उन्हें आदिवासी कथा-वाचक पात्र क्यों नहीं मिलते? अगर लेखक आदिवासी की कहानी कहना चाहता है तो वह आदिवासी पात्रों के द्वारा ही कहानी की शुरूआत क्यों नहीं करता? यह इसलिए जरूरी है क्योंकि जैसे ही आप प्रस्थान बिंदु तय करते हैं आपकी मंजिल भी तय हो जाती है।”

उक्त संदर्भ को अन्य गैर-आदिवासी लेखकों के साथ भी जोड़कर देख सकते हैं, क्योंकि जब कोई फार्मूलाबद्ध लेखन प्रारंभ करता है तो सब कुछ पहले ही तय हो जाता है। उपन्यासों के विषय-वस्तु की विविधता के आधार पर, इन्हें आठ भागों में विभाजित किया गया है- (1) घटना प्रधान, (2) प्रजातीय प्रधान, (3) आंदोलन प्रधान, (4) आख्यान-प्रधान, (5) ऐतिहासिक प्रधान, (6) सामयिक प्रधान, (7) समस्या प्रधान और (8) अंचल प्रधान।

घटना प्रधान उपन्यास के अंतर्गत ‘धार’, ‘सावधान नीचे आग है’, ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ तथा ‘सीता-मौसी’ को रख सकते हैं, क्योंकि ‘धार’ उपन्यास में चित्रा कोयला क्षेत्र के सहारजोड़ी नामक स्थान में घटी कोयला खदान की घटना का, ‘सावधान नीचे आग है’ में चंदनपुर कोयला खदान घटना का तथा ‘सीता-मौसी’ में हजारीबाग के केदला खदान घटना का चित्रण किया गया है। ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ में जादूगोड़ा के यूरेनियम खनन घटना का मार्मिक विश्लेषण किया गया है।

प्रजातीय उपन्यास के अंतर्गत ‘वनलक्ष्मी’, ‘गायब होता देश’, ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ और ‘पलास के फूल’ को रख सकते हैं। ‘वनलक्ष्मी’ में ‘हो’ आदिवासी जीवन का, ‘गायब होता देश’ में मुण्डाओं की प्राचीन कथा, संस्कृति और वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है, वहीं ‘ग्लोबल

गाँव के देवता' में असुरों के अस्तित्व संकट तथा संतोष प्रीतम का 'पलास के फूल' में मुण्डा आदिवासी जीवन का चित्रण है।

आंदोलन प्रधान उपन्यास के अंतर्गत 'समर शेष है', 'खुले गगन के लाल सितारे' और 'पाँव तले की दूब' को रखा गया है। 'समर शेष है' में शिबू सोरेन के धन कटनी आंदोलन, महाजनी संस्कृति व शोषण के खिलाफ जोरदार संघर्ष, आदिवासी समाज में नशा मुक्ति आंदोलन के साथ-साथ उसके साक्षरता अभियान का जीवंत चित्रण हुआ है। 'पाँव तले की दूब' में झारखंड आंदोलन की दशा-दिशा, संभावनाएँ और सीमाओं को बखूबी रेखांकित किया गया है। 'खुले गगन के लाल सितारे' में नक्सलवादी आंदोलन की सक्रिय गतिविधियों के साथ-साथ पुलिस अत्याचार की चरम पराकाष्ठा व गरीबी उन्मूलन-आंदोलन का भी यथार्थ चित्रण है।

आख्यान-प्रधान उपन्यास की श्रेणी में 'गायब होता देश' और 'ग्लोबल गाँव के देवता' को रख सकते हैं। पहले उपन्यास में मुण्डाओं की प्राचीन कथा को मेगालिथ और लेमोरिया के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है और दूसरे उपन्यास में असुरों के स्वर्णिम अतीत और विनाश की प्राचीन कथा कही गई है।

ऐतिहासिक प्रधान उपन्यास के अंतर्गत 'जो इतिहास में नहीं है' और 'हूल पहाड़िया' को रख सकते हैं। दोनों उपन्यास आदिवासियों के ऐतिहासिक आंदोलन पर केन्द्रित हैं। पहला संताल हूल (आंदोलन) पर, दूसरा पहाड़िया आंदोलन पर। संताल हूल का नेतृत्व चार सहोदर भाइयों- सिदू-कान्हू-चाँद-भैरव ने किया, वहीं पहाड़िया आंदोलन का नेतृत्व तिलका मांझी ने किया था। वह पहाड़िया था, संताल नहीं।

सामयिक प्रधान उपन्यास के अंतर्गत 'रेड जोन' और 'गायब होता देश' को रख सकते हैं। क्योंकि दोनों उपन्यासों में आदिवासी जमीन की लूट, विस्थापन, पुनर्वास, नक्सलवाद की समस्या, 'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' 1908 का उल्लंघन, रियल स्टेट कारोबार का सबसे अधिक शिकार शहरी आदिवासी हो रहा है। तीव्र गति से झोपड़ियों का गायब होना, उसके स्थान पर अपार्टमेंट खड़ा होना उसी का जीवंत उदाहरण है। नेता, पुलिस, भू-माफिया, वकील और नौकरशाहों की

मिलीभगत से पूंजीपतियों के रियल स्टेट का यह व्यवसाय फल-फूल रहा है। इसके साथ-ही-साथ कारपोरेट मीडिया के असली चरित्र को भी उद्घाटित किया गया है।

समस्या प्रधान उपन्यास के अंतर्गत ‘धपेल’, ‘गगन घटा घहरानी’ और ‘वन के मन में’ को रखा गया है। ‘धपेल’ में पलामू क्षेत्र के अकाल, सूखा और भुखमरी की विकराल समस्या के साथ-साथ सरकारी उपेक्षा, सरकार का उदासीन रवैया और नेताओं का तमाम विकास संबंधी आश्वासन प्रत्येक पाँच वर्षों में आते-जाते रहते हैं। सब समस्याओं का समाधान वे आश्वासन से ही दूर कर देते हैं। ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में भी पलामू क्षेत्र में व्याप्त कर्ज की समस्या, उससे उत्पन्न बंधुआ मजदूरी, जमींदार और सामंतों का दबदबा, वनों की अंधाधुंध अवैध कटाई, जंगली जानवरों का शिकार, चीता पालना, ठेकेदार द्वारा वन अधिकारियों की सहायता से वन के भीतर गैर-कानूनी कार्यों को अंजाम देना, इसमें पुलिस-प्रशासन और बिकाऊ मीडिया का भी भरपूर योगदान होता है। ‘वन के मन में’ उपन्यास में ‘हो’ आदिवासियों के बीच प्रचलित भारी गोनोंग प्रथा (वधू मूल्य) की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ-ही-साथ वन के भीतर लकड़ी का कारखाना खुलने से, वृक्षों की अत्यधिक कटाई होने का भी चित्रण हुआ है।

किसी अंचल विशेष के जीवन, वेश-भूषा, भाषा, संस्कृति, खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन, पहनावा और अर्थव्यवस्था को केन्द्रित कर लिखा गया उपन्यास, आंचलिक उपन्यास कहलाता है। डॉ. पीटर पौल एक्का ने अपने चारों उपन्यासों (‘मौन घाटी’, ‘सोन पहाड़ी’, ‘पलास के फूल’ और ‘जंगल के गीत’) को आंचलिक उपन्यास कहा है। यद्यपि ये चारों उपन्यास आंचलिकता के उन आवश्यक तत्वों को पूरा नहीं करते हैं जिसके आधार पर इन्हें आंचलिक उपन्यास माना जाए। संतोष प्रीतम का ‘पलास के फूल’ उपन्यास के साथ भी यही समस्या है। इसमें अड़की प्रखंड के मुण्डा आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। यह उपन्यास भी आंचलिकता के उन आवश्यक शर्तों को पूरा नहीं करता है जो वास्तव में होना चाहिए।

आदिवासियों का आर्थिक जीवन अर्द्ध-कृषि, वनोत्पाद और मजदूरी पर आश्रित होता है। कृषि कार्य और मजदूरी का चित्रण ‘जंगल के गीत’, ‘गगन घटा घहरानी’ और ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में

हुआ है। सिंचाई का अभाव, मानसून की अनिश्चितता व अल्प वर्षा के कारण सूखा का सामना करना पड़ता है। जिससे ऋणग्रस्तता और बढ़ जाती है। ऋणग्रस्तता, अकाल और सूखा का चित्रण 'धपेल' और 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में बखूबी किया गया है। आदिवासी अपने लघु पशुपालन से सुख-दुख व आपातकाल के समय अपने पालतू पशुओं को बेचकर अपने कठिन दौर का सामना करते हैं। जिसे रणेन्द्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में आदिवासियों की 'पासबुक' कहा है। वनों की अवैध कटाई व अधिकारियों के संरक्षण और सहायता से ठेकेदारों द्वारा करवाया जाता है और दूसरी ओर वन समाप्त होने का आरोप आदिवासियों पर लगाया जाता है। जिसका चित्रण 'पाँव तले की दूब', 'मौन घाटी', 'पलाश के फूल', 'गगन घटा घहरानी' और 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में हुआ है। ऐसे गैर-कानूनी कार्यों के लाभ का हिस्सा, ऊपर से नीचे सभी स्तर के अधिकारियों को पहुंचाया जाता है। और इसके लिए आदिवासियों को वृक्ष काटने के फर्जी केस में फंसाकर उन्हें बदनाम किया जाता है।

सामाजिक जीवन के अंतर्गत ग्राम-प्रधान, पंचायत व्यवस्था, विवाह, सामुदायिकता और युवागृह आदि का विस्तार से अध्ययन कर विश्लेषित किया गया है। सामाजिक जीवन में ग्राम प्रधान की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। माल-पहाड़िया, सौरिया-पहाड़िया और संतालों के ग्राम प्रमुख को 'माँझी' एवं उराँव समुदाय में इसे 'महतो' कहा जाता है। सिंहभूम के कोल्हान क्षेत्र में तीस से पैंतीस गाँवों का मुखिया 'मानकी' कहलाता है, जबकि 'मुण्डा' कोल्हान क्षेत्र में एक गाँव का प्रमुख है, जो मानकी के प्रति उत्तरदायी होता है। मुण्डा, उराँव और खड़िया समुदाय के पुरोहित (धार्मिक पुजारी) को 'पहान' कहा जाता है।

उराँव और मुण्डा आदिवासियों में 'पाढ़ा' नामक पारंपरिक ग्राम व्यवस्था है। पाँच से तीस गाँवों को मिलाकर एक 'पाढ़ा' बनता है, हर पाढ़े के भू-भाग की सीमा निश्चित होती है। हर पाढ़े के मुखिया को 'पाढ़ा राजा' कहा जाता है। यह व्यवस्था राँची जिला के बेड़ो क्षेत्र में आज भी कायम है, लेकिन उपन्यासों में इसका चित्रण कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाँ, पंचायत के कार्यों का चित्रण अवश्य देखने को मिलता है। 'जंगल के गीत' उपन्यास में गंदूरा-परबती के प्रेम प्रसंग को लेकर एक पंचायत का दृश्य देखने को मिलता है। 'समर शेष है' उपन्यास में भी इसी तरह का एक पंचायत का प्रसंग देखने को

मिलता है। ‘गगन घटा घहरानी’ में एक भिन्न किस्म का पंचायत देखने को मिलता है, जिसमें जागो नामक एक व्यक्ति सेवकिया है। यानी जमींदार के यहां बंधुआ मजदूर है। उसके मार डाले जाने की अफवाह को सुनकर, उसके गाँव वाले उसे जमींदार जगधारी राय के चंगुल से मुक्त करने के लिए पंचायत करते हैं। ‘हूल पहाड़िया’ उपन्यास में पहाड़िया आदिवासियों द्वारा अत्यधिक अनाज के विक्रय से चिंतित होकर पहाड़िया मांझी और सरदारों के बीच, अंग्रेज और व्यापारियों के विरुद्ध अनाज विक्रय के रोकथाम के लिए पंचायत होती है। यह पंचायत पहाड़ियों के हित में, उनके भावी संकट को ध्यान में रखकर की जाती है। यही नहीं, आज आदिवासियों के पंचायत व्यवस्था में गैर-आदिवासियों के हस्तक्षेप से पारंपरिक न्याय व्यवस्था किस तरह प्रभावित होती है? जिसका शिकार रंगेनी होती है, उसका चित्रण ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में बखूबी किया गया है।

झारखंड के प्रायः सभी आदिवासी समुदायों में अंतर्विवाही (सजातीय) व विगोत्रीय (अगोत्रीय) विवाह का प्रचलन है कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर। वधू-मूल्य देने की परंपरा प्रत्येक आदिवासी समुदाय में अनिवार्य है जिसे भाषा-बोली की भिन्नता के कारण अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। जैसे ‘मुण्डा’ और ‘हो’ आदिवासी इसे ‘गोनोंग’, खड़िया समुदाय के लोग इसे ‘गिनिड तांग’ कहते हैं। ‘हो’ आदिवासियों में यह गोनोंग परंपरा अत्यधिक तय किए जाने की वजह से समस्या का रूप धारण कर चुका है। जिसका चित्रण ‘वन के मन में’ और ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में बखूबी किया गया है।

सामुदायिकता आदिवासी समाज का अनिवार्य और अभिन्न अंग है। उनके अधिकतर छोटे-बड़े क्रियाकलाप समूह में संपन्न किये जाते हैं। जैसे- शिकार खेलना, कृषि-कार्य, पंचा, मदैइत, नृत्य-गीत और दुश्मनों का सामना करना। अर्थात् हर्ष हो या विषाद सब संस्कार समूह में ही संपन्न होता है। जिसका चित्रण ‘धार’, ‘पाँव तले की दूब’, ‘मौन घाटी’, ‘सोन पहाड़ी’ और ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यासों में संदर्भानुसार किया गया है।

युवागृह को अधिकतर विद्वान व समाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक-जीवन के अंतर्गत रखा है, लेकिन मैंने इसे सामाजिक जीवन के अंतर्गत रखकर, पारंपरिक सामाजिक संस्था के रूप में विश्लेषित करने का

प्रयास किया है। 'घुमकुड़िया' या 'युवागृह' आदिवासियों का पारंपरिक शैक्षणिक संस्थान है। जहाँ पर सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और मनोरंजन संबंधी क्रियाकलाप संपन्न किये जाते हैं। युवक और युवती दोनों के लिए अलग-अलग युवागृह की व्यवस्था होती है। भाषा-बोली की भिन्नता के कारण इसे आदिवासी समुदायों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। मुण्डा इसे 'गितिओरा', उराँव लोग 'जोंकरपा' के नाम से पुकारते हैं। 'युवागृह' को आज समयानुरूप आधुनिक ढंग से विकसित करने की सख्त जरूरत है, क्योंकि शिक्षित युवक-युवती अपने योग्यता के आधार पर विभिन्न विषयों की शिक्षा, गाँव के वैसे युवक-युवतियों को दे सकते हैं, जिन्हें किसी कारणवश स्कूल जाने का अवसर नहीं मिला या बीच में स्कूल छोड़ दिये।

आदिवासी-साहित्य का मूल स्रोत उनके लोक-गीत, लोक-कला, लोक-नृत्य और लोक कथाओं में समाहित है। जिसे आधुनिक युग में 'लोक-साहित्य' के नाम से जाना जाता है। दरअसल लोक ही किसी देश या राज्य के साहित्य का प्रस्थान बिंदु होता है। उसी में आदिवासियों का इतिहास, जातीय गुण-धर्म, सुख-दुःख, संघर्ष के प्रकार, सामूहिक चेतना का विकास, विद्रोही भावना, आकांक्षाएं, आशा-निराशा, पर्व-त्यौहार, संस्कार और मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति उनके विभिन्न कला रूपों में दृष्टिगोचर होती है। कहानी कहने और गीत गाने की परंपरा उतनी ही पुरानी है, जितना मनुष्य की वाणी। लोक-कथा और लोक-गीतों में आदिवासी जीवन के अनेक पक्ष, चित्र रूप में उभरकर सामने आते हैं। लोक-कथा व लोक-गीतों के संदर्भ जिन उपन्यासों में बहुलता से आये हैं, वे इस प्रकार हैं- 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', 'छैला सन्दु', 'जो इतिहास में नहीं है', 'ग्लोबल गाँव के देवता' और 'पठार पर कोहरा' आदि।

आदिवासी जीवन की भाँति ही, आदिवासी लोक-नृत्यों में विविधता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अलग-अलग मौसम, पर्व-त्यौहार और अन्य अवसरों पर अलग-अलग नृत्य संपन्न किए जाते हैं। जैसे- 'डमकच', 'फगुवा', 'लुझरी', 'पहिल सांझ', 'अधरतिया', 'पड़का', 'भिनसरिया', 'झूमझ', 'जदुर जापी', 'बुढ़ी-करम', 'फागु' और 'छऊ नृत्य' आदि। उक्त लोक-नृत्यों को समूह में संपन्न किया जाता है, एकल नहीं। सब नृत्यों में 'छऊ नृत्य' और 'पड़का' भिन्न तरह का लोक नृत्य है। 'छऊ' नृत्य ओजपूर्ण नृत्य-शैली है, जबकि 'पड़का' नृत्य युद्ध-संरचना जैसी होती है। 'छऊ' नृत्य में पौराणिक और

ऐतिहासिक कथाओं के मंचन के लिए कलाकार विभिन्न प्रकार के रंगों वाले मुखौटों का इस्तेमाल करते हैं। इसके मंचन के लिए वाद्य-यंत्र (ढोलक, नगाड़ा) के साथ लय-ताल में नृत्य या मंचन करने के लिए व्यक्ति को अभ्यास की सख्त जरूरत होती है। जबकि लोक-नृत्य में किसी को कोई खास अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है। लोक-नृत्य में शामिल होने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक कलाकार होता है। जबकि 'छऊ' नृत्य में ऐसा नहीं है, जिससे उसके लोकनृत्य होने के प्रश्न पर हमें बार-बार सोचने को विवश करता है।

झारखंड में एक कहावत प्रचलित है 'बोलना ही गीत है, चलना ही नृत्य' उक्त कहावत आदिवासी समुदाय में गीत और नृत्य के महत्व को प्रतिपादित करता है। 'संस्कृति पुरुष' डॉ. रामदयाल मुण्डा अक्सर कहा करते थे- 'नाची से बाची' यानी 'जो नृत्य करेगा वही बचा रहेगा'। कहना नहीं होगा संस्कृति, परंपरा से कटकर आदिवासी अपनी अस्तित्व-अस्मिता की रक्षा करना मुश्किल है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

I. आधार ग्रंथ

1. खुले गगन के लाल सितारे - मधु कांकरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. पहली आवृत्ति 2007
2. गायब होता देश - रणेन्द्र, प्रका. पेंगुइन बुक्स इंडिया, प्र.सं. 2014
3. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, कतार प्रकाशन, धनबाद, प्र.सं. 1991
4. ग्लोबल गाँव के देवता - रणेन्द्र, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
5. छैला सन्दु - मंगल सिंह मुण्डा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004
6. जंगल के गीत - डॉ. पीटर पौल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, सं. 2013
7. जो इतिहास में नहीं है - राकेश कुमार सिंह, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र.सं. 2005
8. धपेल - श्याम बिहारी 'श्यामल', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1998
9. धार - संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, द्वि.सं. 1997
10. पाँव तले की दूब - संजीव, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, द्वि.सं. 2009
11. पलास के फूल - डॉ. पीटर पौल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, सं. 2012
12. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वि.सं. 2005
13. पलास के फूल - संतोष प्रीतम, प्रणेता प्रकाशन, राँची, प्र.सं. 1985
14. बड़े सपनों की उँची उड़ान - अजय कन्दुलना, जीविका प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2014
15. मिशन झारखंड - विनोद कुमार, सुभद्रा प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2006
16. मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ - महुआ माजी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2012
17. मौन घाटी - डॉ. पीटर पौल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, सं. 2013
18. रेड जोन - विनोद कुमार, प्रका. अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्र.सं. 2015
19. लौटते हुए - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', सत्य भारती प्रकाशन, राँची, प्र.सं. 2005

20. वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिंहा, प्रका. आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1962
21. वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिंहा, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1956
22. शाम की सुबह - वाल्टर भेंगरा 'तरूण', सत्य भारती प्रकाशन, राँची, प्र.सं. 1981
23. सावधान नीचे आग है - संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. दूसरी आवृत्ति 2000
24. सांवला पानी - भालचन्द्र ओझा, अभिज्ञान प्रकाशन, राँची, प्र.सं. 1967
25. सोन पहाड़ी - डॉ. पीटर पौल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, सं. 2012
26. सीता-मौसी - रमणिका गुप्ता, ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2010
27. समर शेष है - विनोद कुमार, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्र.सं. 1999
28. हूल पहाड़िया - राकेश कुमार सिंह, प्रका. सामयिक बुक्स, दिल्ली, प्र.सं. 2012

II. संदर्भ ग्रंथ

1. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल - डॉ. रामदयाल मुण्डा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, द्वि.सं. 2004
2. आदिवासी कौन - संपा. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
3. आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन - वंदना टेटे, प्रका. प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्र.सं. 2013
4. आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य - संपा. मंडल - उषा कीर्ति राणावत, डॉ. सतीश पाण्डेय, डॉ. शीतला प्रसाद दुबे, अतुल प्रकाशन, कानपुर, सं. 2006
5. आदिवासी लोक (खंड-2), संपा. रमणिका गुप्ता, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2006
6. आदिवासी लोक गीतों की संस्कृति - डॉ. राम रतन प्रसाद, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2014
7. आदिवासियों के बीच - प्रो. श्रीचन्द्र जैन, प्रका. किताबघर, दिल्ली, प्र.सं. 1980
8. आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति - केदार प्रसाद मीणा, प्रका. अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्र.सं. 2014

9. आदिवासी विकास से विस्थापन - सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं. प्रथम आवृत्ति 2010
10. इतिहास के मोड़ पर झारखंड - विद्याभूषण, क्राउन पब्लिकेशन्स, राँची, प्र.सं. 2012
11. उपन्यास शिल्प-विधान - प्रो. गरिमा श्रीवास्तव, दूरस्थ शिक्षा केन्द्र एम.ए. उत्तरार्द्ध, पाठ्यक्रम, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2003
12. उनकी जिजीविषा उनका संघर्ष - सं. हेमलता महिश्वर, समीक्षा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. 2006
13. क्रॉसफायर - ग्लैडसन डुंगडुंग, संजय कृष्ण, प्रका. आदिवाणी, कलकत्ता, प्र.सं. 2014
14. खड़िया जीवन और परंपराएँ - फा. जोवाकिम डुंगडुंग, प्रका. राँची येसु समाज, सं. 1999
15. छोटानागपुर का इतिहास : कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ - डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, प्रका. नागपुरी संस्थान, राँची, सं. 2009
16. जनजातीय समाजशास्त्र - डॉ. उमेश कुमार वर्मा, जानकी प्रकाशन, पटना, प्र.सं. 2008
17. जनजातीय समाजशास्त्र - डॉ. श्रीनाथ शर्मा, प्रका. मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पंचम सं. 2007
18. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, तृतीय सं. 1992
19. जनजातीय महिलाएं - रेशमा खलखो, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली, प्र.सं. 2007
20. झारखंड की समरगाथा - शैलेन्द्र महतो, प्रका. निधि बुक्स, दिल्ली, प्र.सं. 2011
21. झारखंड के इतिहास की कुछ जरूरी बातें - डॉ. विसेश्वर प्रसाद केशरी, प्रका. नागपुरी संस्थान, राँची, प्र.सं. 2008
22. झारखंड - हेमंत, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 2008
23. झारखंड में अस्मिता संघर्ष - सुनील मिंज, ग्लैडसन डुंगडुंग, प्रका. झारखंड ह्यूमन राइट्स मूवमेंट, राँची, प्र.सं. 2013

24. झारखंड इन्साइक्लोपीडिया (खंड-1) - सं. रणेन्द्र, सुधीर पाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
25. झारखंड : भूमि और भूमिपुत्र - डॉ. बिमला चरण शर्मा, प्रका. झारखंड झरोखा, राँची, प्र.सं. 2011
26. झारखंड का इतिहास - डॉ. सिकरादास तिकी, प्रका. प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्र.सं. 2015
27. झारखंड विरासत - फादर अलबिनस मिंज, प्रका. जोशी प्रिंटर्स एंड बाइंडर्स, राँची, प्र.सं. 1994
28. झारखंड की जादुई जमीन का अँधेरा - उर्मिलेश, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, द्वितीय सं. 2000
29. झारखंड : अस्मिता के आयाम - सं. हरिवंश, फैसल अनुराग, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
30. झारखंड के आदिवासियों के बीच - वीर भारत तलवार, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
31. झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति - डॉ. बी. वीरोत्तम, प्रका. बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, चौथा सं. 2006
32. झारखंड आंदोलन का दस्तावेज - अनुज कुमार सिन्हा, प्रका. प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013
33. झारखंड इन्साइक्लोपीडिया (खंड-3) - सं. सुधीर पाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008
34. पगहा जोरी-जोरी रे घाटो - रोज केरकेट्टा, देशज प्रकाशन, बिहार-झारखंड, प्र.सं. 2009
35. बिरसा मुण्डा का आंदोलन - डॉ. कुमार सुरेश सिंह, क्लासिकल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्र.सं. 1976

36. भारत की जनजातीय संस्कृति - विजय शंकर उपाध्याय, विजय प्रकाश शर्मा, प्रका. मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, सं. सप्तम आवृत्ति 2002
37. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, दिपशीखा बरनवाला, पीयूष पब्लिकेशन्स, प्र.सं. 2002
38. भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक, प्रकृति-पूजा और पर्व-त्यौहार - डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा, परिधि प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि.सं. 2011
39. मिथक एक अनुशीलन - मालती सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1988
40. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 1988
41. लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, प्रका. राजस्थानी ग्रंथ सागर, जोधपुर, द्वितीय सं. 2006
42. लोकायत और जनजातीय संस्कृति - रामप्रवेश सिंह, प्रका. राहुल पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, प्र.सं. 2011
43. शानी का कथा साहित्य - रेयाना परवीन, एस.एस. पब्लिकेशन, दिल्ली, सं. 2009
44. संताल हूल : आदिवासी प्रतिरोध संस्कृति - सं. हरिवंश, फैसल अनुराग, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
45. हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, अष्टम सं. 2012
46. हूल-गुलानों के वीर शहीद - रूपक, प्रका. जनमाध्यम, रांची, सं. 2009
47. हूल-गुलानों का राजनीतिक दर्शन - सं. फैसल अनुराग, प्रवीण कुमार, प्रका. जनमाध्यम, रांची, सं. 2008-2009
48. हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना - बीना श्रीवास्तव, प्रका. मैकमिलन इंडिया लि., नई दिल्ली, प्र.सं. 1981
49. हिन्दी उपन्यासों का शिल्प-विधान - डॉ. प्रदीप शर्मा, अभय प्रकाशन, कानपुर, सं. 1990

50. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
51. हिन्दी उपन्यास कला - डॉ. प्रतापनारायण टंडन, प्रका. हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्र.सं. 1965

III. सहायक ग्रंथ

1. आदिवासी विद्रोह परंपरा और साहित्यिक अभिव्यक्ति की समस्याएं - केदार प्रसाद मीणा, प्रका. अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्र.सं. 2015
2. परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, सं. चौथी आवृत्ति 2008
3. मानव और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, चौथा सं. 2010
4. विस्मृत आदिवासी इतिहास की खोज - अशोक कुमार सेन, प्रका. जनमाध्यम, राँची, सं. 2009-2010

IV. पत्र-पत्रिकाएँ

1. अरावली उद्धोष - डॉ. जनक सिंह मीणा, जयपुर, जनवरी 2012, अप्रैल 2013, जुलाई 2013
2. आजकल - नरेन्द्र सिन्हा, दिल्ली, जुलाई 1987
3. आदिवासी साहित्य - गंगा सहाय मीणा, दिल्ली, जून-अगस्त 2013, जनवरी-मार्च 2015
4. आदिवासी - स्नेहलता एक्का, राँची, जून 2015
5. इस्पातिका - अविनाश कुमार सिंह, जमशेदपुर, जनवरी-जून 2012
6. झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा - वंदना टेटे, राँची, दिसम्बर 2006, जून-अगस्त 2008, सितम्बर 09-फरवरी 2010, जून-अगस्त 2013, जून-अगस्त 2015
7. दैनिक जागरण - अश्विनी सिंह, राँची, 2 जुलाई 2012
8. दलित अस्मिता - विमल थोरात, दिल्ली, जनवरी-जुलाई 2014

9. नया ज्ञानोदय - रवीन्द्र कालिया, दिल्ली, अक्टूबर 2009, नवम्बर 2009, मार्च 2010
10. पहल - ज्ञानरंजन, राजकुमार केशवानी, जबलपुर, जून-जुलाई 2015
11. बहुवचन - अशोक मिश्र, वर्धा, अप्रैल-जून-जुलाई-सितम्बर 2012
12. युद्धरत आम आदमी - रमणिका गुप्ता, दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर, 2009
13. वागर्थ - एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी, कलकत्ता, अप्रैल 2014
14. शालपत्र - मनमोहन पाठक, वीर भारत तलवार, धनबाद, प्रवेशांक, 1977
15. सबलोग - किशन कालजयी, दिल्ली, जनवरी 2011
16. हंस - राजेन्द्र यादव, दिल्ली, जून 1997

V. शब्दकोश

1. आधुनिक हिन्दी शब्द-कोश - डॉ. गोविन्द चातक, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1986
2. नालंदा विशाल शब्दसागर - सं. श्री नवल जी, प्रका. अदीश बुक डिपो, नई दिल्ली, सं. 1978
3. भारतीय मिथक कोश - डॉ. उषा पुरी विद्या-वाचस्पति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 1986
4. राजपाल हिंदी शब्दकोश - डॉ. हरदेव बाहरी, प्रका. राजपाल एंड सन्ज, नई दिल्ली, सं. 2008
5. हिन्दी पर्यायवाची कोश - डॉ. भोलानाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1999

VI. वेबसाइट सामग्री

1. manavadhikar.co.in/humanrights.phd Dated 19.12.15
2. [Bharat discovery.org/India/](http://Bharat.discovery.org/India/) विश्व मानवाधिकार दिवस दिनांक 15.12.15